विश्वभारती पत्रिका

अनुक्रमणिका

खंड ३

सं० २००० — सं० २००१

सन् १९४४ ई०

—संपादक—

हजारीप्रसाद द्विवेदी

लेखकानुक्रमणिका

खंड ३, सं० २०००—२००१ वि० सन् १९४४ ई०

विषयानुक्रमणिका

खंड ३, अंक ४ की विषय-सूची

संथाल-बालक [शिल्पी—आचार्य नन्दलाल बसु

विश्वभारतीय पत्रिका

माघ-चैत्र २०००　　खण्ड ३ अंक १　　जनवरी-मार्च १९४४

ओरे नवीन, ओ अपरिपक्व

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

(मूल से भाषान्तरित)

ओरे नवीन, ओ अपरिपक्व, तू आ रे,
ओ हरितकान्ति, ओ बोधहीन, (ओ न्यारे)
　　तू मार अधमरों को है आज बचा रे !

ये रक्तज्योति के मद से जो मतवाले
जो चाहें कह लें आज तुझे (गम खा ले),
तू सकल तर्क को करके तुच्छ उठा ले
निज पुच्छ उच्च में और सदर्प नचा ले—
　　आ रे दुरन्त, आ ओ निर्जरस निराले !

वह देख हिल रहा पिंजड़ा मंद हवा में ;
उस घर में या उस घर के दक्षिण-वामे
कुछ और नहीं है हिलता या डुलता रे !

वह जो प्रवीण है जो अत्यन्त पका है,
उसके डैने में लोचन-कान ढँका है,
यों झीम रहा है मानों चित्र-अँका है
उस अंधकार के बद्धद्वार पंजर में।
जीवन्त प्राणमय, आ इस गृहजर्जर में

बाहर की ओर न कोई देख रहा है
कैसा प्रचण्ड जलस्रोत बढ़ा आता है
जल-ज्वार मध्य लहरें गरजें फुफकारें।

चलना न चाहतीं मिट्टी की संतानें
पग रख मिट्टी पर (उसे अशुचि ये मानें) !
अपनी अपनी उनकी हैं बाँस-मचानें—
जिन पर अडोल आसन बाँधे वे सुस्थिर।
आ रे अशान्त, आ अपरिपक्व, आ अस्थिर !

सब तुझे रोकना चाहेंगे भर सक वे
सोचेंगे देख प्रकाश नया औचक वे—
यह कैसा अद्भुत काण्ड आज दिखता रे !

पाकर तेरा संघात खीझ जाएंगे,
शयनीय छोड़ निज दौड़ दौड़ आएंगे ;
इस अवसर पर निद्रा से जग जाएंगे—
फिर गुत्थमगुत्थी सत्य और मिथ्या की !
आ रे प्रचण्ड, आ अपरिपक्व, एकाकी !

पूजा-वेदी वह श्रृंखल देवों की है ।
वह नित्य-सत्य होकर क्या रहने की है ?
तू द्वार तोड़ आ रे पागल मतवारे ।

झंझा-समान विजयध्वज को फहराता,
आकाश ठहाके से विदारता-ढाता,
भोला बाबा की झोली झाड़ लुटाता
तू चुन-चुनकर ले आ प्रमाद, ला गलती ।
आ रे प्रमत्त, ओ अपरिपक्व, ओ झक्की ।

इस बंधे मार्ग की अंतिम सीमा पर तू
इनको घसीट निस्सीम ओर दे कर तू,
बन जाँय मार्ग अनजान देश के न्यारे ।

बाधा हैं, हैं आघात जानता हूँ मैं
पर यही जानकर प्राण वक्ष में झूमें ।

पुस्तक-पट्ठओं से विधि-याचन की धूमें
हैं मची हुई, तू इन्हें तोड़ ऐ सच्चे,
आ रे प्रमुक्त आ परिपक्व, आ कच्चे ।

तू है चिर-यौवनशाली चिरजीवी है,
दे झाड़ सड़न यह जो कि जीर्णता की है,
फिर दे बखेर निःशेष प्राण की धारें ।

तेरे हरियाली-मद से मस्त धरा है,
तेरी विद्युत से झंझा-मेघ भरा है ।
जो बकुलमाल तू पहने सातलरा है—
पहनाता तू उसको वसन्त के गल में ।
आ मृत्युहीन, ओ अपरिपक्व आ पल में !

—अनु०, व्यो० शा०

घोड़ा

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

सृष्टि का काम प्रायः समाप्त होने पर जब छुट्टी का घंटा बजने आया, तभी ब्रह्मा के मस्तिष्क में एक भावोदय हुआ।

भाण्डारी को बुलाकर बोले, "अजी भाण्डारी, मेरे कारखाने में थोड़े-से पंचभूत लाकर तो जुटाओ ; एक और नूतन प्राणी की सृष्टि करूंगा।"

भाण्डारी ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, "पितामह, आपने जिस समय परम उत्साहपूर्वक हाथी गढ़े, तिमि गढ़े, अजगर-सर्प गढ़े, सिंह-व्याघ्र गढ़े, उस समय खर्च के हिसाब की ओर तनिक भी ख्याल नहीं किया। जो कुछ भारी और कड़ी जाति के भूत हमारे भाण्डार में थे, वे सब प्रायः चुकने आए। क्षिति, अप्, तेज सभी तले आ लगे हैं। बाक़ी बचे हुओं में रहे हैं मरुत्-व्योम,—सो चाहे जितने ले लीजिए।"

चतुर्मुख कुछ देर अपनी चार जोड़ी मूछों पर ताव देते हुए सोचकर बोले, "अच्छी बात है, भाण्डार में जो है वही ले आओ, देखा जाय।"

इस बार प्राणी की रचना करते समय ब्रह्मा ने क्षिति-अप्-तेज को खूब संभालकर खर्च किया। उसे न तो दिए सींग और न दिए नख, और जो दांत दिए सो उनसे चबाने का काम तो हो सकता था, काटने का नहीं। तेज के भाण्ड से अवश्य कुछ खर्च किया, सो इससे यह प्राणी युद्धक्षेत्र के किसी-किसी काम के उपयुक्त बन पड़ा, किंतु उसे खुद लड़ाई का शौक़ नहीं रहा। यही प्राणी है घोड़ा। यह अंडे नहीं देता तब भी बाज़ार में इसके अंडे को लेकर शोर है, अतएव इसे द्विज भी कहा जा सकता है।*

सो जो हो, सृष्टिकर्त्ता ने इसकी गढ़न में मरुत् और व्योम जैसे ठूंस-ठूंसकर भर दिए। नतीजा यह हुआ कि इसका मन लगभग सोलहों आने मुक्ति की तरफ़ दौड़ पड़ा। यह हवा से भी आगे भागना चाहता है, असीम आकाश को पार कर जाने की बाज़ी लगा बैठता है। बाक़ी सभी प्राणी कारण उपस्थित होने पर दौड़ते हैं, किंतु यह दौड़ता है बिना कारण ;—मानों उसे स्वयं अपने ही से दूर भागने का कोई शौक़ हो। कुछ छीनना नहीं चाहता, मीड़ना नहीं

* चलती बंगला में अलीक वस्तु के लिये 'घोड़े का अंडा'-कथन प्रचलित है।

चाहता केवल दौड़ना चाहता है। दौड़ते-दौड़ते चूर हो जाए, ढेर हो जाए, सुन्न हो जाए और इसके बाद उसका कुछ भी शेष न रहे—यही उसकी मंशा है। ज्ञानीजन कहते हैं कि प्रकृति में जब मरुत्-व्योम क्षिति-अप-तेज को कहीं पीछे छोड़कर उमड़ पड़ते हैं तब ऐसा ही घटित होता है।

ब्रह्मा तो खुश हो गए। रहने के लिये उन्होंने अन्य जंतुओं में से किसीको दिया वन तो किसीको गुहा, किन्तु इसकी दौड़ देखना उन्हें प्रिय था इसलिये इसे उन्होंने दिया खुला मैदान।

इस मैदान के छोर पर रहता था मनुष्य। छीना-झपटी करके वह जो कुछ जमा करता था वह सब खासा बोझा बन बैठता था। इसीसे मैदान में जब उसने घोड़े को दौड़ते देखा तो मन-ही-मन सोचने लगा, काश किसी छल से इसे मैं बांध सकता तो हाट-बाज़ार करने में बड़ी सुविधा होती।

फंदा लगाकर एक दिन पकड़ भी लिया उसने घोड़े को। उसकी पीठ पर लादी ज़ीन और मुंह में पहना दी कांटेदार लगाम। गर्दन पर चलाया चाबुक और कंधों पर चुभाई जूते की कील। और इसीके साथ था.........

मैदान में छुट्टा रखने से वह हाथ से बाहर हो जाएगा—इसलिये घोड़े के इर्द-गिर्द उसने चहारदीवारी उठा दी। बाघ के था जंगल सो जंगल ही रहा; सिंह की थी गुहा सो किसीने छीनी नहीं। किंतु घोड़े के था खुला मैदान सो वह अंत में अस्तबल बन बैठा। इस प्राणी को मरुत्-व्योम ने मुक्ति की ओर अत्यंत उत्तेजित किया सही, किंतु बंधन से बचा नहीं सके।

जब असह्य होने लगा तब घोड़ा अपनी दीवारों पर लत्ती चलाने लगा। उसके पांव जितने ज़ख्मी हुए दीवार उतनी नहीं हुई; तब भी चूना-सुरख़ी उखड़ने से दीवार की खूबसूरती नष्ट होने लगी।

इससे मनुष्य को सख्त गुस्सा आया। वह बोला, "इसीको कहते हैं एहसानफरामोशी। दानापानी देता हूं, मोटी तनख्वाह पर एक साईस जुटाकर आठों पहर इनकी खुशामद में खड़ाकर रखा है, तब भी इनके मिज़ाज नहीं मिलते।"

सो मिज़ाज मिलाने के लिये उसने उठते-बैठते इस तरह डंडे चलाए कि घोड़े का लातें चलाना फिर नहीं चल सका। तब मनुष्य ने अपने पुरा-पड़ौसियों को घोषित करके कहा, "मेरे इस वाहन के समान भक्त वाहन और नहीं है।"

वे लोग तारीफ़ का सुर मिलाकर बोले "वही तो! एकदम पानी की तरह ठंडा! ठीक तुम्हारे धर्म के समान ही ठंडा है!"

एक तो शुरू से ही उसके उपयुक्त दांत नहीं, नख नहीं, सींग नहीं, उस पर दीवार पर और वैसे ही शून्य में लत्ती फटकारना भी बंद हो गया। इसलिये ठिले हुए मन को कुछ खाली करने के लिये वह आकाश की ओर मुंह उठाकर हिनहिनाने लगा। इससे मनुष्य की नींद टूट जाती है और पुरा-पड़ौसी भी सोचते हैं कि यह आवाज़ ठीक भक्ति-गद्गद सुर में तो नहीं सुनाई पड़ती! सो मुंह बंद करने के लिये तरह-तरह के यंत्र निकले। किंतु दम बंद किए बिना तो मुख सर्वथा बंद होता नहीं। इसीसे मुमूर्ष, की अंतःश्वास के समान दबी हुई ध्वनि बीच-बीच में निकलती रहती है।

एक दिन वह आवाज़ पहुँची ब्रह्मा के कानों में। उन्होंने ध्यान भंग करके एक बार पृथिवी के खुले मैदान की ओर निगाह डाली। वहां घोड़े का नाम-निशान नहीं।

पितामह ने यम को बुलाकर कहा, "अवश्य ही यह तुम्हारी कीर्ति है! तुम्हींने मेरा घोड़ा लिया है!"

यम बोले, "सृष्टिकर्त्ता, सदा मुझपर ही तुम्हारा सब संदेह हुआ करता है। टुक मनुष्य के मुहल्ले की ओर तो नज़र डालो।"

ब्रह्मा ने देखा : अत्यंत सकरी जगह है, चारों तरफ़ सफ़ील खड़ी है, उसीके बीच खड़ा हुआ घोड़ा क्षीणस्वर में हिनहिना रहा है।

उनका हृदय विचलित हुआ। मनुष्य से बोले, "मेरे इस जीव को यदि तुम मुक्ति नहीं दोगे तो मैं बाघ के समान उसके नख और दांत बना दूंगा, फिर वह तुम्हारे किसी काम नहीं आएगा।"

मनुष्य बोला, "छिः छिः यह तो हिंस्रता को ही प्रश्रय देना होगा। किंतु चाहे जो कहो, पितामह, तुम्हारा यह प्राणी मुक्ति के योग्य ही नहीं। इसीके हित के लिये कितना खर्च उठाकर मैंने अस्तबल बनवा दिया है। खासा अस्तबल है!"

ब्रह्मा ने ज़िद करके कहा, "उसे छोड़ना ही पड़ेगा।"

मनुष्य बोला, "अच्छी बात है, छोड़े देता हूं। किंतु सात दिन की मियाद है, इसके बाद भी यदि तुम कहो कि तुम्हारे मैदान की अपेक्षा मेरा अस्तबल उसके लिये ठीक नहीं है तो मैं ज़मीन पर नाक घिसने को राज़ी हूं।

मनुष्य ने किया क्या कि घोड़े को तो मैदान में छोड़ दिया, किंतु उसके सामने के दोनों पावों को कसकर रस्सी से बांध दिया। तब घोड़ा इस तरह चलने लगा कि मेंढक की चाल भी उससे सुंदर दिखे।

ब्रह्मा निवास करते हैं सुदूर स्वर्गलोक में; वे घोड़े की चाल तो देख पाते हैं किंतु

उसके घुटनों का बंधन नहीं देख पाते। वे अपनी ही कीर्ति की इस भांड़ जैसी चाल-ढाल को देखकर लज्जा से लाल हो उठे। बोले, "भूल ही तो हो गई।"

मनुष्य हाथ जोड़कर बोला, "अब इसे लेकर करूं क्या! बल्कि आपके ब्रह्मलोक में ही यदि कोई मैदान हो तो वहीं इसे रवाना कर दूं।"

ब्रह्मा व्याकुल होकर बोले, "जाओ, जाओ, लौटा ले जाओ उसे अपने अस्तबल में।"

मनुष्य बोला, "आदिदेव, मनुष्य के लिये तो यह एक विषम बोझा है।"

ब्रह्मा बोले, "यह तो मनुष्य का मनुष्यत्व है।"

[अनु०—मो० वाजपेयी

प्राचीन भारत के रईस

हजारीप्रसाद द्विवेदी

कलात्मक विलास किसी जाति के भाग्य में सदा-सर्वदा नहीं जुटता। उसके लिये ऐश्वर्य चाहिए, समृद्धि चाहिए, त्याग और भोग का सामर्थ्य चाहिए और सबसे बढ़कर ऐसा पौरुष चाहिए जो सौन्दर्य और सुकुमारता की रक्षा कर सके। परन्तु इतना ही काफ़ी नहीं है। उस जाति में जीवन के प्रति ऐसी एक दृष्टि सुप्रतिष्ठित होनी चाहिए जिससे वह पशु-सुलभ इन्द्रिय वृत्ति को और बाह्यार्थों को ही समस्त सुखों का कारण न समझने में प्रवीण हो चुकी हो, उस जाति की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपरा बड़ी और उदार होनी चाहिए और उसमें एक ऐसा कौलीन्य-गर्व होना चाहिए जो आत्ममर्यादा को समस्त दुनियावी सुख-सुविधाओं से श्रेष्ठ समझता हो और जीवन के किसी भी क्षेत्र में असुन्दर को बर्दाश्त न कर सकता हो। जो जाति सुंदर की रक्षा और सम्मान करना नहीं जानती वह विलासी भले ही हो ले पर कलात्मक विलास उसके भाग्य में नहीं बदा होता। भारतवर्ष में एक ऐसा समय बीता है जब इस देश के निवासियों के प्रत्येक कण में जीवन था, पौरुष था, कौलीन्य-गर्व था और सुंदर के रक्षण पोषण और सम्मानन का सामर्थ्य था। उस समय उन्होंने बड़े बड़े साम्राज्य स्थापित किए थे, संधि और विग्रह के द्वारा समूचे ज्ञात जगत् की सभ्यता का नियंत्रण किया था और वाणिज्य और यात्राओं के द्वारा अपने को समस्त सभ्यजगत् का सिरमौर बना लिया था। उस समय इस देश में एक ऐसी समृद्ध नागरिक सभ्यता उत्पन्न हुई थी जो सौन्दर्य की सृष्टि, रक्षण और सम्मानन में अपनी उपमा स्वयं ही थी। उस समय के काव्य नाटक आख्यानक, आख्यायिका, चित्र, मूर्ति, प्रासाद आदि को देखने से आज का अभागा भारतीय केवल विस्मय-विमुग्ध होकर देखता रह जाता है। उस युग की प्रत्येक वस्तु में छन्द है, राग है और रस है। उस युग में भारतवासियों ने जीने की कला आविष्कार की थी। हम उसीकी कहानी कहने का संकल्प ले कर चले हैं।

आज के यांत्रिक उत्पादन के युग में विलासिता बहुत सस्ती हो गई है परन्तु प्राचीन काल में ऐसी बात नहीं थी। प्राचीन भारत का रईस विद्या और कला के पीछे मुक्तहस्त से धन लुटाता था। वह केवल स्वयं अपनी अपार धन राशि का कृपण भोक्ता नहीं था बल्कि अपने प्रत्येक आचरण से शिल्पियों और सेवकों की एक बड़ी जमात को धन बाँटता रहता था। वह प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्त में उठता था। और उसके उठने के साथ ही साथ शिल्पियों और सेवकों का

दल कार्यव्यस्त हो जाता था। प्रातःकाल उठकर आवश्यक मुख-प्रक्षालनादि से निवृत्त होकर वह सबसे पहले दातून से दांत साफ़ करता था (काम सूत्र पृ० ४५)। परन्तु उसकी दातून पेड़ से ताज़ी तोड़ी हुई मामूली दातून नहीं होती थी, वह औषधियों और सुगंधित द्रव्यों से सुवासित हुआ करती थी। कम से कम एक सप्ताह पहले से उसे सुवासित करने की प्रक्रिया ज़ारी हो जाती थी। वृहत्संहिता में (७७. ३१—३४) यह विधि विस्तारपूर्वक बताई गई है। गोमूत्र में हर्रे का चूर्ण मिला दिया जाता था और दातून उसमें एक सप्ताह तक छोड़ रखी जाती थी। उसके बाद इलायची, दालचीनी, तेजपात, अंजन, मधु और मरिच से सुगंधित किए हुए पानी में उसे डुबा दिया जाता था (वृ० सं० ७७. ३१-३२)। विश्वास किया जाता था कि यह दन्तकाष्ठ स्वास्थ्य और मांगल्य का दाता होता है। इस दातून को तयार करने के लिये प्राचीन नागरक (रईस) के सुगंधकारी भृत्य नियमित रूप से रहा करते थे। उन दिनों दातून केवल शरीर के स्वास्थ्य और स्वच्छता के लिये ही आवश्यक नहीं समझी जाती थी। मांगल्य भी मानी जाती थी। इस बात का बड़ा विचार था कि किस पेड़ की दातून किस तिथि को व्यवहार की जानी चाहिए। पुस्तकों में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि किस किस तिथि को दातून का प्रयोग एकदम करना ही नहीं चाहिए। सो, नागरक की दातून कोई मामूली बात नहीं थी। उसके लिये पुरोहित से लेकर गृह की चेटी तक चिन्तित हुआ करती थी दातून की क्रिया के समाप्त होते ही सुशिक्षित भृत्य अनुलेपन का पात्र लेकर उपस्थित होता था। अनुलेपन में विविध प्रकार के द्रव्य हुआ करते थे। कस्तूरी, अगुरु, केसर आदि के साथ दूध की मलाई के मिश्रण से ऐसा उपलेपन तैयार किया जाता था जिसकी सुगंधि देर तक भी रहती थी और शरीर के चमड़ों को कोमल और स्निग्ध भी बनाती थी। परन्तु कामसूत्र की गवाही से हम अनुमान कर सकते हैं कि चंदन का अनुलेपन ही अधिक पसंद किया जाता था इस अनुलेपन को उचित मात्रा में लगाना भी एक सुकुमार कला मानी जाती थी। जयमंगला टीका में बताया गया है कि जैसे तैसे पोत लेना भद्दी रुचि का परिचायक है इसलिये अनुलेपन उचित मात्रा में होना चाहिए। अनुलेपन के बाद धूप से बालों को धूपित करने की क्रिया शुरू होती थी। स्त्रियों में यह क्रिया अधिक प्रचलित थी पर विलासी नागरक भी अपने केशों की कम परवा नहीं किया करते थे। केशों के शुक्ल हो जाने की आशंका बराबर बनी रहती थी और वराहमिहिराचार्य ने ठीक ही कहा है कि जितनी भी माला पहनो, वस्त्रधारण करो, गहनों से अपने को अलंकृत कर लो पर अगर तुम्हारे केशमें सफेदी है तो ये कुछ भी अच्छे नहीं लगेंगे, इसलिये मूर्ध्वजों (= केशों) को सेवा में चूकना ठीक नहीं है (वृ० सं० ७७·१)। सो साधारणतः उस शुक्लता रूपी भद्दी वस्तु को आने ही न देने के लिये और उसे देर तक सुगंधित बनाए रखने के लिये केशों को धूपित किया जाता था। परन्तु

यह शुक्रता कभी कभी हजार बाधा देने पर आ धमकती थी और नागरक को प्रयत्न करना पड़ता था कि आने पर भी वह लोगों की नजरों में न पड़े। पुस्तकों में धूप देने के कितने ही नुस्खे पाए जाते हैं। किसीसे कर्पूर की गंध, किसीसे कस्तूरी की सुवास और किसीसे अगुरु की खुशबू उत्पन्न की जाती थी। कपड़े भी इन धूपों से धुपे जाते थे। वस्तुतः भारत के प्राचीन रईस—क्या पुरुष और क्या स्त्री—जितना सुगंधित कपड़ों से प्रेम करते थे उतना और किसी भी वस्तु से नहीं। केशों के लिये सुगंधित तेल बनाने की भी विधियां बताई गई हैं। साधारणतः केशों को पहले धूपित करके कुछ देर तक उन्हें छोड़ दिया जाता था और फिर स्नान करके सुगंधित तैल व्यवहार किया जाता था (बृ० सं ७७·११)। बालों की सेवा हो जाने के बाद नागरक माला धारण करता था। माला चंपा, जूही, मालती आदि विविध पुष्पों की होती थी। इनकी चर्चा अन्यत्र भी की जायगी। वात्स्यायन के कामसूत्र में मोम और अलक्तक धारण करने की क्रिया का उल्लेख है। किसी किसी का अनुमान है कि अधरों को अलक्तक (लाख से बना हुआ लाल रंग, महावर) से लाल किया जाता होगा, जैसा कि आधुनिक काल में लिपस्टिक से स्त्रियां रँगा करती हैं और फिर उन्हें चिक्कन करने के लिये उनपर सिक्थक या मोम रगड़ दिया जाता होगा। मुझे अन्य किसी मूल से इस अनुमान का पोषक प्रमाण नहीं मिला है। पर यदि अनुमान ही करना हो तो नखों के रंगने का भी अनुमान किया जा सकता है। वस्तुतः प्राचीन भारत के विलासी का नखों पर इतना मोह था कि इस युग में न तो हम उसकी मात्रा का अन्दाज लगा सकते हैं और न कारण ही समझ सकते हैं। नखों के काटने की कला की चर्चा प्रायः आती है वे त्रिकोण, चन्द्राकार, दन्तुल तथा अन्य अनेक प्रकार की आकृतियों के होते थे। गौड़ के लोग बड़े बड़े नखों को पसंद करते थे, दाक्षिणात्य वाले छोटे नखों की क़दर करते थे। जो हो, सिक्थक और अलक्तक के प्रयोग के बाद नागरक दर्पण में अपना मुख देखता था। सोने या चांदी के समतल पट्ट को घिसकर खूब चिकना किया जाता था उससे ही आदर्श या दर्पण का काम लिया जाता था। दर्पण में देखने के बाद जब वह अपने बनाव-सिंगार से सन्तुष्ट हो लेता था तो सुगंधित तांबूल ग्रहण करता था।

तांबूल प्राचीन भारत का बहुत उत्तम प्रसाधन था। वह पूजा और शृंगार दोनों कामों में समान रूप से व्यवहृत होता था। ऐसा जान पड़ता है कि आर्य लोग पहले ताम्बूल का प्रयोग नहीं जानते थे। उन्होंने नागजाति से इसका व्यवहार सीखा था। अब भी संस्कृत में इसे नागवल्ली कहते हैं। बाद में नागों की यह वल्ली या लता भारतीय अन्तःपुरों से लेकर सभागृहों तक और राजसभा से लेकर आपानकों (पानशालाओं) तक समान रूप से आदर पा सकी। किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि वल्लियां तो दुनिया में हजारों हैं,

वे परोपकार भी कम नहीं करतीं, पर सब को छापकर विराजमान है एकमात्र नागजाति की दुलारी बल्ली ताम्बूल-लता जो नागरिकाओं के वदन-चन्द्रों को अलंकृत करती है—

> किं वीरुधो भुवि हि सन्ति सहस्रशोऽन्याः
> यासां दलानि न परोपकृतिं भजन्ते ।
> एकैव वल्लिषु विराजति नागवल्ली
> या नागरीवदनचंद्रमलंकरोति ॥

इस तांबूल के बीटक का (बीड़ा) सजाना बहुत बड़ी कला माना जाती थी । उस में नानाभाव से सुगंधि ले आने की चेष्टा को जाती थी । पान का बीड़ा नाना मंगलों और सौभाग्यों का कारण माना जाता था । वराहमिहिर ने कहा है कि उससे वर्ण की प्रसन्नता आती है, मुख में कान्ति और सुगंधि आती है, वाणी में मधुरिमा का संचार होता है ; वह अनुराग को प्रदीप्त करता है, रूप को निखार देता है, सौभाग्य को आवहन करता है, वस्त्रों को सुगंधित बनाता है और कफजन्य समस्त रोगों को दूर करता है (बृ० सं० ७७·६४-३५) । इसीलिये इस सर्वगुणयुक्त शृंगार-साधन के लिये सावधानी और निपुणता बड़ी आवश्यक है । सुपारी चूना और खैर ये पान के आवश्यक उपादान हैं । इन प्रत्येक को विविध भांति से सुगंधित बनाने की विधियां पोथियों में लिखी हैं । पर इनकी मात्रा कलामर्मज्ञ को ही मालूम होता है । खैर ज्यादा हो जाय तो लालिमा ज्यादा होकर भद्दी हो जाती है, सुपारी अधिक हो जाय तो लालिमा क्षीण होकर अशोभन हो उठती है, चूना अधिक हो जाय तो मुख का गंध भी बिगड़ जाता है और क्षत हो जाने की भी संभावना है, परन्तु पत्ते अधिक हों तो सुगंधि निखर जाती है । इसी लिये इनकी मात्रा का निर्णय बड़ी सावधानी से होना चाहिए । रात को पत्ते अधिक देने चाहिए और दिन को सुपारी (बृ० सं० ७७.३६-३७) । सो प्राचीन भारत का नागरक पान के बीड़े के विषय में वहुत सावधान हुआ करता था ।

तांबूल-सेवन के बाद वह उत्तरीय सँभालता था और अपने कार्य में जुट जाता था । वह कार्य व्यापार भी हो सकता है, राज्यशासन भी हो सकता है, और मंत्रणादिक भी हो सकता है । वस्तुतः इस प्रकार के समृद्ध रईस ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों में से ही हुआ करते थे । परन्तु शूद्रों का उल्लेख न मिलने से यह नहीं समझना चाहिए कि शूद्र लोग समृद्ध कभी होते ही नहीं थे, सच्ची बात यह है कि समृद्ध लोग शूद्र नहीं हुआ करते थे । समृद्ध होने के बाद लोग या तो ब्राह्मण या वैश्य—अधिकतर वैश्य—सेठ हो जाया करते थे, या क्षत्रिय सामन्त । उन दिनों भारतवर्ष का व्यापार वहुत समृद्ध था और ब्राह्मण क्षत्रिय भी सेठ हुआ करते थे । मृच्छकटिक का सेठ नागरक चारुदत्त ब्राह्मण था । यह धारणा गलत है कि ब्राह्मण सदा से यजन-

याजन का ही काम करते थे। वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है। मृच्छकटिक नाटक में चार ब्राह्मण पात्र हैं। चारुदत्त श्रेष्ठि-चत्वर में वास करता है, सकल कलाओं का समादरकर्त्ता सुपुरुष नागर है, विदेशों में समुद्रपार उसके धन-रत्न से पूर्ण जहाज भेजे जाते हैं, दरिद्र हो जाने पर भी वह नगर के प्रत्येक स्त्री-पुरुष का श्रद्धाभाजन है और अत्यन्त उदार और गुणान्वित है, दूसरा ब्राह्मण एक बिट है जो राजा के मूर्ख साले की खुशामद पर जीता है, गणिकाओं का सम्मान भी करता है और प्रसन्न भी रखता है, पंडित भी है और कामुक भी है ; तीसरा ब्राह्मण विदूषक है जिसे संस्कृत बोलने का भी अभ्यास नहीं है और चौथा ब्राह्मण शार्विलक है जो पंडित भी है, चोर भी है और वेश्या-प्रेमी भी है। चोरी करना भी एक कला है, एक शास्त्र है, शार्विलक ने उसका अच्छा अध्ययन किया था। कैसे सेंध मारना होता है, दीपक बुझा देने के लिये कीट को कैसे उड़ाया जाता है, दरवाजे पर पानी छिड़क के उसे कैसे निःशब्द खोला जा सकता है यह सारी बातें उसने सीखी थीं। ब्राह्मण के जनेऊ का जो गुणवर्णन इस चौर पंडित ने किया है वह उपभोग्य भी है और सीखने लायक़ भी ! इस यज्ञोपवीत से भीत में सेंध मारने की जगह मापी जा सकती है, इसके सहारे स्त्रियों के गले आदि में गंसी हुई भूषणावली खींच ली जा सकती है, जो कपाट यंत्र से दृढ़ होता है—ताला लगाकर न खुलने योग्य बना दिया गया होता है,—उसका यह उद्घाटक बन जाता है और साँप-गोजरके काट खानेपर कटे हुए घाव को बांधने का काम भी यह दे जाता है !—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गं
एतेन मोचयति भूषण-संप्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यंत्रदृढ़े कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च ॥ (मृ० ३·१७)

इस प्रकार ब्राह्मण उन दिनों सेठ भी होते थे, विट और विदूषक भी होते थे और शार्विलक के समान धर्मात्मा चोर भी। धर्मात्मा इसलिये कि शार्विलक चोरी करते समय भी नीति-अनीति का ध्यान रखता था, स्त्रियों पर हाथ नहीं उठाता था, बच्चों को चुराकर उनके गहने नहीं छीन लेता था, कमजोर और ग़रीब नागर के घर में सेंध नहीं मारता था, ब्राह्मण का धन और यज्ञ के निमित्त सोना पर लोभ नहीं रखता था और इस प्रकार चोरी करते समय भी उसकी मति कार्याकार्य का विचार रखती थी ! (मृ० ४·६)

पुराना रईस स्नान नित्य किया करता था। परन्तु उसका स्नान कोई मामूली व्यापार नहीं था काम-काज समाप्त होने के बाद मध्याह्न से थोड़ा पूर्व वह उठ पड़ता था। पहले तो अपने समवयस्क मित्रों के साथ मधुर व्यायाम किया करता था, उसके दोनों कपोलोंपर और ललाटदेश

में पसीने की दो चार बूंदे सिंदुवार पुष्प की मंजरी के समान झलक उठती थीं तब वह व्यायाम-विरत होता था। परिजनों में तब फिर एक बार दौड़ धूप मच जाती थी। रईस अपने स्नानागार में पहुँचता था। वहां स्नान की चौकी होती थी जो साधारणतः संगमर्मर की बनी होती थी और बहुमूल्य धातुओं के पात्र में सुगंधित जल रखा हुआ रहता था। उस समय परिचारक या परिचारिका उसके केशों में सुगंधित आमलक (आंवले) का घिसा हुआ कल्क धीरे धीरे मलती थी और शरीर में सुवासित तैल मर्दन करती थी। नागरक की गर्दन या मन्या तैल का विशेष भाग पाती थी उसपर देर तक तेल की मालिश होती थी क्योंकि विश्वास किया जाता था कि बुद्धिजीवी व्यक्ति की मन्यापर तेल मलने से मस्तिष्क के तन्तु अधिक सचेत होते हैं। स्नान-गृह में एक जल की द्रोणी (गमला) होती थी उस में रईस थोड़ी देर बैठेते थे और बाद में स्नान की चौकी पर आ विराजते थे। उनके सिर पर सुगन्धित वारिधारा पड़ने लगती थी और तृप्ति के साथ उनका स्नान समाप्त होता था। फिर वे सर्प-निर्मोक (केंचुल) के समान श्वेत और चमकीली धोती पहनते थे। धोती अर्थात् धौतवस्त्र। इस शब्द का अर्थ है धुला हुआ वस्त्र। ऐसा जान पड़ता है कि नागरक के वस्त्रों में सिर्फ धोती ही नित्य धोई जाती थी बाकी कई दिन तक अधौत रह सकते थे। इसका कारण स्पष्ट है क्योंकि नागरक का उत्तरीय या चादर कुछ ऐसा-वैसा वस्त्र तो होता नहीं था। उसमें न जाने कितने आयास के बाद दीर्घकाल तक टिकने वाली सुगंधि हुआ करती थी। इसलिये धौत वस्त्र (=धोती) की अपेक्षा उत्तरीय (=चादर) ज्यादा मूल्यवान् होती थी। मस्तक पर नागरक एक क्षौमवस्त्र का अंगौछा-सा लपेट लेता था जिसका उद्देश्य केशों की आर्द्रता सोखना होता था। यह सब कर के नागरक संध्यातर्पण और सूर्योपस्थान आदि धार्मिक क्रियाओं से निवृत्त होता था (कादंबरी-कथामुख)।

जैसा शुरू में ही कहा गया है, नागरक स्नान नित्य किया 'करता था, पर शरीर का उत्सादन एक दिन अन्तर देकर कराता था। उसके स्नान में एक प्रकार की वस्तु का प्रयोग होता था जिसे फेनक कहते थे, वह आधुनिक साबुन का पूर्वपुरुष था। उससे शरीर की स्वच्छता आती थी। परन्तु प्रतिदिन उसका व्यवहार नहीं किया जाता था, हर तीसरे दिन फेनक से स्नान विहित था (का. सू. पृ० ४६)। हजामत वह हर चौथे दिन बनाता था। नाखून और दांत साफ़ रखने में उस युग का रईस विशेष यत्नवान् होता था। और इस बात का भी बड़ा ध्यान रखता था कि उसके बगल में पसीना जमकर दुर्गंधि न फैलाने लगे। इस उद्देश्य के लिये वह एक करपट या रूमाल पास में रखा करता था (का. सू. पृ० ४७)।

स्नान, पूजा और तत्संबद्ध अन्य कृत्यों के समाप्त होने के बाद नागरक भोजन करने बैठता

था। भोजन दो बार विहित था, मध्याह्न को और अपराह्न को। यह वात्स्यायन का मत है। चारायण सायाह्न (सायंकाल) को दूसरे भोजन का उचित काल मानते थे। नागरक के भोजन में भक्ष्य भोज्य लेह्य (चटनी) चोष्य (चूसने योग्य) पेय सब होता था। गेंहू, चावल, जौ दाल, घी, मांस सब तरह के अन्न होते थे, अन्त में मिठाई खाने की भी विधि थी। भोजन समाप्त करने के बाद नागरक आराम करता था और एक प्रकार की धूमवर्ति (चुरुट) भी पीता था। धूम-पान के बाद वह तांबूल या पान लेता था और कोई संवाहक धीरे धीरे उसके पैर दबा देता था (कादंबरी-कथामुख)। संवाहन की भी कला होती थी। मृच्छकटिक नाटक के नायक चारुदत्त का एक उत्तम संवाहक था जो उसके दरिद्र हो जाने के बाद जुआ खेलने लगा था। चारुदत्त की प्रेमिका वसन्तसेना से जब उसका परिचय हुआ तो वसन्तसेना ने उसकी कला की दाद देते हुए कहा कि भाई, तुमने तो बहुत उत्तम कला सीखी है। इसपर उसने जवाब दिया कि आर्ये, कला समझकर ही सीखी थी पर अब तो यह जीविका हो गई है।

ऊपर हमने भोजन का बहुत संक्षिप्त उल्लेखकर दिया है। इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि हमारे पुराने रईस का भोजन व्यापार बहुत संक्षिप्त हुआ करता था।

भोजन के बाद दिवाशय्या (=दिन का सोना) करने के पहले नागरक लेटे लेटे थोड़ा मनोविनोद करता था। शुक-सारिका (=तोता-मैना) का पढ़ाना, तित्तिर और बटेरों की लड़ाई, भेड़ों की भिड़न्त उसके प्रिय विनोद थे (का० सू पृ० ४७)। उसके घर में हंस, कारण्डव, चक्रवाक, मोर, कोयल आदि पक्षी और वानर, हरिन व्याघ्र सिंह आदि जन्तु भी पाले जाते थे। समय समय पर वह उनसे भी अपना मनोरंजन करता था (का० सू० पृ० २८४)। इस समय उसके निकटवर्ती सहचर पीठमर्द, विट विदूषक भी आ जाया करते थे। वह उनसे आलाप भी करता था। फिर सो जाता था। सोकर उठने के बाद वह गोष्ठी-विहार के लिये प्रसाधन करता था, अंगराग, उपलेपन, माल्य गंध उत्तरीय संभालकर वह गोष्ठियों में जाता था गोष्ठियों से लौटने के बाद वह सांध्यकृत्यों से निवृत्त होता था और सायंकाल संगीतानुष्ठानों का आयोजन करता था या अन्यत्र आयोजित संगीत का रस लेने जाता था। इन संगीतकों में नाच, गान अभिनय आदि हुआ करते थे (का० सू० पृ० ४७-४८)। साधारण नागरिक भी इन उत्सवों में सम्मिलित होते थे। मृच्छकटिक के रेभिल नामक सुकंठ नागरक ने सायं संध्या के बाद ही अपने घर पर आयोजित संगीतक नामक मजलिस में गान किया था। इन सभाओं से लौटने के बाद भी नागरक कुछ विनोदों में लगा रहता था। परन्तु वे उसके अत्यन्त निजी व्यापार होते थे। इस प्रकार प्राचीन भारत का रईस प्रातःकाल से संध्यातक एक कलापूर्ण विलासिता के

वातावरण में वास करता था। उसके प्रत्येक विलास से किसी न किसी कला को उत्तेजना मिलती थी, उसके प्रत्येक उपभोग्य वस्तु के उत्पादन के लिये एक सुरुचिपूर्ण परिश्रमी परिचारक मंडली नियुक्त रहती थी। वह धन का सुख जमकर भोगता था और अपनी प्रचुर धनराशि के उपभोग में अपने साथ एक बड़े भारी जनसमुदाय की जीविका की भी व्यवस्था करता था। वह काव्य नाटक आख्यान आख्यायिका आदि की रचना को प्रत्यक्ष रूप से उत्साहित करता था और नृत्य, गीत, चित्र और वादित्र का तो वह शरण रूप ही था। वह रूप रस गंध स्पर्श आदि सभी इन्द्रियार्थों के भोगने में सुरुचि का परिचय देता था और विलासिता में आकंठ मग्न रहकर भी धर्म और अध्यात्म से एकदम उदासीन नहीं रहता था।

यहां पर यह भी कह रखना आवश्यक है कि प्राचीन भारत का यह रईस केवल दूसरों से सेवा कराने में ही जीवन की सार्थकता नहीं समझता था, वह स्वयं इन कलाओं का जानकार होता था। नागरकों को खास खास कलाओं का अभ्यास कराया जाता था। केवल शारीरिक अनुरंजन ही कला का विषय न था, मानसिक और बौद्धिक विकास का ध्यान पूरी मात्रा में रखा जाता था। उन दिनों किसी पुरुष को राजसभा और सहृदय गोष्ठियों में प्रवेश पा सकने के लिये कलाओं की जानकारी आवश्यक होती थी, उसे अपने को गोष्ठीविहार का अधिकारी सिद्ध करना होता था। कादम्बरी में वैशम्पायन नामक तोते को जब चाण्डाल कन्या राजा शूद्रक की सभा में ले गई तो उसके साथी ने उस तोते में उन सभी गुणों का होना बताया था जो किसी पुरुष को राजसभा में प्रवेश पाने के योग्य प्रमाणित कर सकती थीं। उसने कहा था (कथामुख) कि यह तोता सभी शास्त्रार्थों को जानता है, राजनीति के प्रयोग में कुशल है, गान और संगीत शास्त्र की बाईस श्रुतियों का जानकार है, काव्य-नाटक-आख्यायिका-आख्यानक आदि विविध सुभाषितों (सूक्तियों) का मर्मज्ञ भी है और कर्ता भी है, परिहासालाप में चतुर है, वीणा, वेणु मुरज आदि वाद्यों का अतुलनीय श्रोता है, नृत्त प्रयोग के देखने में निपुण है, चित्रकर्म में प्रवीण है, द्यूत-व्यापार में प्रगल्भ है, प्रणय-कलह में कोप करनेवाली मानवती प्रिया को प्रसन्न करने में उस्ताद है, हाथी-घोड़ा पुरुष और स्त्री के लक्षणों को पहचानता है। कादम्बरी में ही आगे चलकर चंद्रापीड़ को सिखाई गई कलाओं की विस्तृत सूची दी हुई है जिसमें व्याकरण गणित और ज्योतिष भी हैं, गानवाद्य और नृत्य भी हैं, तैरना कूदना आदि व्यापार भी हैं, लिपियों और भाषाओं का ज्ञान भी है, काव्य नाटक और इन्द्रजाल भी है और बढ़ई तथा सुनार के काम भी हैं। वात्स्यायन के काम-सूत्र में कुछ और ही प्रकार की कलाविद्याओं की चर्चा है। बौद्ध ग्रंथों में ८४ प्रकार की कलाओं का उल्लेख है और जैन ग्रंथों में ७२ प्रकार की कलाओं का। कला की संख्या कोई सीमित नहीं है। सभी प्रकार की सुकुमार और बुद्धिमूलक

क्रियाएं कला कहलाती थीं। कला के नाम पर कभी कभी लोगों से ऐसा काम करने को कहा गया है कि आश्चर्य होता है। काशी के राजा जयन्तचंद्र की एक रखेली रानी सूहव देवी थी। कुछ दिनों तक उसका दरबारियों पर निरंकुश शासन था। कहते हैं उसने एक बार श्रीहर्ष कवि से पूछा कि तुम क्या हो? कवि ने जवाब दिया कि मैं 'कला-सर्वज्ञ' हूं। रानी ने कहा—अगर तुम सचमुच कला-सर्वज्ञ हो तो मेरे पैरों में जूता पहनाओ। मनस्वी ब्राह्मण-कवि उस रानी को घृणा करता था पर कला-सर्वज्ञता तो दिखानी ही थी। दूसरे दिन चमार का वेश धारण करके कवि ने रानी को जूता पहनाया और फिर से ब्राह्मणवेश धारण ही नहीं किया बल्कि संन्यासी होकर गंगातट पर प्रस्थान किया (प्रबंधकोश पृ० ५७)।

वात्स्यायन की गिनाई हुई कलाओं में लगभग एक तिहाई तो विशुद्ध साहित्यिक हैं। बाकी में कुछ नायक-नायिकाओं की विलास-क्रीड़ा में सहायक हैं, कुछ मनोविनोद के साधक हैं और कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें दैनिक प्रयोजनों का पूरक कहा जा सकता है। गाना, बजाना, नृत्य, चित्रकारी, प्रिया के कपोल और ललाट की शोभा बढ़ा सकने वाले भोजपत्र के काटे हुए पत्रों की रचना करना (विशेषकच्छेद्य), फ़र्श पर विविध रंगों के पुष्पों और रँगे हुए चावलों से नाना प्रकार के नयनाभिराम चित्र बनाना (तंडुल-कुसुम-विकार), फूल बिछाना, दाँत और वस्त्रों का रंगना, फूलों की सेज रचना, ग्रीष्मकालीन विहार के लिये मरकत आदि पत्थरों का मज बनाना, जलक्रीड़ा में मुरज मृदंग आदि बाजों का बजा लेना, कौशलपूर्वक प्रेयसी के प्रति पानी की छींटें फेंकना, माला गूंथना, केशों को फूलों से सजाना, कान के लिये हाथी दाँत के पत्तरों से आभरण बनाना, सुगंधित धूप-दीप और वर्तियों का प्रयोग जानना, गहना पहनाना, इन्द्रजाल और हाथ की सफ़ाई, चोली आदि का सीना, भोजन और शरबत आदि बनाना, वीणा डमरू आदि बजा लेना इत्यादि कलाएं उन दिनों सभी सभ्य व्यक्तियों के लिये आवश्यक मानी जाती थीं। संस्कृत साहित्य में इन कलाओं का विपुल भाव से वर्णन है। किसी विलासिनी के कपोलतल पर प्रिय ने सौभाग्य-मंजरी अंकित कर दी है, किसी प्रिया के कानों में आगंड-विलेपि केसर और किसीके बालोंमें शिरीष पुष्प पहनाया जा रहा है, कहीं विलासिनी के कपोल-देश की चंदन पत्रलेखा कपोल-भित्ति पर कुसुम-बाणों के लगे घाव पर पट्टी की भाँति बँधी दिख रही है, कहीं प्रिया के कमल-कोमल पदतल पर वेपथु-विकंपित हाथों की बनी हुई अलक्तक रेखा टेढ़ी हो गई है, कहीं नागरकों के द्वारा स्थंडिल-पीठिकाओंपर कुसुमास्तरण हो रहा है, कहीं जलक्रीड़ा के समय क्रीड़ा-दीर्घिका से उत्थित मृदंग-ध्वनि ने तीरस्थित मयूरों को उत्कंठित कर दिया है, इस प्रकार के सैकड़ों कलाविलास उस युग के साहित्य में पदपद पर देखने को मिल जाते हैं।

इन कलाओं में कुछ उपयोगी कलाएं भी हैं। उदाहरणार्थ, वास्तुविद्या या गृह-निर्माण

कला, रूप्यरत्न-परीक्षा, धातुविद्या, कीमती पत्थरों का रंगना, वृक्षायुर्वेद पेड़-पौधों की विद्या, हथियारों की पहिचान, हाथी-घोड़ों के लक्षण इत्यादि। वराहमिहिर की बृहत्संहिता से ऐसी बहुतेरी कलाओं की जानकारी हो सकती है जैसे वास्तुविद्या (५३ अध्याय), वृक्षायुर्वेद (५५ अ०), वज्रलेप (५७ अ०), कुक्कुट लक्षण (६३ अ०) शय्यासन (७८ अ०) गंधयुक्ति (७७ अ०) रत्नपरीक्षा (८०-८३ अ०) इत्यादि। कलाओं में ऐसी भी बहुत हैं जिनका संबंध सिर्फ मनोविनोद मात्र से है जैसे भेड़ों और मुर्गों की लड़ाई, तोतों और मैनों का पढ़ाना आदि। संभ्रान्त परिवारों के महलों का एक हिस्सा भेड़े मुर्गे, तीतर बटेर के लिये होते थे और अन्तः चतुःशाल के भीतर तोता मैना अवश्य रहा करते थे। हम आगे चलकर देखेंगे कि उन दिनों संभ्रान्त रईस के अन्तःपुर में कोकिल, हंस, कारण्डव चक्रवाक, सारस, मयूर और कुक्कुट बड़े शौक़ से पोसे जाते थे। अन्तःपुरिकाओं और नागरकों के मनोविनोद में इन पक्षियों का पूरा हाथ होता था।

कभी कभी रईसों का विलास समसामयिक राजाओं से भी बढ़कर होता था, इस बात का प्रमाण मिल जाता है। राजाओं को युद्ध-विग्रह, राज्य संचालन आदि अनेक कठोर कर्म भी करने पड़ते थे पर सुराज्य से सुरक्षित समृद्धिशाली नागरिकों को इन झंझटों से कोई सरोकार नहीं था। वे धन और यौवन का सुख निश्चिन्त होकर भोगते थे। कहानी प्रसिद्ध है कि एकबार दत्तब्राह्मण के पुत्र माघ कवि महाराज भोज के घर अतिथि होकर गए। राजा ने कवि का सम्मान करने में कोई बात उठा न रखी पर कवि को न तो स्नान में ही सुख मिला और न भोजन में ही न शयन में ही। महाराज भोज ने आश्चर्य के साथ सोचा कि न जाने यह अपने घर कैसे रहता है। कवि के निमंत्रण पर महाराज भोज भी एक दिन कवि के घर गए। दूसरे वर्ष शीत ऋतु में बड़ी भारी लाव लश्कर लेकर महाराज कवि के श्रीमालपुर नामक ग्राम में उपस्थित हुए। कवि के विशाल प्रासाद को देखकर राजा आश्चर्य चकित रह गए। मकान देखने के लिये प्रासाद के भीतर प्रविष्ट हुए। स्थान स्थान पर विचित्र कौतुक देखते हुए एक ऐसे स्थान पर आए जहां बहुत सी धूप की घटियाँ सुगंधित धूम उद्गिरण कर रही थीं, कुट्टिम भूमि सुगंधित परिमल से गमक रहा था। राजा ने पूछा—'पंडित, यह क्या आपका पूजागृह है?' पंडित ने ईषत् लज्जित होकर जवाब दिया,—'महाराज आगे बढ़ें, यह स्थान पवित्र संचार का नहीं है।' राजा लज्जित हो रहे। स्नान के पूर्व मार्दनिक भृत्यों ने इस सुकुमार भंगी से मर्दन किया कि राजा प्रसन्न हो गए। सोने के स्नानपीठ पर बड़े आडंबर के साथ राजा को स्नान कराया गया। नाक की साँस से उड़ जाने योग्य वस्त्र राजा को दिए गए। सोने के थाल में, जो ३२ कचोलकों (कटोरों) से परिवृत था, क्षीरमय पक्वान्न, क्षीर-तंदुल का कूट, उसीके बड़े और अन्य नाना भांति

के व्यंजन भोजन के लिये दिए गए। अब राजा को समझ पड़ा कि जो ऐसी रसोई खाता है उसे मेरी रसोई कैसे अच्छी लग सकती थी! भोजन के पश्चात् पंचसुगन्धि नामक तांबूल सेवन करके राजा पलँग पर लेटे। यद्यपि शीत ऋतु का समय था पर पंडित के गृह में कुछ ऐसी व्यवस्था थी कि राजा चंदनलिप्त होकर रात को बड़े आनंद से मीठी मीठी व्यजन-वीजित वायु का सेवन करते हुए निद्रित हुए। वे भूल ही गए कि मौसम सर्दी का है (पुरात० प्रबंध पृ० १७)। इस कहानी से यह अनुमान सहज होता है कि उन दिनों ऐसे रईस थे जिनका विलास समसामयिक राजाओं के लिये भी आश्चर्य का विषय था।

पुराने रईस का अन्तःपुर भी कलाओं का आश्रय था। पुरुषों की दुनिया में वास्तविकता के कठोर आघातों से रोमांस का कोमल और मनोरम वातावरण प्रायः क्षुब्ध होता रहता था। पर अन्तःपुर तक विक्षोभ की लहरियाँ बहुत कम पहुँचा करती थीं। शत्रु और मित्र दोनों ही उन दिनों अन्तःपुर की शान्ति का सम्मान करते थे।

उन दिनों का रईस साधारणतः पानी के आसपास घर बनवाना अधिक उपयुक्त मानता था (काम० पृ० ४१)। घर के दो भाग हुआ करते थे। बाहरी प्रकोष्ठ पुरुषों के व्यवहार के लिये और भीतरी स्त्रियों के लिये। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में इन मकानों के बनाने की विस्तृत विधि दी हुई है। साधारणतः ये मकान नगरी के प्रधान राजपथों की दोनों ओर हुआ करते थे। अन्तःपुर की वधुएं ऊपरी तल्लों में रहा करती थीं क्योंकि प्राचीन काव्यों और नाटकों में किसी विशेष उत्सवादि के देखने के सिलसिले में ऊपरी तल्ले के गवाक्षों से अन्तः-पुरिकाओं के देखने का वर्णन प्रायः मिल जाया करता है। अन्तःपुर के घरों में गवाक्ष निश्चित रूप से रहते ही थे। राजपथ की ओर गवाक्षों का रखना भी आवश्यक समझा जाता था। गृह के बाहर का फाटक बहुत भव्य और विशाल हुआ करता था। सामने की भूमि को पहले पानी से आर्द्र करके बाद में झाड़ दिया जाता था और उसके ऊपर गोबर से लीप दिया जाता था। भूमि का भाग या मकान की चौकी नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्पों और रंगे हुए चावलों से सुसज्जित की जाती थी। ऊंचे फाटक के ऊपर गजदन्तों (खूंटियों) में मालती की माला मनोहर भंगी में लटका दी जाती थी। फाटक के ऊपर उपरले तल्ले का जो वातायन (खिड़की) हुआ करता था उसके नीचे मोतियों की (या कम-से-कम फूलों की) माला लटकती रहती थी। तोरण के कोनों मे हाथी की मूर्तियाँ बनी होती थीं जो अपने दाँतों पर या सूंड़ पर भार धारण करती हुई जान पड़ती थीं (मृच्छ० ४र्थ अंक)। ईसवी पूर्व दूसरी शती का एक तोरण-ब्रैकेट साँची में पाया गया है जिसमें हाथी के सामने अत्यन्त सुकुमार भंगी में एक स्त्रीमूर्ति वृक्षशाखा पकड़ कर खड़ी हुई है। इस प्रकार की नारी-मूर्तियों को तोरणशालभंजिका कहते

थे। शालभंजिका पुतली या मूर्ति को भी कहते हैं और वेश्या को भी। सन् ईसवी की दूसरी शताब्दी की एक तोरणशाल भंजिका मिली है जिसका दाहिना चरण हाथी के कुंभ पर है और बायां ज़रा ऊपर उठे हुए सूँड़ पर। अश्वघोष के बुद्धचरित में खिड़की के सहारे लेटी हुई धनुषाकार झुकी हुई नारी की तोरणशालभंजिका से उपमा दी गई है—

अवलंव्य गवाक्षपार्श्वमन्या
शयिता चापविभुग्नगात्रयष्टिः
विरराज विलंविचारुहारा
रचिता तोरणसालभञ्जिकेव (५.५२)

काव्यों नाटकों मूर्तियों और प्रासादों के भग्नावशेषों से यह अनुमान पुष्ट होता है कि नागरक के मकान में तोरण शालभंजिकाओं के विविध रूप की मनोहर भंगिमाएं पाई जाती होंगी। साधारणतः तोरणद्वार महारजन या कुसुंभी रंग से पुता होता था, प्रत्येक गृह पर सौभाग्य-पताकाएं भी फहराती रहती थीं (मृच्छ०, ४र्थ अंक)। तोरण स्तंभ के पार्श्व में वेदियाँ बनी होती थीं जिनपर स्फटिक के मंगल-कलश सुशोभित रहते थे। इन कलशों को जल से भर दिया जाता था और ऊपर हरित आम्रपल्लव से आच्छादन करके अत्यन्त ललाम बना दिया जाता था। बाद में चलकर वेदी के पास पल्लवाच्छादित पूर्णकुंभ के उत्कीर्ण कर देने की भी प्रथा चल पड़ी थी। उन दिनों पूर्णकुंभ स्थापन की प्रथा इतनी व्यापक थी कि कवियों ने उपमा के लिये उसका व्यवहार किया है। हाल ने प्रेमिका के हृदयमंदिर में पधारने वाले प्रेमी के लिये सुसज्जित पूर्णकुंभ की जो कल्पना की थी वह इसी प्रथा के कारण—

रत्थापइण्ण अणुप्पला तुमं सा पडिच्छए एन्तम्
दारणिहिएहिँ दोहिँ वि मङ्गल कलसेहिं व थणेहिँ।

(गाथा० २.४०)

इन वेदियों के पीछे विशाल कपाट हुआ करते थे और दूर से प्रासाद के भीतर जानेवाली सोपान-पंक्तियाँ दिखाई देती थीं। सीढ़ियोंपर चंदन-कर्पूर आदि के संयोग से बना हुआ सुगंधित चूर्ण बिछा रहता था। इन्ही सीढ़ियों के आरंभ स्थान के पास दौवारिक या द्वारपाल बैठा रहता था। घर की देहली पर दधि और भात या अन्य खाद्यवस्तु देवताओं को दी हुई वलि के रूप में रख दी जाती थी जिसे या तो काक खा जाते थे या घर के पाले हुए सारस, मयूर लाव, तित्तिर आदि पक्षी (मृच्छ ४र्थ अंक)। चारुदत्त जब दरिद्र हो गया था तो इस गृह देहली में तृणांकुर उत्पन्न हो आए थे।

संस्कृत के काव्यों में जिन अन्तःपुरों का वर्णन मिलता है वे साधारणतः बड़े बड़े राजकुलों के या अत्यधिक संभ्रान्त लोगों के होते हैं। इसीलिये संस्कृत का कवि इनका वर्णन बड़े ठाटबाट से करता है। अन्तःपुर के भीतरी भाग की बनावट कैसी होती होगी इसका अनुमान ही हम काव्यों नाटकों आदि से कर सकते हैं। मृच्छकटिक का विदूषक अभ्यन्तर चतुःशाल या अन्तः चतुःशाल के द्वारपर बैठकर पक्वान्न खाया करता था। इस अन्तः चतुःशाल शब्द से अनुमान किया जा सकता है कि भीतर एक आंगन होता होगा और उसके चारों ओर शालाएं (घर) बनी होती होंगी। बराहमिहिर अन्तःपुर के चारों ओर अलिंदों या बरामदों की व्यवस्था देते हैं। इन बरामदों के खंभे शुरू में लकड़ी के हुआ करते थे, बाद में पत्थर और ईंट के भी बनने लगे थे। इन खंभोंपर भी शालभंजिकाएं बनी होती थीं। ये मूर्तियाँ सौभाग्य-सूचक होती थीं। रघुवंश के सोलहवें सर्ग में इन योषिन्मूर्तियों की बात है (१६.१७)। साँची, भरहुत, मथुरा, जागयपेट, भूतेश्वर आदि से खंभों और रेलिंगों पर खुदी हुई बहुत शालभंजिकाएं पाई गई हैं। पुराने काव्यों में अन्तःपुरिकाओं की परिचारिकाओं के जो विविध क्रियाकलाप हैं वे इन मूर्तियों में देखे जाते हैं। अनुमान होता है कि अन्तःचतुःशाल के स्तंभोंपर जो मूर्तियाँ उत्कीर्ण रहती होंगी उनमें भी शृंगार और मांगल्य के व्यंजक भावों का ही प्राधान्य रहता होगा।

इस अन्तःपुर से लगी हुई एक वृक्षवाटिका हुआ करती थी। इसके बीचोंबीच एक दीर्घिका या तालाब रहा करता था। जगह कम हुई तो कुएँ या बावड़ी से ही काम चला लिया जाता था, पर आज हम उन लोगों की बात नहीं करने जा रहे हैं जो भाग्यदेवी के त्याज्य-पुत्र हैं इसलिये कामचलाऊ चीजें बनानेवालों की चर्चा करके इस प्रसंग को छोटा नहीं बनने देंगे। तो, इस वृक्षवाटिका में फलदार वृक्षों के सिवा पुष्पों और लताकुञ्जों की भी व्यवस्था रहती थी। फूल के पौधे एक क्रम से लगाए जाते थे। बासगृह के आसपास छोटे छोटे पौधे, फिर क्रमशः बड़े गुल्म, फिर लतामंडप और सबसे पीछे बड़े बड़े वृक्ष हुआ करते थे। एक भाग में एक ही श्रेणी के फूल लगाए जाते थे। अंधकार में भी सहृदय नागर को यह पहचानने में आयास नहीं होता था कि इधर चंपकों की पाली है, यह सिंधुवार का मार्ग है, इधर वकुलों की घनी वीथी है और इस ओर पाटलपुष्पों की पंक्ति है—

पालीयं चम्पकानां नियतमयमसौ सुंदरः सिंधुवारः
सान्द्रा वीथी तथेयं बकुलविटपिनां पाटलापंक्तिरेषा
आघ्रायाघ्राय गंधं विविधमधिगतैः पादपैरेवमस्मिन्
व्यक्तिं पंथाः प्रयाति द्विगुणतरतमोनिह्नुतोऽप्येष चिह्नैः।

(रत्नावली ६.५३)

गृहस्वामिनी अपनी रंधनशाला के काम लायक़ तरकारियाँ भी इसी बाटिका के एक अंश में उत्पन्न कर लेती थीं। वात्स्यायन के कामसूत्र (पृ० २२८) में बताया गया है कि वे इस स्थानपर मूलक (मूली), आलुक (कंद), पलंकी (पालँग), दमनक (दवना), आम्रातक (आमड़ा), ऐर्वारुक (फूटी), त्रपुष (खीरा), वार्ताक (बैंगन), कुष्मांड (कुम्हड़े), अलावु (कद्दू), सूरण (सूरन), शुकनासा (अगस्ता), स्वर्णगुप्ता (कैंवाछ), तिलपर्णिका (शाक-विशेष), अग्निमंथ (करैला), लशुन, पलाण्डु (प्याज) आदि साग-भाजी उगाती थीं। इस सूची से जान पड़ता है कि भारतवर्ष आज से दो हज़ार वर्ष पहले जो साग-भाजियाँ खाता था वे अब भी बहुत परिवर्तित नहीं हुई हैं। इन साग-भाजियों के साथ ये मसाले भी गृहदेवियाँ स्वयं उत्पन्न कर लेती थीं—जीरा, सरसों, जवायन, सौंफ, तेजपात आदि। वाटिका के दूसरे भाग में कुब्जक (=मालती ?), आमलक (आंवला ?), मल्लिका (बेला), जाती (=चमेली ?) कुरण्टक (=कटसरैया) नवमालिका, तगर, जपा आदि पुष्पों के गुल्म भी गृहदेवियों के तत्त्वावधान में ही उगते थे। ये पुष्प नाना कार्यों में काम आते थे। इनसे घर सजाया जाता था, जल सुगंधित किया जाता था, नववधुओं का वासक-वेश तैयार होता था, स्थंडिलपीठिकाओं को सजाया जाता था और सब से बढ़कर देवपूजा की क्रिया सम्पन्न होती थी। वृक्षवाटिका की पुष्पिता लताएं कुमारियों का मनोविनोद करती थीं, नवदम्पती के प्रणय-कलह में शर्त बनती थीं और निराश प्रेमिका के गले में फांसी का काम भी करती थीं (रत्नावली ३य अंक)। अनुरागी नागरक और उसकी प्रियतमा में पुष्पों के प्रथम प्रस्फुटन को लेकर बाजी लगती, नाना कौशलों से मंत्र और मणि के प्रयोग से प्रिया के दर्शन-वीक्षण, पदाघात आदि से नाना वृक्ष-लताओं में अकाल कुसुम उद्गत होते थे। जब प्रेमिका हारती थी तो सौत की भांति फूली हुई अनुराग भरी लता को बारंबार आग्रहपूर्वक निहारनेवाले प्रियतम को देखकर उनका मुंह लाल हो उठता था—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणात्
आयासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम्।

(रत्नावली, द्वितीय अंक)

वृक्षवाटिका के अन्तिम किनारे पर बड़े बड़े छायादार वृक्ष—जैसे अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग, शिरीष आदि लगाए जाते थे क्योंकि इनको मांगल्य वृक्ष माना जाता था (वृ० सं ५५।३) और बीचोंबीच गृह-दीर्घिका हुआ करती थी। इन दीर्घिकाओं (तालाबों) में नाना भाँति के

जलपक्षियों का रहना मंगलजनक माना जाता था। इनमें कृत्रिम भाव से कमलिनी (पत्र पुष्प लता समेत कमल) उत्पन्न की जाती थी। वराहमिहिर ने लिखा है कि 'जिस सरोवर में नलिनी (=कमलिनी) रूप छत्र से सूर्य-किरणें निरस्त होती हैं, हंसों के कंधों से धकेली हुई लहरियाँ कल्हारों से टकराती हैं, हंस-कारण्डव, क्रौंच और चक्रवाकगण कल-निनाद करते रहते हैं और जिसके तटान्त की वेत्रवन-छाया में जलचर पक्षी विश्राम करते हैं ऐसे सरोवरों के निकट देवतागण प्रसन्न भाव से विराजते हैं।' (बृ० सं ५६-४-७) अनुमान किया जा सकताहै कि दीर्घिकाओं के तट पर वेत के कुंज भी रहते होंगे। काव्यों में ऐसे वेतस-कुंजों की चर्चा प्रायः पाई जाती है। इन्हीं दीर्घिकाओं के बीच में समुद्रगृह बनाए जाते थे। कामसूत्र (पृ० २८३-४) की गवाही पर हम कह सकते हैं कि समुद्रगृह पानी में बना करता था उसमें गुप्तभाव से पानी के संचारित हो जाने की व्यवस्था रहा करती थी। इस प्रकार ग्रीष्मकाल में भी ये समुद्रगृह बहुत ठंढे हुआ करते थे।

वात्स्यायन से पता चलता है (का० सू० पृ० ४५) कि इस वाटिका में सघन छाया में प्रेंखादोला या झूला लगाया जाता था और छायादार स्थानों में विश्राम के लिये स्थंडिल-पीठिकाएं (बैठने के आसन) बनाई जाती थीं जिनपर सुकुमार कुसुमदल बिछा दिए जाते थे। प्रेंखादोला की प्रथा वर्षाऋतु में ही अधिक थी। सुभाषितों में वर्षाऋतु के वर्णन के अवसर पर की प्रेंखादोलाओं का वर्णन पाया जाता है। आज भी सावन में झूले लगाए जाते हैं। वात्स्यायन ने जो छायादार वृक्षों की घनी छाया में झूला लगाने को कहा है सो इसी वर्षा से बचने के लिये हो; वस्तुतः वर्षाकाल ही प्रेंखाविलास का उत्तम समय है। द्युलोक और भूलोक में समानान्तर क्रियाओं के चलने की कल्पना कवियों ने इस प्रेंखा-विलास में किया है, और कौन कह सकता है कि जब कमलनयनाओं की आंखें दिशाओं को कमल फूल की आरती से नीराजित कर देती होंगी, आनंदोल्लास के हास से जब चंद्रिका की वृष्टि करती रहती होंगी और विद्युद्गौर कान्तिवाली तरुणियाँ तेजी से झूलती रहती होंगी तो आकाश में अचानक विद्युत् चमकने का भान नहीं होता होगा—

> दृशा विदधिरे दिशः कमलराजिनीराजिताः
>
> कृता हसितरोचिषा हरतिचन्द्रकावृष्टयः।
>
> अकारि हरिणीदृशः प्रबलदण्डकप्रस्फुरद्
>
> वपुर्विपुलरोचिषा वियति विद्युतां विभ्रमः।

भवन-दीर्घिका के एक पार्श्व में क्रीड़ा पर्वत हुआ करते थे जिनके इर्दगिर्द पाले हुए मयूर मँड़राते रहते थे। यहाँ अन्तःपुरिकाएं नाना भांति की विलास-लीलाओं में मग्न रहती थीं।

वाटिका में धारायंत्र या फव्वारे हुआ करते थे जहाँ अन्तःपुरिकाएं होली के दिनों अपनी पिचकारियों में जल भरा करती थीं और अबीर और सिंदूर से उसकी ज़मीन को लाल कीचड़ से आच्छादित कर देती थीं (रत्ना० प्रथम अंक) इन फव्वारों में जलदेवताएं हंस-मिथुन या चक्रवाक मिथुन बने होते थे जो जलधारा को उच्छ्वसित करते रहते थे। अलकापुरी में मेघदूत की यक्षिणी के अन्तःपुर में एक ऐसी ही वाटिका थी जिसमें यक्षप्रिया ने एक छोटे से मंदार वृक्षको—जिसके पुष्प-स्तवक हाथ की पहुँच के भीतर थे—पुत्रवत् पाल रखा था (मेघ० २-८०) इस उद्यान में मरकत मणियों की सोढ़ीवाली एक वापी थी जिसमें वैडूर्यमणि के नालों पर स्वर्णकमल खिले हुए थे और हंसगण विचरण कर रहे थे। इस वापी के तीर पर एक क्रीड़ापर्व्वत था वह इन्द्रनीलमणि से निर्मित था और कनक कदली से वेष्टित था। वाटिका के मध्य भाग में लालफूलोंवाले अशोक, और बकुल के वृक्ष थे, एक प्रिया के पदाघात से और दूसरा वदन-मदिरा से उत्फुल्ल होने की आकांक्षा रखता था (मेघ० २-८६)। इसमें माधवी लता का मंडप था जिसका बेड़ा (वृति) कुरबक या पियावसा के झाड़ों का था। कुरबक के झाड़ निश्चय ही उन दिनों उद्यानों और लता-कुंजों के बेड़े का काम करते थे। शकुन्तला जब प्रथम दर्शन में राजा दुष्यन्त की प्रेमपरवश हो गई और सखियों के साथ बिदा लेकर जाने लगी तो जानबूझ कर अपना वल्कल कुरबक की काँटेदार शाखा में उलझा दिया था ताकि उसके सुलझाने के बहाने फिरकर एकबार राजा को देखने का मौक़ा मिल जाय। निश्चय ही शकुन्तला के उद्यान का बेड़ा कुरबक पुष्पों के झाड़ का रहा होगा और बेड़ा पार करके चले जाने पर राजा का दिखाई देना संभव नहीं रहा होगा, इसलिये चलते-चलते मुग्धा प्रेमिका ने अन्तिम बार कौशल का सहारा लिया होगा। सो, इस कुरबक के बेड़ेवाले मंडप में ही सोने की वास-यष्टि पर यक्षप्रिया का वह पालतू मयूर बैठा करता था जिसे वह अपनी चूड़ियों की मंजुध्वनि से नचा लिया करती थी। उन दिनों के गृहपालित पक्षी निश्चय ही बहुत भोले होते होंगे क्योंकि मयूर चूड़ियों की झनकार से नाच उठता था (मेघ० २-८७), भवनदीर्घिका का कलहंस नूपुरों की रुनझुन से कोलाहल करने लगता था (कादम्बरी, पूर्वभाग) और मुग्ध सारस रसना (करधनी) के मधुर रसित से उत्सुक होकर अपने क्रेंकार से वायुमंडल कँपा देता था (कादं० पूर्व०)। बहुत भीतर जाने पर यक्षप्रिया के शयनकक्ष के पास पिंजड़े में मधुरभाषिणी सारिका थी जिससे वह यदाकदा अपने प्रिय की बातें पूछा करती थी (मेघ० २-८७)। सांची-तोरण पर जो ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी की उत्कीर्ण प्रतिकृतियां पाई गई हैं उनमें कनक-कदली से वेष्टित ऐसी भवन दीर्घिकाएं भी पाई गई हैं और कल्पवृक्ष के छायातले क्रीड़ापर्वत भी पाए गए हैं जिनके द्वारा प्रेमियों की प्रेमलीलाएं बहुत अभिराम भाव से दिखाई गई हैं। रेलिंगों और स्तंभों पर हस्तप्राप्य-स्तवक-

नमित मंदार वृक्ष भी हैं और पंजरस्था सारिकावाली प्रेमिका यक्षिणी भी। इस प्रकार जिस युग की कहानी हम कह रहे हैं उस युग में ये बातें बहुत अधिक प्रचलित रही होंगी, ऐसा अनुमान होता है।

बाणभट्ट की कादम्बरी में एक स्थान पर अन्तःपुर का बड़ा ही जीवन्त और रसमय वर्णन है। इस वर्णन से हमें कुछ काम लायक बातें जानने को मिल सकती हैं, वैसे, यह वर्णन उस किन्नरलोक का है जहाँ कभी किसीको कोई चिन्ता नहीं होती। वह उन वित्तेशों का अन्तःपुर है जिनके विषय में कालिदास के शब्दों में यों कहा जा सकता है कि वहाँ किसीकी आँख में अगर आंसू हैं आते तो आनन्द-जन्य ही और किसी कारण से नहीं ; प्रेम-बाण की पीड़ाओं के सिवा वहां और कोई पीड़ा नहीं होती और यह पीड़ा होती भी है तो इसका फल अभीष्ट व्यक्ति की प्राप्ति ही होती है, वहाँ प्रेमियों में प्रणय-कलह के क्षणस्थायी काल के अतिरिक्त और कभी वियोग होता ही नहीं और यौवन के सिवा और कोई अवस्था उन लोगों की जानी ही हुई नहीं है—

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तैः
नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्मात् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥

(मेघ० २-४)

तो ऐसे भाग्यशालियों के अन्तःपुर में कुछ बातें ऐसी ज़रूर होंगी जो हमारी समझ के बाहर की होंगी। उस अन्तःपुर में कोई लवलिका केतकी (केवड़े) की पुष्पधूलि से लवली (हरफारे-वड़ी) के आलवालों को सजा रही थी, कोई सागरिका गंधजल की वापियों में रत्नवालुका निक्षेप कर रही थी, कोई मृणालिका कृत्रिम कमलिनियों के यंत्र-चक्रवाकों के ऊपर कुंकुम-रेणु फेंक रही थी, कोई मकरिका कपूर पल्लव के रस से गंधपात्रों को सुवासित कर रही थी, कोई रजनिका तमाल-वीथिका के अन्धकार में मणियों के प्रदीप सजा रही थी, कोई कुमुदिका पक्षियों के निवारण के लिये दाड़िमी फलों को मुक्ताजाल से अवरुद्ध कर रही थी, कोई निपुणिका मणि-पुत्तलियों के वक्षःस्तल पर कुंकुम रस से चित्रकारी कर रही थी, कोई उत्पलिका कदलीगृह की मरकत वेदिकाओं को सोने की सम्मार्जनी (झाड़ू) से साफ़कर रही थी, कोई केसरिका बकुल कुसुम के मालागृहों को मदिरा-रस से सींच रही थी और कोई मालतिका कामदेवायतन की हाथीदाँत की बनी वलभिका (मंडप) को सिन्दूररेणु से पाटलित कर रही थी। वे सारी बातें ऐसी हैं जिनका अर्थ हम दरिद्र लेखनीधारियों की समझ में नहीं आ सकता। हम केवल आंखें फाड़ फाड़कर देखते ही

रह जाते हैं कि मधुमक्खियों की भी अपेक्षा अधिक व्यस्त दिखनेवाले इस अन्तःपुर के इन व्यापारों का अर्थ क्या है। खैर, आगे कुछ ऐसी बातें भी हैं जो समझ में आ जाती हैं। वहां कोई नलिनिका भवन के कलहंसों को कमल का मधुरस पान कराने जा रही थी, कोई कदलिका मयूरों को धारागृह या फ़व्वारे के पास लेजा रही थी—शायद वलय-झंकार से नचा लेने के लिये!—कोई कमलिनिका चक्रवाक-शावकों को मृणाल क्षीर पिला रही थी, कोई चूतलतिका कोकिलों को आम्रमंजरी का अंकुर खिलाने में लगी थी, कोई पल्लविका मरिच (काली-मिर्च) के कोमल किसलयों को चुन चुनकर भवनहारीतों को खिला रही थी, कोई लवंगिका चकोरों के पिंजड़ों में पिप्पली के मुलायम पत्ते निक्षेप कर रही थी, कोई मधुरिका पुष्पों का आभरण बना रही थी और इस प्रकार सारा अन्तःपुर पक्षियों की सेवा में व्यस्त था। सबसे भीतर वचन-मुखरा सारिका (मैना) और विदग्ध शुक (तोता) थे जिनके प्रणय-कलह की शिक्षा पूरी हो चुकी थी और कुमार चन्द्रापीड़ के सामने अपना वैदग्ध्य-विलास की विद्या का प्रदर्शन करके सारिका ने कादम्बरी के अधरों पर लज्जायुक्त मुसुकान की एक हल्की रेखा प्रकट कर दी थी।

प्राचीन भारत का अन्तःपुर वस्तुतः सभी प्रकार की सुकुमार कलाओं का घर था। यद्यपि साधारण श्रेणी के नागरिकों के अन्तःपुर या बहिः प्रकोष्ठ उतने समृद्धि-युक्त नहीं हुआ करते होंगे जितना कि साधारणतः उस युग के राजभवनों का वर्णन मिलता है पर निस्सन्देह कला और विद्या के आश्रय स्थान अन्तःपुर थे। मृच्छकटिक नाटक में एक छोटा-सा वाक्य आता है जो काफी अर्थ-पूर्ण है। इस नाटक के नायक चारुदत्त का एक पुराना संवाहक भृत्य था जिसने संवाहन कला अर्थात् शरीर दबाने और सजाने की विद्या सीखी थी। उसने दरिद्रतावश नौकरी कर ली थी। यही संवाहक अपने मालिक चारुदत्त की दरिद्रता के कारण नौकरी छोड़कर जुआ खेलने का अभ्यासी हो गया। एक बार चारुदत्त की प्रेमिका गणिका वसन्तसेना ने उसकी विद्या की प्रशंसा करते हुए कहा कि भद्र, तुमने बहुत सुकुमार कला सीखी है तो उसने प्रतिवाद करके कहा—नहीं आर्ये, कला समझकर सीखी ज़रूर थी, पर अब तो वह जीविका हो गई है।' इस कथन का अर्थ यह हुआ कि जीविका उपार्जन के काम में लगाई हुई विद्या, कला के सुवर्ण-सिंहासन से विच्युत मान ली जाती थी। यही कारण था कि धनहीन नागरकगण सर्वकला-पारंगत होने पर नागरक के ऊंचे आसन से उतरकर विट होने को बाध्य होते थे। संवाहक का कार्य भी जो एक कला है वह अन्तःपुर में ही प्रकट होती थी। अन्तःपुरिकाओं के वेशविन्यास में इस कला का पूर्ण उपयोग होता था। संभ्रान्त परिवारों में अनेक संवाहिकाएं होती थीं जो गृहस्वामिनी का चरण संवाहन भी करती थीं और नाना आभरणों से उस छविगृह को दीपशिखा से जगमग करने का कार्य भी

करती थीं। नागरकों को भी संवाहन आदि कर्म सीखने पड़ते थे। वियोगिनी प्रियतमा से हठात् मिलन होने पर शीतल क्रमविनोदन व्यजन की मीठी मीठी हवा जिस प्रकार आवश्यक होती थी उसी प्रकार कभी कभी यह भी आवश्यक हो जाता था कि प्रिया के लाल लाल कमल कोमल चरणों को गोद में रखकर इस प्रकार दबाया जाय कि उसे अधिक दबाव का क्लेश भी न हो और विरह-विधुर मज्जा-तंतुओं को प्रिय के करतल-स्पर्श का अमृत रस भी प्राप्त हो जाय। इसीलिये नागरक को ये कलाएं जाननी पड़ती थीं। राजा दुष्यन्त ने वियोगिनी शकुन्तला से दोनों ही प्रकार की सेवा की अनुज्ञा मांगी थी—

> किं शीतलैः क्रमविनोदिभिरार्द्रवातैः संचालयामि नलिनीदलतालवृन्तम्।
> अङ्के निधाय चरणावुतपद्मताम्रौ संवाहयामि करभोरु यथासुखं ते ॥
>
> (शकु० ३य अंक)

नागरक के विशाल प्रासाद का बहिःप्रकोष्ठ, जिसमें नागरक स्वयं रहा करता था बहुत ही शानदार होता था। उसमें एक शय्या पड़ी रहती थी जिसके दोनों सिरों पर दो तकिया या उपाधान होते थे और ऊपर सफेद चादर या प्रच्छदपट पड़े होते थे। यह बहुत ही नर्म और बीच में झुका हुआ होता था। इसके पास ही कभी कभी एक दूसरी शय्या (प्रतिशय्यिका) भी पड़ी होती थी जो उससे कुछ नीची होती थी। शय्या बनाने में बड़ी सावधानी बर्ती जाती थी। साधारणतः असन, स्यंदन, हरिद्र, देवदारु, चन्दन, शाल आदि वृक्षों के काष्ठ से शय्याएं बनती थीं पर इस बात का सदा खयाल रखा जाता था कि चुना हुआ काष्ठ ऐसे किसी वृक्ष से न लिया गया हो जो वज्रपात से गिर गया था या बाढ़ के धक्के से उखड़ गया था, या हाथी के प्रकोप से धूलिलुंठित हो गया था, या ऐसी अवस्था में काटा गया था जब कि वह फलफूल से लदा था या पक्षियों के कलरव से मुखरित था, या चैत्य या श्मशान से लाया गया था या सूखी लता से लिपटा हुआ था (बृ० सं० ७९.३)। ऐसे अमंगलजनक और अशुभ वृक्षों को पुराना रईस अपने घर के सबसे अधिक सुकुमार स्थान पर नहीं ले आ सकता था। वराहमिहिर ने ठीक ही कहा है कि राज्य का सुख गृह है, गृह का सुख कलत्र है और कलत्र का सुख कोमल और मंगलजनक शय्या है, सो शय्या गृहस्थ का मर्मस्थान है। चंदन की खाट सर्वोत्तम मानी जाती था; तिंदुक, शिंशपा, देवदारु, असन के काठ अन्य वृक्षों के काठ से नहीं मिलाए जाते थे। शाक और शाल का मिश्रण शुभ हो सकता था। हरिद्रक और पदुमकाठ अकेले भी और मिलकर भी शुभ ही माने जाते थे। चार से अधिक काष्ठों का मिश्रण किसी प्रकार पसंद नहीं किया जाता था। शय्या में गजदन्त का लगाना शुभ माना जाता था पर शय्या के लिये गजदन्त का पत्तर काटना बड़ा भावाजोखी का व्यापार माना जाता था। उस दन्तपत्र के काटते समय भिन्न

भिन्न चिह्नों से भावी मंगल या अमंगल का अनुमान किया जाता था। खाट के पायों में गांठ या छेद बहुत अशुभ समझे जाते थे। इस प्रकार नागरक की खाट की रचना एक कठिन समस्या हुआ करती थी (बृ० सं० ७८ अ०)। यह तो स्पष्ट ही है कि आज के रईस की भाँति आर्डर देकर कोच और सोफे की व्यवस्था को हमारा पुराना रईस एकदम पसन्द नहीं करता होगा। बृहत्संहिता से यह भी पता चलता है कि खाट सब श्रेणी के आदमियों के लिये बराबर एक जैसी ही नहीं बनती थी। भिन्न भिन्न स्टेटस के व्यक्तियों के लिये भिन्न भिन्न माप की शय्याएं बनती थीं। शय्या के सिरहाने कूर्चस्थान पर नागरक के इष्टदेवता की कलापूर्ण मूर्ति रहती थी और उसके पास ही वेदिका पर माल्य चंदन और उपलेपन रखे होते थे। इसी वेदिका पर सुगंधित मोमबत्ती की पिटारी (सिक्थ-करण्डक) और इत्रदान (सौगंधिक पुटिका) रखा रहता था। मातुलुंग की छाल और पान के बीड़ों के रखने की जगह भी यही थी। नीचे फर्शपर पीकदान या पतद्ग्रह रखा होता था। ऊपर हाथी दाँत की खूटियोंपर कपड़े के थैले में लिपटी हुई वीणा रहती थी, चित्रफलक हुआ करता था, तूलिका और रंग के डिब्बे रखे होते थे, पुस्तकें सजी होती थीं और बहुत देर तक ताज़ी रहने वाली कुरण्टक माला भी लटकती रहती थी। दूर एक आस्तरण (दरी ?) पड़ा रहता था जिसपर द्यूत और शतरंज खेलने की गोटियाँ रखी होती थीं। उस कमरे के बाहर क्रीड़ा के पक्षियों अर्थात् शुक सारिका लाव तित्तिर कुक्कुट आदि के पिंजड़े हुआ करते थे। शर्विलक नामक चोर जब चारुदत्त के घर में घुसा था तो उसने आश्चर्य के साथ देखा था कि उस रसिक नागरक के घर में कहीं मृदंग कहीं दर्दुर, कहीं पणव, कहीं वंशी और कहीं पुस्तकें पड़ी हुई थीं। एक बार तो वह यह भी सोचने लगा था कि यह किसी नाट्याचार्य का घर तो नहीं है! क्योंकि ये वस्तुएं एक ही साथ केवल दो स्थानों पर संभव थीं—धनी नागरक के बैठक-गृह में या फिर उस नाट्याचार्य के गृह में जिसने कला को आजीविका बना लिया हो। चोर ने घर की दशा से सहज ही यह अनुमान कर लिया था कि धनी आदमी का घर तो यह होने से रहा! नाट्याचार्य का हो तो हो भी सकता है।

वीणा और चित्रफलक ये दो वस्तुएं उन दिनों के सहृदय के लिये नितान्त आवश्यक वस्तु थीं। चारुदत्त ने ठीक ही कहा था कि वीणा जो है सो असमुद्रोत्पन्न रत्न है, वह उत्कंठित की संगिनी है, उकताए हुए का विनोद है, विरही का ढाढ़स है और प्रेमी का रागवर्धक प्रमोद है—

उत्कंठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या संकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः॥

(मृच्छकटिक ३.४)

प्राचीन काव्य-साहित्य में इसकी इतनी चर्चा है कि सबका संग्रह कर सकना बड़ा कठिन कार्य है। सरस्वतीभवन से लेकर कामदेवायतन तक और वासकशयन से शिवमंदिर तक सर्वत्र इसकी पहुँच है। कामसूत्र से जान पड़ता है कि उन दिनों गंधर्वशाला में प्रत्येक नागरक के लड़के को जो बातें सीखना ज़रूरी थीं उनमें सर्वप्रधान हैं गीत, वाद्य, नृत्य और आलेख्य। वाद्य में वीणा डमरू और वंशीका उल्लेख है। डमरू भारतवर्षका पुरातन वाद्य है, उसीका विकास मृदंग के रूप में हुआ है। कहते हैं कि मृदंग संसार का सर्वोत्तम वैज्ञानिक वाद्य है।

ऊपर नागरक के बहिः प्रकोष्ठ का जो वर्णन दिया गया है वह वात्स्यायन के कामसूत्र के आधार पर है। यह वर्णन वास्तविक है पर उक्त आचार्य ने अन्तःपुर के भीतर के शयनकक्ष का ऐसा ब्योरेवार वर्णन नहीं दिया है। इसीलिये उसकी जानकारी के लिये हमें कल्पना-प्रधान काव्यों और आख्यायिकाओं का सहारा लेना पड़ेगा। सौभाग्यवश काव्य की अतिशयोक्तियों और आलंकारिकताओं को छाँटकर निकाल देने से जो चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है उसका समर्थन कई और मूलों से हो जाता है। प्राचीन प्रासादों का जो उद्धार हुआ है उनसे यह चित्र मिल जाता है और उपयोगी कला सिखाने के उद्देश्य से जो पुस्तकें लिखी गई हैं उनसे भी उसका समर्थन प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार निस्संकोच रूप से कहा जा सकता है कि काव्यों के वर्णन तथ्य पर ही आश्रित हैं।

अन्तःपुर के शयनकक्ष में जो शय्या पड़ी रहती थी उसके पास कोई और प्रतिशय्यिका या अपेक्षाकृत नीची शय्या रहती थी या नहीं इसका कोई उल्लेख हमें काव्यों में नहीं मिला है। कादम्बरी का पलँग बहुत बड़ा नहीं था, वह एक नीली चादर और धवल उपधान (सफेद तकिया) से समाच्छादित था, कादम्बरी उस शय्या पर वाम बाहुलता को ईषद्वक्र भाव से तकिया पर रख अधलेटी अवस्था में परिचारिकाओं को भिन्न भिन्न कार्य करने का आदेश दे रही थी। यह तो नहीं बताया गया है कि किसी इष्टदेवता की मूर्ति वहां थी या नहीं पर वेदिका पर ताम्बूल और सुगंधित उपलेपन अवश्य थे। दीवालों पर इतने तरह के चित्र बने थे कि चंद्रापीड़ को भ्रम हुआ था कि सारी दुनिया ही कादम्बरी की शोभा देखने के लिये चित्र रूप में सिमट आई थी। दीवालों के ऊपरी भाग पर कल्पवल्ली के चित्र का भी अनुमान होता है क्योंकि सैकड़ों कन्याओं ने उस कल्पवल्ली के समान ही कादम्बरी को घेर लिया था। छत में अधोमुख विद्याधरों के मनोहर चित्र अंकित थे। नील चादर के ऊपर श्वेत तकिये का सहारा लेकर अर्द्धशयित कादम्बरी महावराह के श्वेत दंत का आश्रय ग्रहण की हुई धरित्री की भाँति मोहनीय दिख रही थी। काव्य ग्रन्थों के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि केवल नीली ही नहीं, नाना रंगों

की और बिनारंग की भी चादरें शय्या के आस्तरण के लिये व्यवहृत होती थीं। ताम्बूल और अलक्तक से रंगी चादरें सखियों के परिहास का मसाला जुटाया करती थीं।

भरहुत (द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व) में नाना भाँति की कल्पवल्लियों का संधान पाया गया है। इसपर से अनुमान किया जा सकता है कि दीवालों और छतों की धरनों पर अंकित कल्पवल्लियाँ कैसी बनती होंगी। इन वल्लियों में नाना प्रकार के आभूषण, वस्त्र, पुष्प, फूल, मुक्ता रत्न आदि लटके हुए चित्रित हैं। इन वल्लियों का अभ्यन्तर गृह में होना उन दिनों मांगल्य समझा जाता था। विद्याधरों के तो अनेक चित्र नाना स्थानों से उद्धार किए गए हैं। अभिलषितार्थचिन्तामणि आदि ग्रन्थों में इस भीत की चित्रकारी का विशद वर्णन दिया हुआ है। समृद्ध लोगों के घर की दीवालें स्फटिक मणि के समान स्वच्छ और दर्पण के समान चिकनी हुआ करती थीं। उनके ऊपर 'सूक्ष्म रेखा-विशारद' कलाकार, जो 'विद्युत्-निर्माण' में कुशल हुआ करते थे, पत्रलेखन में कोविद होते थे, वर्णपूरण या रंग भरने की कला के उस्ताद हुआ करते थे (३·१३४) नाना रस के चित्र अंकित करते थे। दीवाल को पहले समान करके चूने से बनाया जाता था और फिर उसपर एक लेप द्रव्य लगाते थे जो भैंस के चमड़े को पानी में घोटकर बनाया जाता था। इससे एक प्रकार का ऐसा वज्रलेप बनाया जाता था जो गर्म करने पर पिघल जाता था और दीवाल में लगाकर हवा में छोड़ देने से सूख जाता था (३·१३४)। वज्रलेप में सफेद मिट्टी मिलाकर या शंखचूर्ण और सिता (मिश्री) डालकर भित्ति को चिकनी करते थे (३·१४७) या फिर नीलगिरि में उत्पन्न नग नामक सफेद पदार्थ को पीसकर उसमें मिलाते थे। रंग की स्थायिता के लिये भी नाना प्रकार के द्रव्यों के प्रयोग की बात पुराने ग्रंथों में लिखी हुई है। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार तीन प्रकार के ईंट के चूर्ण साधारण मिट्टी गुग्गुल मोम महुए का रस, मुसक, गुड़, कुसुंभतेल और चूने को घोटकर उसमें दो भाग कच्चे बेल का चूर्ण मिलाते थे। फिर अन्दाज़ से उपयुक्त मात्रा में बालुका देकर भीत पर एक महीने तक धीरे धीरे पोतते थे। इस प्रकार की और भी बहुतेरी विधियां दी हुई हैं जो सब समय ठीक ठीक समझ में नहीं आतीं। भीत ठीक हो जाने पर उसपर चित्र बनाए जाते थे।

चित्रों में कई प्रकार के रंग काम में लाए जाते थे। घने बांस की नलिका के आगे तांबे का सूच्यग्र शंकु लगाते थे जो जौ भर भीतर और इतना ही बाहर रहता था। इसे तिन्दुक कहते थे। तूलिका में बछड़े के कान के पास के रोएँ लगाए जाते थे और चित्र की रेखाओं के लिये मोम और भात में काजल रगड़कर काला रंग बनाते थे। वंशनाली के आगे लगे हुए ताम्रशंकु से महीन रेखा खींचने का कार्य किया जाता था। चित्र केवल रेखाओं के भी होते थे और रेखाओं में रंग भरकर भी बनाए जाते थे। 'लाइट और शेड' की भी प्रथा थी।

अभिलषितार्थ में कहा गया है कि जो स्थान निम्नतर हो वहां एक रंगे चित्र में श्यामलवर्ण होना चाहिए और जो स्थान उन्नत हो वह उज्ज्वल या फीके रंग का। रंगीन चित्रों में नाना प्रकार के रंगों का विन्यास करते थे। श्वेतरंग शंख को चूर्ण करके बनाया जाता था, शोण दरद से; रक्त (लाल) अलक्तक से, लोहित गेरू से, पीत हरिताल से, और काला रंग काजल से बनता था। इनके मिश्रण से, कमल, सौराश्व (?) घोरात्व (?) धूमच्छाय, कपोताभ, अतसीपुष्पाभ, नीलकमल के समान, हरित, गौर, श्याम, पाटल, कर्वुर आदि अनेक मिश्र रंग बनते थे।

अन्तःपुरिकाओं के मनोविनोद के अनेक साधन थे जिनमें चित्रकर्म का प्रमुख स्थान था। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के चित्रसूत्र में कहा गया है (३'४५'२८) कि समस्त कलाओं में चित्रकला श्रेष्ठ है। वह धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारों पदार्थों को देनेवाली है। जिस गृह में इस कला का वास रहता है वह परम मांगल्य होता है। हमने पहले ही देखा है कि उन दिनों प्रत्येक सुसंकृत व्यक्ति के कमरे में चित्रफलक और समुद्रक या रंगों की डिबिया का रहना आवश्यक माना जाता था। अन्तःपुरिकाएं अवसर मिलने पर इस विद्या के द्वारा अपना मनोविनोद करती थीं। चित्र नाना आधारों पर बनाए जाते थे—काठ या हाथी दाँत के चित्र फलक पर, चिकने शिलापट्ट पर, कपड़े पर और भीत पर। भीत पर के चित्रों की चर्चा ऊपर हो चुकी है। पंचदशी नामक वेदांत ग्रंथ से जान पड़ता है कि कपड़े पर बनाए जानेवाले चित्र चार अवस्थाओं से गुज़रते थे, धौत, घट्टित, लांछित और रंजित। कपड़े का धोया हुआ रूप धौत है, उसपर चावल आदि के माँड़ से घोंटाई 'मंडित' है, फिर काजल आदि की सहायता से रेखांकन लाञ्छित है और उसमें रंग भरना 'रञ्जित' अवस्था है (६'१-३)। सम्भ्रान्त परिवार में अन्तःपुर की देवियों में चित्रविद्या का कैसा प्रचार था इसका अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि कामसूत्र में जो उपहार लड़कियों के लिये अत्यन्त आकर्षक हो सकते हैं उनकी सूची में एक पटोलिका का स्थान प्रधान रूप से है। इस पटोलिका में अलक्तक, मनःशिला, हरिताल, हिंगुल और श्यामवर्णक (राजावर्त का चूर्ण ?) रहा करते थे। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इन पदार्थों से शुद्ध और मिश्र रंग बनाए जाते थे। संस्कृत नाटकों में शायद ही कोई ऐसा हो जिसमें प्रेमी या प्रेमिका अपनी विरह वेदना को प्रिय का चित्र बनाकर न हल्की करती हो। कालिदास के ग्रंथों से जान पड़ता है कि विवाह के समय देवताओं के चित्र बनाकर पूजे जाते थे, वधुओं के दुकूल पट्ट के आँचल में हंसों के जोड़े आँक दिए जाते थे, और चित्र देखकर वरवधू के विवाह संबंध ठीक किए जाते थे।

चार प्रकार के चित्रों का उल्लेख पुराने ग्रंथों में आता है। विद्ध अर्थात् जो वास्तविक वस्तु से इस प्रकार मिलता हो जैसे दर्पण में की छाया, अविद्ध या काल्पनिक अर्थात् चित्रकार के

भावोल्लास की उमंग के बनाए हुए चित्र, रसचित्र और धूलिचित्र। सभी चित्रों में विद्धता की प्रशंसा होती थी। विष्णुधर्मोत्तर उस उस्ताद को ही चित्रविद कहने को राज़ी है जो सोए आदमी में चेतना दिखा सके, मरे में उसका अभाव चित्रित कर सके। निम्नोन्नत विभाग को ठीक ठीक अंकित कर सके, तरंग की चंचलता अग्निशिखा की कम्प्रगति, धूम का तरंगित होना, और पताका का लहराना दिखा सके। वस्तुतः उन दिनों चित्रविद्या अपने चरम उत्कर्ष को पहुंच चुकी थी।

अन्तःपुर की कुमारियाँ विवाहिता वधुओं की अपेक्षा अधिक कला-प्रवण होती थीं। वे वीणा बजा लेती थीं, वंशीवाद्य में निपुण होती थीं, गान विद्या में दक्षता प्राप्त करती थीं, द्यूत क्रीड़ा की अनुरागिणी होती थीं, अष्टापद या पासा की जानकार होती थीं, चित्रकर्म में मिहनत करती थीं, सुभाषितों का पाठ कर सकती थीं और अन्य अनेकविध कलाओं में निपुण होती थीं। अन्तःपुर की वधुएँ पर्दे में रहती थीं, उनके सिर पर अवगुंठन या घूंघट हुआ करता था और चार अवसरों के अतिरिक्त अन्य किसी समय उन्हें कोई देख नहीं सकता था। ये चार अवसर थे यज्ञ, विवाह, विपत्ति और वनगमन। इन चार अवस्थाओं में वधू का देखना दोषावह नहीं माना जाता था। प्रतिमा नाटक में इसीलिये श्रीरामचंद्र ने कहा है—

स्वैरं हि पश्यन्तु कलत्रमेतद्
वाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः।
निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो
यज्ञे विवाहे व्यसने वने च।

(प्रतिमा० १-२९)

व्यसन अर्थात् विपत्ति के देखने का मौक़ा हमें इस प्रसंग में नहीं मिलेगा, परन्तु प्राचीन भारत की अन्तःपुर-वधु को यदि हम व्यसन (विपद्) के अवसर पर न देखें तो उसका ठीक ठीक परिचय नहीं पा सकते। वधू के व्यसन कई थे, रोग, शोक, सपत्नी-निर्यातन, पति का औदासीन्य और सबसे बढ़कर पुत्र का न होना। इस अवसरों पर वह कठिन व्रतों का अनुष्ठान करती थी, ब्राह्मणों और देवताओं की पूजा करती थीं, उपवास करके स्नानादि से पवित्र हो गुग्गुल धूम से धूपित चण्डीमण्डप में कुशासन बिछाकर वास करती थी, गोशालाओं में जाकर सौभाग्यवती धेनुओं—जिन्हें वृद्ध गोपिकाएं सिंदूर चंदन और माल्य से पूजा कर देती थीं—की छाया में स्नान करती थी, रत्नपूर्ण तिलपात्र ब्राह्मणों को दान करती थी, ओझों की शरण जाती थी और कृष्ण चतुर्दशी की रात को चतुष्पथ (चौराहे) पर दिक्पालों को बलि देती थी, ब्राह्मी आदि

मातृकाओं की पूजा करती थी, अश्वत्थादि वृक्षों की परिक्रमा करती थी, स्नान के पश्चात् चांदी के पात्र में अक्षत दधिमिश्रित अन्न का उपहार काकों को खिलाती थी, पुष्प धूप आदि से दुर्गादेवी की पूजा करती थी, सत्यवादी क्षपणक साधुओं को अन्न का उपढौकन देकर भावी मंगल के विषय में प्रश्न करती थी, विप्रश्निका कही जानेवाली स्त्री ज्योतिषियों से भाग्य गणना कराती थी ; अंगों का फड़कना तथा अन्यान्य शुभाशुभ शकुनों का फल दैवज्ञ से पूछती थी, तांत्रिक साधकों के बताए गुप्त मंत्रों का जप करती थी, ब्राह्मणों से वेदपाठ कराती थी, स्वप्न का फल ग्रहाचार्यों से पुछवाती थी और चत्वर में शिवाबलि (शृगालियों को उपहार) देती थी (कादंबरी)। इस प्रकार यद्यपि वह अवरोध में रहती थी तथापि पूजा, पाठ और अपने विश्वास के अनुसार अन्यान्य मांगल्य अनुष्ठानों के समय वह बाहर निकल सकती थी ।
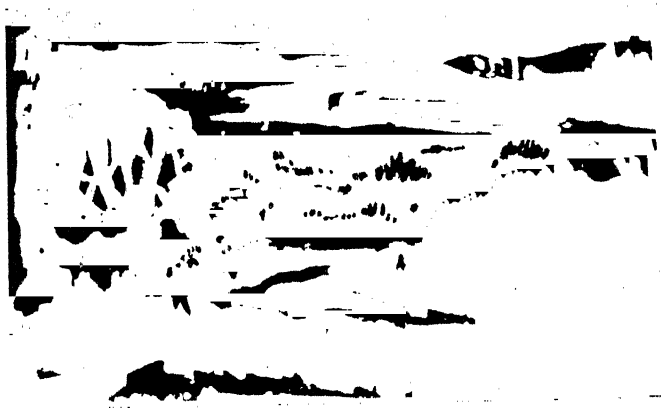
छन्दस्

विधुशेखर भट्टाचार्य

संस्कृत में पद्य शब्द के लिये छन्दस् का व्यवहार होता है। विचारणीय यह है कि छन्दस् शब्द का ऐसा अर्थ क्यों होता है? यास्क ने कहा है कि "छन्दांसि च्छादनात्" (निरुक्त ७.१२) अर्थात्, छादन करने के कारण छंद, 'छन्दस्' कहे जाते हैं। निश्चय ही यह लाक्षणिक प्रयोग है क्योंकि छादन का वाच्यार्थ ढँकना है और कोई भी वस्तु छंद से नहीं ढँकती। उक्त व्याख्या निस्संदेह छान्दोग्य उपनिषद (१.४.२)[1] की निम्नलिखित पंक्ति पर आधारित है या ऐसे ही किसी वैदिक वाक्य से संबद्ध है :

"देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्। ते छन्दोभिरच्छादयन्। यदेभि-रच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।"

अर्थात् देवता लोग मृत्यु से डरते हुए त्रयी विद्या में प्रविष्ट हुए। उन्होंने अपने आपको छन्दों से आच्छादित किया। चूंकि उन्होंने अपनेको इन छन्दों से आच्छादित किया इसीलिये छन्द, 'छन्दस्' कहे जाने लगे।

दैवतब्राह्मण (३.१९) में इस प्रकार आता है :

"छन्दांसि (छदयति)[2] छन्दयतीति वा

और सायण ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है :

"छन्द संवरणे छादयति वर्णानि [इति]। तथाच निरुक्तम् छन्दांसि छादनात्।"

सायण के अनुसार, जैसा कि हम उक्त उद्धरण से जान सकते हैं, छन्दस् शब्द छद् या छन्द् (= ढँकना) धातु से बना है। वस्तुतः यह वही बात है जो निरुक्त और छान्दोग्य के उपर्युक्त उद्धरणों में पाई गई है।

१. दुर्गाचार्य ने अपनी टीका में, संभवतः स्मरणशक्ति के सहारे इसे उद्धृत किया है। वहां कुछ पाठ भेद है।

२. या छादयति। मैंने यहां जीवानन्द के संस्करण का उपयोग किया है जो बिल्कुल विश्वसनीय नहीं है। परवर्ती शब्द स्पष्ट ही सूचित करते हैं कि यहां कम-से-कम एक ऐसा ही शब्द रह गया है। सायण का भाष्य भी इस संस्करण में है, वह भी सब समय शुद्ध नहीं छपा।

इस प्रकार से छन्दस् शब्द, छद् या छन्द् धातु से बना है। वस्तुतः ये दोनों धातु एक ही हैं केवल रूप दो हैं जो कभी छद् के रूप में और कभी छन्द् के रूप में पाया जाता है। संस्कृत में ऐसे धातु और भी हैं जैसे मथ्—मन्थ्। मथन और मन्थन दोनों ही रूप पाए जाते हैं।

इस धातु का वास्तविक अर्थ क्या है और यहां किस उद्देश्य से प्रयोग हुआ है और छन्दस् शब्द पद्य के अर्थ में क्यों व्यवहृत हुआ है इन बातों की जांच के लिये हम छद् और छन्द् धातु से बने कुछ अन्य शब्दों पर विचार करें।

निघंटु (३.१४) में प्रशंसा करने या आदर करने के अर्थ में ("अर्चति-कर्मन्") जो धातु गिनाए गए हैं उनमें छन्दति, छदयते और रञ्जयति भी हैं। हम सभी जानते हैं कि इसका अर्थ प्रसन्न करना, और संतुष्ट करना है। शतपथ ब्राह्मण (८.५.२.१) के निम्न-लिखित उद्धरण से दो उद्देश्य सिद्ध हो सकते हैं, एक तो इस धातु का अर्थ स्पष्ट हो जाता है और दूसरा छन्दस् शब्द का ठीक तात्पर्य समझ में आ जाता है :

"तान्यस्मा अच्छन्दयंस्तानि यदस्मा अच्छन्दयंस्तस्माच्छन्दांसि।"

अर्थात्, उन्होंने (छन्दों ने) उसे प्रसन्न किया (अच्छन्दयंन्) और इस प्रसन्न (छन्द) करने के कारण ही वे 'छन्दस्' कहलाए।

कविच्छद् (ऋग्वेद ३.१२.१५) अर्थात्, कवियों को प्रसन्न करनेवाला, इस शब्द में आया हुआ छद् धातु का प्रयोग भी लक्ष्य करने योग्य है।

वेद में और रामायण महाभारत के अनेक स्थलों पर प्रसन्न करने के अर्थ में इस धातु का प्रयोग पाया जाता है। परवर्ती संस्कृत में उपच्छन्दयति और उपच्छन्दन शब्दों का व्यवहार भी लक्ष्य करने योग्य है।

इसके और भी स्पष्टीकरण के लिये निम्नलिखित शब्दों पर भी विचार किया जा सकता है : ऋग्वेद में (उदाहरणार्थ १.९२.६) छन्द (अकारान्त) शब्द विशेषण के रूप में व्यवहृत हुआ है और उसका अर्थ है प्रसादन, प्ररोचन। इसका स्तुतिकर्ता (निघंटु ३.१६) भी है। पुलिंग संज्ञा के रूप में व्यवहृत होने पर इसका अर्थ आनंद, आह्लाद, अभिलाष आदि होता है।

यहाँ यह लक्ष्य करने की बात है कि छन्दस् शब्द के निम्नलिखित मतलब होते हैं : (१) अभिलाषा, औत्सुक्य[1] (२) वैदिक मंत्र और (३) छन्द या पद्य।

यह जानी हुई बात है कि कृदन्त 'अस्' प्रत्यय से नपुंसक लिंग के क्रियार्थक और अनेक संज्ञा-शब्द बनते हैं और पुरानी भाषाओं में, कुछ कर्त्रर्थक संज्ञाएं, विशेषण, और तुमुनर्थक क्रियाएं भी बनती हैं।

१. देखिए पाणिनि ४.४.९३ पर काशिका वृत्ति।

अब ऊपर की बातों को दृष्टि में रखकर हम समझ सकते हैं कि छन्दस् (छन्द् + अस्) का पहले पहले वैदिक मंत्र के अर्थ में कैसे व्यवहार हुआ है। वैदिक मंत्र जब स्वर के साथ गीत होता था तो वह बहुत आनन्ददायक होता था। अतएव वह छन्दस् कहलाने लगा। धीरे धीरे यह शब्द उस पद्य (छन्द) के लिये ही व्यवहृत होने लगा जिसमें वैदिक मंत्र रचे जाते थे। अथवा यह भी सम्भव है कि पहिले से ही, आनन्ददायक होने के कारण पद्य, छन्दस् कहलाते थे और बाद में वैदिक मंत्रों की रचना उसमें होने लगी।

हम फिर से ऊपर के उन विचारों की ओर लौटें जो यास्क, छान्दोग्य उपनिषद् और दैवत ब्राह्मण में प्रकट किए गए हैं। उनमें कहा गया है कि छन्दों को 'छन्दस्' इसलिए कहा जाता है कि वे छादन करते हैं (=ढँकते हैं)। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि यह अर्थ लाक्षणिक है इसलिये उसकी व्याख्या इस प्रकार या इससे मिलती जुलते ढंग से की जा सकती है : देवता लोग मृत्यु से डरे हुए थे ; उन्होंने वेदमंत्रों का ऐसा मधुर गान किया कि वह मुग्ध हो रही। मुग्ध होने के कारण वह उन्हें नहीं देख सकी मानों वे इस प्रकार वेदमंत्रों से आच्छादित हो गए और मृत्यु के पंजे से छुटकारा पा सके।

हमने देखा है कि दैवत ब्राह्मण की व्याख्या में सायण ने लिखा है "छन्दयति वर्णानि" [ति]। इसका अर्थ मुझे यह मालूम होता है कि छन्दस् इसलिये कहा जाता है कि वह वर्णों (अर्थात् अक्षरों और मात्राओं) को ढँक लेता है। स्पष्ट ही यहां छादन का प्रयोग लाक्षणिक है और इसका निम्नलिखित या इससे मिलता-जुलता अर्थ हो सकता है : किसी पद्य में अक्षर या मात्राएं निश्चित होती हैं ; उसे नष्ट किए बिना कोई उसमें से एक भी अक्षर घटा या बढ़ा नहीं सकता। ठीक उसी तरह जिस प्रकार किसी संदूक में कोई चीज़ न तो रख सकते हैं और न निकाल सकते हैं जब तक उसका आच्छादक (ढक्कन) खोल न दिया जाय या तोड़ न दिया जाय।

यहां तक हमने 'छन्दस्' शब्द की व्युत्पत्ति छद् या छन्द् धातु से ही समझा है किन्तु उणादिसूत्रों में (६६८ ; चन्देरादेश्चछः) यह शब्द चन्द् (मूल रूप 'श्चन्द्') धातु से सिद्ध किया गया है और बताया गया है कि चन्द् का प्रथम च् ही छ् हो जाता है। पाठक ही निश्चय करें कि यह व्युत्पत्ति स्वीकरणीय है या नहीं।

आधुनिक अँग्रेज़ी कविता

प्रकाशचन्द्र गुप्त

आधुनिक अँग्रेज़ी साहित्य की धारा विक्टोरियन परम्परा से सर्वथा भिन्न है। विक्टोरियन काल में पूंजीवादी समाज-व्यवस्था अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। सर्वत्र ही शान्ति और समृद्धि के लक्षण थे। अँग्रेज़ी कवियों ने समझा कि 'परमात्मा अपने स्थान पर है और दुनिया में कोई तकलीफ़ नहीं' :

> "परमात्मा स्वर्ग में है
> और पृथ्वी पर अमन-चैन है।"१

लेकिन विक्टोरियन समाज-व्यवस्था में ह्रास के चिह्न भी प्रगट होने लगे थे और उत्तर-कालीन कवियों की रचना से यह स्पष्ट था कि संसार में सभी कुछ ठीक न था। मैथ्यू आरनल्ड अपने युग के संबंध में कहते हैं :

> और हम,
> अपने आकस्मिक विश्वासों के अर्द्ध-श्रद्धालु
> जिनके न भाव गहरे, न विचार साफ़,
> जिनकी प्रेरणा कभी फूली-फली नहीं,
> जिनके धुंधले मंसूबे कभी पूरे नहीं हुए :
> जिनके लिये हर नया वर्ष
> नई प्रस्तावनाएं और नई निराशाएं लाता है ;
> जो झिझक और संकोच में जीवन काटते हैं।
> और आज की जीती भूमि कल खो देते हैं—"२

1. "God's in His Heaven,
   All's well with the world".
   Browning, Pippa Passes.

2. "And we,
   Light half-believers of our casual creeds,
   Who never deeply felt, nor clearly will'd,
   Whose insight never has borne fruit in deeds,
   Whose vague resolves never have been fulfill'd ;
   For whom each year we see
   Breeds new beginnings, disappointments new ;
   Who hesitate and falter life away,
   And lose tomorrow, the ground won today—"
   The Scholar Gipsy.

नए विचारों और विज्ञान के अनुसंधानों ने विक्टोरियन समाज के आत्म-संतोष को गहरा धक्का पहुंचाया। युरोप और अफ्रीका में इंगलैण्ड की सेनाओं को हार खानी पड़ी और उपनिवेशों के लिये अन्य प्रतिद्वंद्वी क्षेत्र में आ रहे थे। नए युग का साहित्य इस भारी असंतोष और निराशा का बोझ लेकर चला है।

ए. सी. वार्ड अपनी पुस्तक "बीसवीं शताब्दी का साहित्य" में नए युग को 'प्रश्नों का युग' कहते हैं। पुराने लेखक विशेष विचारों, संस्थाओं आदि का सम्मान करते थे और उनमें आस्था रखते थे, लेकिन नए विचारक और कलाकार केवल विश्वास के बल पर कुछ भी स्वीकार नहीं करते। वह हर बात की जाँच करते हैं और कसौटी पर वस्तु खरी उतरने पर ही उसे अपनाते हैं। नए युग के साहित्य को हम असंतोष का साहित्य कह सकते हैं।

जिन परिस्थितियों में इस साहित्य का निर्माण हुआ, उनमें और कुछ संभव भी न था। साम्राज्यवादी व्यवस्था में दरारें पड़ गई थीं। विकास का कोई रास्ता नज़र न आता था। आगे बढ़ने के सभी दरवाजे बन्द थे। साम्राज्यवादी देश अपनी प्रतिद्वंद्विता का निपटारा महासमर द्वारा कर रहे थे। इस आग में पड़कर युरोप की युवा पीढ़ी स्वाहा हो गई और हाथ कुछ भी न लगा। एक पूरी पीढ़ी के नाश से युरोप की कला और संस्कृति की भारी क्षति हुई। महासमर के बाद जो कविता लिखी गई, उसमें वितृष्णा और अविश्वास कूट-कूट कर भरे हैं। हम कह सकते हैं कि आधुनिक अंग्रेज़ी काव्य पूंजीवाद का मर्सिया है।

नए युग के कवियों में पहला दल परम्परावादियों का है जिन्होंने कला के बाह्य कलेवर में कोई परिवर्त्तन नहीं किया, किन्तु जिनका काव्य निराशा से ओत-प्रोत है। इन कवियों में थामस हार्डी और ए. सी. हाउसमेन का नाम हम आगे रख सकते हैं। थामस हार्डी बीसवीं शताब्दी के कवि हैं; उपन्यासकार वह विक्टोरियन युग के हैं। पिछले राज-कवि ब्रीजेज की कविता भी दुःखवाद में रंगी है, यद्यपि उनकी परिष्कृत कला उस रंग को गहरा होने से रोकती है। हाउसमैन ने बहुत थोड़ी कविता लिखी है, लेकिन उनकी कला के संयम और घने अवसाद के कारण उसकी महत्ता अधिक है। आपकी कविता में एक विचित्र सादगी और चोट है :

> दूर आकाश में पौ फट रहा है :
> सूरज के साथ मुझे भी उठना है,
> नहाना है, खाना है, पीना है,
> दुनिया को देखना है, बोलना है, सोचना है,
> और काम करना है, परमात्मा ही जाने क्यों।

"मैंने अकसर नहाया है, खाया है
किन्तु मेरे सब परिश्रम का फल क्या हुआ ?
मुझे चारपाई पर पड़कर विश्राम लेने दो :
हज़ार प्रयास मैं कर चुका हूं
लेकिन फिर भी सब कुछ करना बाक़ी है।"[३]

कभी कभी हाउसमेन अपने संयम का बाँध तोड़ बह भी जाते हैं :

ईश्वर के क़ानून, मनुष्य के क़ानून,
जो निभा सकता हो, निबाहे ;
मैं नहीं निभा सकता ; ईश्वर और मनुष्य
अपने लिए नियम बनावें, मेरे लिए नहीं......"[४]

इन कवियों ने अंग्रेज़ी कविता की परम्परा से अपना संबंध अक्षुण्ण रक्खा और उनके असंतोष ने काव्य-कला की बाह्य रूप रेखा में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं पैदा किया। हार्डी और हाउसमेन सरल छंदों में लिखते थे और बैलेड के फ़ार्म को उन्होंने विशेष रूप से अपनाया। उनकी भाषा में बहुत सादगी थी, किन्तु इस सादगी के पीछे उत्कृष्ट और प्रौढ़ कला-चातुरी थी।

3. "Yonder see the morning blink ;
The sun is up, and up must I
To wash and dress and eat and drink
And look at things and talk and think
And work, and God knows why.

"Oh often have I washed and dressed.
And what's to show for all my pain ?
Let me lie abed and rest :
Ten thousand times I've done my best
And all's to do again."

Last Poems, XI.

4. The laws of God, the laws of man,
He may keep that will and can ;
Not I ; let God and man decree
Laws for themselves and not for me."

Ibid.

किपलिंग ने काव्य-भाषा में अनेक परिवर्त्तन किए। वह साधारण सैनिकों और बेरक-रूम की अंग्रेज़ी व्यवहार में लाने से न हिचकते थे। इसके फलस्वरूप उनकी रचनाओं में एक बल और नूतनता है जो पाठक के मन को खींचते हैं। उनके काव्य-संगीत में भी एक नई लहर है :

"मैं शराब-घर में शराब पीने गया
उसका स्वामी बोला, 'यहां सिपाहियों को
शराब नहीं मिलती, लड़कियां इसपर हँसते-हँसते लोट-पोट होने लगीं
मैं बाहर निकला और सोचने लगा :
"अभी तो टौमी यह, टौमी वह और,
टौमी की दुर-दुर है ;
लेकिन जब लड़ाई के ढोल बजते हैं तो
'थैन्क यू, मिस्टर ऐटकिन्स' है,
जब लड़ाई के ढोल बज उठते हैं।"५

किपलिंग साम्राज्यवादी कवि थे। इनकी सतर्क दृष्टि ब्रिटिश साम्राज्य के नाश के लक्षण पहचान रही थी :

"दूर जाकर हमारे जलयान ओझल हो जाते हैं ;
टीलों और तट पर आग मंद पड़ती है :
कल की हमारी कुल शान-शौक़त
निनेवा और टायर के समान धूल में है।"६

5. "I went into a public 'house to get a pint O' beer
The publican'e up an sez, 'We serve no red-coats here.'
The girls be'ind the bars they laughed an' giggled fit to die,
I outs into the street again an'to myself sez I :
O it's Tommy this, an' Tommy that, an' 'Tommy', go away ;
But it's 'Thank you, Mister Atkins' when the band begins to play
The band begins to play, my boys, the band begins to play."
Barrack Room Ballads.

6. "Far-called, our navies melt away ;
On dune and headland sinks the fire :
Lo, all our pomp of yesterday
Is one with Ninevah and Tyre."

इस ह्रास का कारण वह अपना ऐतिहासिक भार वहन करने में ब्रिटिश जाति की अयोग्यता समझते थे :

"यदि शक्ति के मद में चूर
हम बहकें और तुम्हारा भय न करें,
अनार्यों की तरह गाल बजावें,
या असंयत जंगलियों की तरह—
हे सेनाओं के ईश, हमारे साथ रहो,
जिससे हम तुम्हें भूल न जावें !७

पुरानी काव्य-परम्परा के प्रति वास्तविक प्रतिक्रिया ज्यौर्जियन कवियों की रचना में प्रगट होती है। रूपर्ट ब्रुक, एडवर्ड मार्श, हैरोल्ड मुनरो आदि ने मिल कर सन् १९१२ में ज्यौर्जियन कविता सीरीज़ की एक योजना बनाई। ज्यौर्जियन कविता' १९११—१२ का पहला ग्रंथ खूब बिका ; सन् '२२ तक चार ग्रंथ और निकले। इन दस वर्षों में ज्यौर्जियन कवि काफ़ी लोकप्रिय हुए, किन्तु उनकी रचनाओं में वह शक्ति और महत्ता न आई जिसकी उन्हें स्वयं आशा थी। जिन कवियों को इस प्रकाशन में स्थान मिला, उनमें प्रमुख रुपर्ट ब्रुक, जौन ड्रिंकवाटर, हैरोल्ड मुनरो, डबल्यू. डबल्यू. गिबसन्, राल्फ हौड्गसन, जौन मेसफील्ड, जी. के. चेस्टर्टन आदि हैं।' आधुनिक अँग्रेज़ी काव्य के दो प्रमुख रोमैन्टिक कवि फ्रैकर और डी ला मेयर भी इसी दल के साथ थे।

ज्यौर्जियन कवि एक नया आन्दोलन लेकर चले। सबसे पहले वह कविता की बिक्री चाहते थे और उसे अधिक लोकप्रिय बनाना चाहते थे। उनकी चुनौती थी कि एलिज़बेथ अथवा विक्टोरियन युग के कवियों की भाँति उन्होंने भी एक नए साहित्यिक युग का निर्माण किया। मेसफ़ील्ड ने काव्य-परम्परा के विरुद्ध अपनी रचनाओं में अनेक नए प्रयोग किए। स्वयं उनका अपना जीवन किसी लकीर का फ़कीर न था। घर छोड़कर वह माँझी बन कर भागे,

7. "If, drunk with sight of power, we loose
Wild tongues that have not Thee in awe,
Such boastings as the Gentiles use,
Or lesser breeds without the Law—
Lord God of Hosts, be with us yet,
Lest we forget—lest we forget !"
—Recessional.

अमरीका में होटलों में नौकरी की। मालीगिरी आदि अनेक पेशों का अनुभव कर वह विलायत लौटे। सन् १९०१ के बाद आपने साहित्य-रचना शुरू की और काफ़ी ख्याति पाई। सन् '११ में 'दी एवरलास्टिंग मर्सी' के प्रकाशन ने एक तूफ़ान खड़ा कर दिया। इस रचना में मेसफ़ील्ड ने यथार्थ जीवन का तटस्थ होकर चित्रण किया और अनेक बातें लिखीं जो अब तक काव्य में वर्जित समझी जाती थीं। आपकी स्पष्टवादिता से अनेक पोपपंथी क्षुब्ध हुए। जो उपमाएँ और शब्द-चित्र आपने प्रस्तुत किए हैं वह सौन्दर्य्य-शास्त्र के पुराने आदर्शों के सर्वथा प्रतिकूल हैं। 'रेनार्ड दी फॉक्स' में एक चित्र लीजिये :

"शराब के प्याले की तरह गोल तौंद लिए
कसा-कसाया एक टट्टू खुर-खुर आया,
उसकी पीठ पर सवार
शराब के पीपे की तरह गोल तौंद लिए
कौन्डीकोट का पादरी था।"८

अब मेसफ़ील्ड राजकवि हैं और सम्राटों के जन्म-मरण के अवसर पर छन्द जोड़ते हैं।

सन् '१४ में संसार-व्यापी युद्ध छिड़ा और अँग्रेज़ कवि और कलाकार अधिकाधिक क्षुब्ध और विरक्त होते गए। अपने सभी आदर्शों और सिद्धान्तों का होम उन्होंने युद्ध की अग्नि में देखा और यह चेतनता पाई कि जीवन सृजन के हेतु एक नए सिरे से समाज को गढ़ना होगा और बहुत सा कूड़ा-करकट फेंकना होगा। युद्ध-काल के कवियों ने युद्ध की कुरूपता का नग्न चित्रण किया और हर तरह से उसे घृणास्पद बताया। रुपर्ट ब्रुक अधिक दिन जीवित न रह सका और उसकी कविता में युद्ध के प्रति वह घृणा नहीं आई जो हमें सिगफ्रिड सैसून, स्वेन आदि की रचनाओं में मिलती है, जिन्होंने एक-एक करके अपने सभी सिद्धान्तों की हत्या होते देख ली। सैसून की एक कविता मेमोरियल टैबलेट देखिए :

"भूस्वामी के तंग करने से थककर
मैं युद्धभूमि में पहुँचा। और नरक में मरा
जिसे वे पैशनडैल कहते हैं ; मेरा घाव हल्का था,

8. "A pommel cob came trotting up,
Round-bellied like a drinking-cup,
Bearing on back a pommel man,
Round-bellied like a drinking-can
The clergyman from condicote."

और मैं लँगड़ा कर लौट रहा था, तभी
तख्ते पर गोला फटा, और मैं
अतल कीचड़ में गिरा और अंधेरे में डूब गया ।
सर्मन के समय अपनी कुर्सी पर डटे
भूस्वामी मेरे चमकते नाम को देखते हैं ;
यद्यपि नीचे है, किन्तु मेरा नाम वहां है :
मेरे अधिकार के अनुरूप—"पुण्य स्मृति में ।"
दो रक्ताभ वर्ष मैं भूस्वामी के लिए लड़ा ;
मैंने वह यंत्रणा सही जिसका उसे अनुमान नहीं ;
एक बार मैं छुट्टी लेकर घर आया ; फिर चल बसा ।
इससे अधिक गौरव कौन चाहता !"९

इस प्रकार हम देखते हैं कि अँग्रेज़ी कवि एक नई सामाजिक चेतना पा रहे हैं और टूटी दीवारों का मोह छोड़ चुके हैं । अन्याय और क्रूरता के प्रति उनके मन में अब कोई माया-ममता शेष नहीं ।

महासमर के बाद अँग्रेज़ी कविता परम्परा से सर्वतः मुंह मोड़ लेती है । न केवल पुराने आचार-विचारों के प्रति नये कवियों की वितृष्णा है ; वह एक नया ही कला-माध्यम ईजाद करना चाहते हैं । उनकी शब्दावली, लय-ताल, विचार-शृंखला सभी में कुछ नया खोज निकालने का प्रयास है । इस "अति-आधुनिक" मोडर्निस्ट कविता के आचार्य टी. एस. इलियट हैं ।

9. "Squire nagged and bullied till I went to fight
(Under Lord Denby's scheme). I died in hell—
(They call it Passchendale) ; my wound was slight,
And I was hobbling back, and then a shell
Burst slick upon the duck-boards ; so I fell
Into the bottomless mud, and lost the light.
In sermon-time, while squire is in his pew,
He gives my gilded name a thoughtful stare ;
For though low down upon the list, I'm there :
"In proud and glorious memory"—that's my due.
Two bleeding years I fought in France for squire ;
I suffered anguish that he's never guessed ;
Once I came home on leave ; and then went west.
What greater glory could a man desire ?"

बीहड़ संसार का बड़ा मार्मिक चित्र आपने अपने 'दी वेस्ट लैन्ड' में दिया है। ४३३ पंक्तियों का यह काव्य आधुनिक युग का एक बड़ा प्रयास समझा जाता है। खँडहरों की दुनिया का वर्णन हमें इस आधुनिकता के 'महाकाव्य' में मिलता है। वास्तव में लंदन ही इलियट का 'वेस्ट लैन्ड' है। उसके प्रति आप कहते हैं :

"मिथ्या नगर,
शिशिर प्रभात के घने कोहरे के नीचे
लंदन के पुल पर ऐसी भीड़ उतर रही थी,
ऐसी भारी भीड़,
मैंने सोचा तक न था, मौत इतनों को घाट
उतार चुकी थी।"१०

जीवन के अनेक चित्र ताश के पत्तों की तरह अथवा आग में बनते-बदलते चित्रों की भांति मिले-जुले यहां मिलेंगे ; विलास, आमोद-प्रमोद के चित्र, दैन्य-दारिद्र्य के चित्र, घने अवसाद और वितृष्णा के चित्र। बीच-बीच में किसी भूले युग की स्मृति की भांति हवा में कोमल संगीत की ध्वनि बहकर आ जाती है :

"नदी पर
तेल और तारकोल तैरते हैं
लौटते ज्वार के साथ
नाव बहती हैं
मज़बूत बाँस पर
चौड़े और लाल
पाल
एक ओर को झुकते हैं।
नावों के साथ
ग्रीनिच और श्वान-द्वीप होकर
लट्ठे बहते हैं।

10. Unreal city
Under the brown fog of a winter dawn,
A crowd flowed over London Bridge, so many,
I had not thought death had undone so many."

वाया-लाला लाया
बालाला लाया-लाला।"११

"वेस्ट लैन्ड" को पुरानी संस्कृति का मर्सिया कह सकते हैं। खंडहरों का उत्कृष्ट वर्णन इस कविता में मिलता है और उच्च काव्य-कला के अनेक गुण। किन्तु बीहड़ से बाहर निकलने का रास्ता हमें इस 'महाकाव्य' में नहीं मिलता, न एक नई इमारत के निर्माण योग्य धरती। पुरानी संस्कृति से अपना संबंध तोड़ने का प्रयत्न भर इस काव्य में है। शब्द-विन्यास और ध्वनियों के जोड़-तोड़ में ही कवि के प्राण उलझ कर रह जाते हैं। राजनीति में इलियट राजा-वादी और धर्म से कैथलिक हैं। ज़ाहिर है कि इस विचार-धारा के साथ वह पुरानी दुनिया को छोड़कर दूर नहीं जा सकते!

इलियट के शब्द-चित्रों का एक उदाहरण हम उनकी "दी लव सौंग आफ प्रुफ्रौक" से देते हैं :

"तब चलो, हम तुम चलें,
जब कि सांझ आकाश में
क्लोरोफ़ौर्म दे मूर्छित रोगी सी पड़ी हो ;
सुनसान सड़कों के बीच से,
सस्ते होटलों की बेचैन
रातों के भनभनाहट पूर्ण एकान्त से

11. "The river sweats
Oil and tar
The barges drift
With the turning tide
Red sails
Wide
To leeward swing, on the heavy spar.
The barges wash
Drifting logs
Down Greenwich reach
Past the Isle of Dogs.
Weialala Leia
Wallala Leialala.

और बुरादे और सीप भरे रेस्ट्राँ से
हम चलें :
वे सड़कें जो
कपट-भरी लम्बी बहस के समान फैलती हैं
और गहनतम प्रश्न उठाती हैं…
यह मत पूछो, 'मामला क्या है !'
चलो चुपचाप हो आवें।"१२

इन अति-आधुनिक कवियों पर फ्रायड का साया भी पड़ा है, और विचारों की लड़ी को बार-बार वह बीच से तोड़ देते हैं। इस कारण साधारण पाठक के लिये उनकी रचना दुरूह और कठिन है। एज़रा पाउन्ड का एक उदाहरण देखिए :

"शान्ति !" मि. गिडिन्स ने कहा,
'सर्वदेशीय' ! नहीं, जब तक तुम्हारे पास करोड़ रुपये हैं,
और लड़ाई के सामान में लगे हैं।
जानते हो, मैंने रूस को कैसे बिक्री की—
हम उनके पास एक नई पनडुब्बी ले गए
जो टाइपराइटर के समान छोटे की-बोर्ड से
बिजली द्वारा चलती थी,
राजकुमार जहाज़ पर आया,
हमने पूछा, 'क्या आप इसे चलाएंगे !'

12. "Let us go then, you and I,
When the evening is spread out against the sky
Like a patient etherised upon a table ;
Let us go, through certain half-deserted streets,
The muttering retreats
Of restless nights in one-night cheap hotels
And sawdust restaurants with oyster-shells :
Streets that follow like a tedious argument
Of insidious intent
To lead you to an overwhelming, question...
Oh, do not ask, 'What, is it !
Let us go and make our visit".

उसने उसे तट से लड़ा दिया
और उसका अगला हिस्सा नष्ट कर दिया,
वह बेहद घबरा गया।
इस नुकसान को कौन भरेगा ?
यह कम्पनी के लिये मेरी पहली बाहर यात्रा थी,
मैंने कहा, आप परेशान न हों,
हम आपको एक नई नाव देंगे।
ईसा की साक्षी, कम्पनी ने हमारा पक्ष लिया,
और फिर क्या हमें आर्डर न मिले ?"१३

'अति-आधुनिक' (Modernist) कवियों के बाद नई पीढ़ी के कवि अपने सामाजिक दायित्व के प्रति अधिक सजग हैं। इनकी रचना 'न्यू राइटिंग' (नया लेखन) के नाम से प्रसिद्ध हुई है। इस आन्दोलन के प्रमुख कवि औडेन, सेसील डे लेवीस, स्टीफेन स्पेन्डर, मैक नीस आदि हैं।

औडेन ने अपनी कविताएं इन शब्दों में इशरवुड को समर्पित की हैं :

"यदि हो सके
तो सीधी रीढ़ के मनुष्य का आदर करो
यद्यपि हम नर-पशु का ही
मूल्य जानते हैं।"१४

13. 'Peace ! Pieyce !!' said Mr. Giddings,
'Universal ? Not while yew got ten millions ov money,'
Said Mr. Giddings, 'Invested in the man-u-facturo'
'Of war machinery. H aow I solp it to Russia—
'Well we tukem a new torpedo-boat,
'And it was all electric, run it all from a
'Little bit uv a keyboard, about like the size ov
'A typewriter, and the prince came aboard,
'An' we sez wud yew like to run her ?
'And he run damn slam on the breakwater,
'And bust off all her front end,
'And he was my gawd seared out of his panties.
'Who wuz agoin' tew pay fer the damage ?
'And it was my first trip out fer the company,
'And I sez, yer highness, it is nothing,
'We will give yew a new one. And, my christ !
'The company backed me, and did we get a few orders ?"

14. "Let us honour if we can
The vertical man
Though we value none
But the horizontal one."

नये कवि 'अति-आधुनिक' ग्रूप से प्रभावित अवश्य हुए हैं, उनकी रचनाओं का शब्द-विन्यास और संगीत इसका प्रमाण है। परम्परा की कला के प्रति अपने मन में उपेक्षा और असंतोष लेकर उन्होंने काव्य-रचना की है। पुराने आदर्श और कला के मान वह ठुकराते हैं, किन्तु उनकी रचना अधिक बोधगम्य है। 'अति-आधुनिक' कवि शब्दों और ध्वनियों के व्यापार में उलझकर रह गये ; नए कवि सामाजिक यथार्थ पर सीधा आघात करते हैं। औडेन की कविता तीर की तरह अपने लक्ष्य को बेधने का प्रयत्न करती है :

"यदि हो सके तो एक बार जाकर उस भूमि को
देखो जिसपर तुम्हें कभी गर्व था
यद्यपि वहां की सड़कें टूट गई हैं और
ऐक्सप्रेस कभी नहीं चलती :
बुझी चिमनियां, टूटे पुल, सड़ते गोदाम
और पटी नहरें,
लिपटी ट्राम की पटरियां और रेलों पर उल्टी
पड़ी मालगाड़ियां ;
बिजली-घर बंद और विस्मृत जब से उनकी
आग बुझी थी ;
बिजली के खंभे निर्जीव तारों सहित भूमि
पर गिरे हुए ;
खानों के मुख पर घास उग आई है और
बरसों से खुदाई नहीं हुई ;
यदि तुम पत्थर का टुकड़ा गिराओ तो
पानी-भरी खान में वह छप से बोलेगा।"१५

15. "Get there if you can and see the land you once were proud to own
Though the roads have almost vanished and the expresses never run :
Smokeless chimneys, damaged bridges, rotting wharves and choked canals,
Tramlines buckled, smashed trucks lying on their side across the rails
Power-stations locked, deserted, since they drew the boiler fires ;
Pylous fallen or subsiding, trailing dead ligh-tension wires ;
Head gears gaunt on grass-grown pit-banks, seams abandoned years ago ;
Drop a stone and listen for its splash in flooded dark below."

इस मर्मवेधी कविता का अन्त इस प्रकार होता है :

"यदि हम जीवित रहना चाहते हैं, तो तुरन्त उसका प्रयास करना होगा ;
यदि नहीं, तो कुछ बिगड़ता भी नहीं, किन्तु हमें मृत्यु का आह्वान करना चाहिए।"१६

भाग्य के स्वर के समान कवि की अटल वाणी गूंज उठती है :

"पूंजीपति, अपना कमरा छोड़ते वक्त
जहां रुपया बनता है, लेकिन खर्च नहीं होता,
तुम्हें अपने टाइपिस्ट और लड़के की ज़रूरत न होगी,
तुम्हारे और तुम्हारे-सों का खेल खत्म हो चुका
जो कालिज अथवा गिर्जे की घास पर ध्यानावस्थित स्लीपर पहने टहलते हैं।"१७

नये कवियों ने अपने समय का निरन्तर साथ दिया। "पोएम्स फॉर स्पेन" की भूमिका में स्टीफेन स्पेनडर ने लिखा : "कविता और कवियों ने स्पेन के युद्ध में बड़ा भाग लिया, क्योंकि बहुत से लोगों के सामने यह स्पष्ट था कि प्रजावादियों की लड़ाई उन सामाजिक परिस्थितियों के लिए लड़ी गई थी, जिनके बिना आज के समाज में कविता पढ़ना या लिखना असम्भव है।" अपनी प्रसिद्ध कविता "स्पेन" में औडेन ने लिखा भी :

"कल युवाओं के लिये कवि बमों की भांति गरजेंगे,
झील के किनारे शैर होगी और पूर्ण सहमति के सप्ताह बीतेंगे,
गर्मी की साँझ को ग्राम-देश में साइकिलों की दौड़ होंगी।
किन्तु आज संघर्ष है।"१८

16. "If we really want to live, we'd better start at once to try ;
If we dont, it doesn't matter, but we'd better start to die."

17. "Financier, leaving your little room
Where the money is made but not spent,
You'll need your typist and your boy no more ;
The game is up for you and for the others,
Who, thinking pace in slippers on the lawns
Of College Quad or cathedral close..."

18. "Tomorrow for the young the poets exploding like bombs,
The walks by the lake, the weeks of perfect communion ;
Tomorrow the bicycle races
Through the suburbs on summer evenings,
But today the struggle..."

आज दूसरा संसार-व्यापी युद्ध छिड़ने के बाद यह और भी स्पष्ट हो गया है कि जिन आदर्शों के लिये कवियों और कलाकारों ने सतत संघर्ष किया और अपना खून बहाया, उनका वारा-न्यारा हो रहा है। जिन परिस्थितियों की अब से आधुनिक अंग्रेज़ी कविता की धार बही है, आज वह अन्तिम निर्णय पर हैं। आगे बढ़ने के दरवाजे बन्द हैं; "धरनें गिर रही हैं"। इतना सब दोहराने के बाद आज कवि कहता है: "घृणा पर बसी पुरानी समाज-व्यवस्था का अन्त हो रहा है। अब ऐसा समाज गढ़ो जिसकी नींव न्याय और समता हो।" अपने संग्रह "पोएम्स इन वार टाइम" में सेसिल डे लेविस ने लिखा है :—

"आज विनाश की घड़ी में, जबकि उड़ते कांच के टुकड़े से कटकर
स्त्री का रूप विकृत हो जाता है, जबकि उड़ाके बंदी को धुरी बनाकर
वायुयान उसके चतुर्दिक फिरकनी की तरह घूमता है
और भीड़ खुश होती है,
अकाल मृत्यु का परवाना लेकर फैलता है,
पृथ्वी और आकाश में यंत्रणा के चिह्न भर जाते हैं,
दुधमुंहे बच्चे जलकर मर जाते हैं और टूटे जहाज की किश्ती लहरों में डूबी,
किसी उल्टे कीड़े के समान दुर्बलता से हाथ-पाँव मारती है—
आज, पहले से कहीं ज्यादा, जबकि मनुष्य मानो पीड़ा देने को ही जन्मा हो
और संपूर्ण व्यथित भूमि उसकी दुर्नीति के लिये
काफ़ी बड़ी न हो, आज यह आवश्यक है,
हम उनके मुंह पर कहें कि मनुष्य का अर्थ प्रेम है।"१९

19. "Now in the face of destruction,
In the face of the woman knifed out of all recognition
By flying glass, the fighter spinning like vertigo
On the axis of the trapped pilot and crowds applauding,
Famine that bores like a death-watch deep below,
Notice of agony splashed on headline and hoarding,
In the face of the infant burned
To death, and the shattered ship's boat low in the trough
Oars weakly waving like a beetle overturned—
Now, as never before, when man seems born to hurt
And a whole wincing earth not wide enough
For his ill-will, now is the time we assert
To their face that men are love."

वसुबन्धु का विज्ञानवाद

शान्तिभिक्षु

वसुबन्धु का जन्म पेशावर में ब्राह्मण कुल में हुआ। असङ्ग इनके जेठे भाई तथा विरञ्चि छोटे भाई थे। साहित्यिक जगत् में असङ्ग और वसुबन्धु दोनों बहुत प्रसिद्ध हुए। असङ्ग-विज्ञानवादी योगाचार दार्शनिक थे। महायानी जनश्रुति के अनुसार असङ्ग ने मैत्रेय से योगाचार सीखा। यह मैत्रेय कौन हैं कुछ कहा नहीं जा सकता। जनश्रुति के अनुसार बोधिसत्त्व मैत्रेय तुषित लोक से आकर असङ्ग को योगाचार सिखाते थे। जान पड़ता है ऐतिहासिक मैत्रेय में बोधिसत्त्व मैत्रेय का आरोप महिमा बढ़ाने के लिये पीछे से कर लिया गया है। कुछ भी हो मैत्रेय से पूर्व विज्ञानवादी योगाचार दर्शन की प्रवृत्ति का पता नहीं है। असङ्ग के गुरु होने के कारण मैत्रेय का समय असङ्ग से कुछ पहले ठहरता है। असङ्ग के बाद ही विज्ञानवाद की विशेष प्रवृत्ति भारत में देखी जाती है। वसुबन्धु का सर्वास्तिवाद से विशेष सम्बन्ध रहा है यद्यपि महायान में वसुबन्धु कम प्रसिद्ध नहीं रहे। कश्मीर के वैभाषिकों से भी वसुबन्धु का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अभिधर्मकोष कश्मीर के वैभाषिकों के अनुरोध से ही लिखा गया है। महायान में वसुबन्धु, बहुत सम्भव है, अपने जेठे भाई असङ्ग से प्रभावित होकर आए हों अथवा यह भी सम्भव है कि उनकी अपनी अभिरुचि ही इस ओर हो। यद्यपि असङ्ग का ही उनपर अधिक प्रभाव जान पड़ता है। नागार्जुन (१५० ई०) के बाद महायान की विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है। नागार्जुन का दर्शन शून्यवाद है। वसुबन्धु का झुकाव नागार्जुन के शून्यवाद की ओर बिल्कुल नहीं है। वह असङ्ग के विज्ञानवाद का समर्थन करते हैं। उनके 'विंशिका' और 'त्रिंशिका' प्रकरणों में विज्ञानवाद की सिद्धि की गई है। यह दोनों प्रकरण 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि-कारिका' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनसे यह पता लग ही जाता है कि उनपर असङ्ग के विज्ञानवाद का पूरा प्रभाव है।

वसुबन्धु यद्यपि पेशावर में उत्पन्न हुए पर उनका अयोध्या से बहुत निकटतम सम्बन्ध रहा है। अयोध्या के बुद्धमित्र स्थविर के यह शिष्य रहे हैं। अयोध्याधीश्वर सम्राट् चन्द्रगुप्त की पत्नी और पुत्र इनके शिष्य थे। सांख्य के विरोध में 'परमार्थसप्तति' भी अयोध्या में ही लिखी गई। 'अभिधर्मकोष' भी कदाचित् अयोध्या में ही लिखा गया होगा। सम्राट् चन्द्रगुप्त, जो सांख्यमतानुयायी थे, वसुबन्धु के प्रभाव से ही बौद्ध हुए। वसुबन्धु ने अपने जीवन के अस्सी वर्षों (२८०-३६० ई०) के समर्थ और सारतम भाग को अयोध्या में बिताया। बुढ़ापे

में यह फिर पेशावर गए। वहाँ अपने वृद्धतम जेठे भाई के सम्पर्क में रहे। असङ्ग का योगाचार मार्ग कोरा दार्शनिक चर्वण का मार्ग न था; वह था साधना का मार्ग। महायान धर्म है भी भक्ति-प्रचुर। उसमें साधना का महत्त्व भी बहुत है। ढलती जवानी के युग में जब स्वतः ही मनुष्य को वैराग्य होने लगता है तब वसुबन्धु पर योगाचारी असङ्ग का प्रभाव पड़े बिना न रह सकता था। योगाचार से प्रभावित होने के बाद वसुबन्धु योगाभ्यास में ही नहीं लगे रहे बल्कि उन्होंने कितने ही महायान ग्रन्थों पर टीकाएं और स्वतन्त्र-ग्रन्थ लिखे। उनकी प्रतिभा ने महायान में भी उन्हें एक साहित्यनिर्माता दार्शनिक के रूप में अमर कर दिया।

वसुबन्धु, गुप्तयुग के जागरूक समय की एक बहुत बड़ी देन हैं। यह युग राजनीतिक जागरूकता का ही न था प्रत्युत ज्ञान और विद्या की जागरूकता का भी था। वसुबन्धु इस जागरूकता के एक महान् प्रतीक हैं। वसुबन्धु को एक ओर जहाँ अन्न-धन, शिल्प और कला से समृद्ध एवं सुखी देश का वातावरण प्राप्त था वहां दूसरी ओर शतियों से फूलती फलती आई बहुविध दार्शनिक सम्पत्ति भी उत्तराधिकार में प्राप्त थी। उपनिषदों, सिद्धों के सम्प्रदाय जिसमें आदि विद्वान् कपिल हुए तथा बुद्ध और महावीर के उपदेशों से तत्त्वचिन्तन की अनेकों धाराएं फूट चुकी थीं। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सांख्य, योग और लोकायत तीन प्रकार के दर्शनों का उल्लेख किया है सो कौटिल्य (३२५ ई० पू०) से पूर्व वे अवश्य ही विकसित और व्यवस्थित हो चुके थे। अनुश्रुति के हिसाब से सांख्य जितना पुराना है उसपर उपलब्ध ग्रन्थ उतना ही नया है। 'सांख्यसप्तति' के लेखक ईश्वरकृष्ण वसुबन्धु के समकालीन हैं। इससे पहले पंचशिख, वर्षगण्य सांख्य के आचार्य और लेखक थे। षष्टितन्त्र भी इसी पद्धति की रचना थी पर इनके आज उद्धरणमात्र व्यासभाष्य में मिलते हैं। उपलब्ध सांख्यसूत्र, जिसपर विज्ञान-भिक्षु का भाष्य है, अपेक्षाकृत बहुत अर्वाचीन है। कौटिल्य से नागार्जुन तक सौत्रान्तिक और वैभाषिक सम्प्रदाय फल फूल चुके थे। त्रिपिटक की टीका विभाषा, जिसके अनुवर्तन करने से 'वैभाषिक' नाम पड़ा, कनिष्क (७८ ई०) के समय में लिखी गई। विभाषा में अनेकों विद्वानों का हाथ रहा है। पर इसके आरम्भक वसुमित्र थे। कनिष्क के संरक्षण और वसुमित्र की अध्यक्षता में बौद्ध विद्वानों के इस सम्मेलन (=संगीति) में महाकवि दार्शनिक अश्वघोष की बहुत कुछ सहकारिता रही है। नागार्जुन (१५० ई०) अश्वघोष के उत्तराधिकारियों की परम्परा में ही हैं।

भारतीय दर्शनों में तीन वाद बहुत प्रसिद्ध हैं। परिणामवाद सबसे पुराना है। आरम्भवाद और विवर्तवाद क्रमशः परिणामवाद के बाद विकसित हुए हैं। कपिल ने ही परिणाम-वाद की सबसे पहले स्थापना की। प्रकृति के महान्, अहङ्कार, पांच तन्मात्राएं और ग्यारह

इन्द्रियां,* पांच महाभूत क्रमिक परिणाम हैं। कपिल प्रकृति के परिणाम को मानने से परिणाम-वादी अवश्य कहे जासकते हैं पर उनका पुरुष अपरिणामी है। पुरुष को प्रकृति से सर्वथा अछूता प्रतिपादन करनेमें ही उन्होंने परिश्रम किया है। एवं वे प्रधानतः नित्यवादी या शाश्वतवादी ही हैं। प्रकृति का परिणाम स्वीकृत करने में वे प्रकृति को मूल तत्त्व मानकर चले हैं। दूध के परिणाम दही में जैसे दूध से अभिन्नता रहती है, वैसे ही प्रकृति के विकार प्रकृति से अभिन्न रहते हैं। अभिप्राय यह है कि कार्यमात्र कारण से अभिन्न रहता है। एवं कार्य कारण से अभिन्न होने के कारण कारणावस्था में सत् ही होता है। सो कपिल के परिणामवाद का पर्यवसान एकसत्, नित्य या शाश्वत पदार्थ के मानने में ही होता है। योग भी सांख्य के सब तत्त्वों को मानकर चलता है। ईश्वर उसमें अधिक माना गया है जो पुरुष या आत्मा का बड़ा भाई है। सांख्य आत्मवादी होते हुए भी अनीश्वरवादी था पर योग के साथ दोनों ही लगे हैं। जैनियों को ईश्वरवाद से परहेज़ ज़रूर है पर आत्मवाद (=जीववाद) उनके भी गले का हार है। इस प्रकार सांख्य, योग और जैन तीनों ही एक नित्य या शाश्वत के चक्र में पड़े हैं, उनका परिणामवाद या परिवर्तनवाद उस नित्य-शाश्वत आत्मा के लोक-परलोक सम्बन्ध और मोक्ष प्रक्रिया में सहायता के लिये ही है। लोकायत, नित्य या शाश्वत के फेर में नहीं है पर उसकी निगाह बहुत मोटी है। वह परलोक से दूर भागता है और लोक में भी इतना अधिक भूतवादी है कि मन से बढ़कर उसे आँख पर ही विश्वास है। मनन से उसे परहेज़ है और दार्शनिकता उसके लिये हवा में महल खड़े करने से अधिक कोई और बात नहीं है। परिणाम या परिवर्तनशीलता हो तो हुआ करे, उसे खाने-पीने और मौज उड़ाने से फुरसत ही कहां जो उसपर मनन करे! पर इस मोटी निगाहवाले में नित्य-शाश्वत के फन्दे से निकल भागने की समझ तो है ही जो कपिल, पतंजलि और महावीर में नहीं पाई जाती जो बहुत ज्यादा ज्ञानवान् समझे जाते हैं।

बुद्ध ने आत्मवादियों का रङ्ग ढङ्ग ठीक ठीक पहँचाना, लोकायत की मोटी निगाह को भी लक्ष्य में रक्खा। परिणामवाद को सकारणता और परिवर्तन के रूप में उन्होंने उपस्थित किया। यह एक नई दृष्टि थी। कार्य कारण से न तो अनन्य है और न अन्य ही। जैसे अंकुर न तो बीज ही है और न बीज से भिन्न ही। कार्य को कारण से अन्य मानने पर कारण का उच्छेद मानना पड़ता है तथा अनन्य या अभिन्न मानने पर कारण का शाश्वतवाद उपस्थित हो जाता है। बुद्ध कार्य को कारण से अन्य नहीं मानते सो लोकायत के उच्छेदवाद से बच जाते हैं।

* ग्यारह इन्द्रियां अहंकार की परिणति है। पंच महाभूत पंच तन्मात्राओं के परिणाम हैं। यह १६ प्रकृति के चरम परिणाम हैं जिनका फिर परिणाम नहीं होता।

अनन्य भी नहीं मानते अतः आत्मवादियों के शाश्वतवाद का भी झमेला नहीं रहता। कार्य और कारण के 'न तत्, नान्यत्' अथवा 'अशाश्वत और अनुच्छेद' वाद जिस सकारणता और परिवर्तन के नियम पर विकसित हुए हैं वह 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहलाता है। बौद्धों के पिछले सभी दार्शनिक वाद इसी प्रक्रिया के आधार पर हैं।

कौटिल्य से पूर्व जैसे सांख्य, योग और लोकायत दर्शन व्यवस्थित हो चुके थे वैसे ही नागार्जुन (१५० ई०) से पूर्व हीनयानी सौत्रान्तिक और वैभाषिक दर्शन विकसित और व्यवस्थित हो चुके थे। वैभाषिक दर्शन कनिष्क (७८ ई०) के समय में सम्पन्न विभाषा टीका के सहारे विकसित हुआ है। सौत्रान्तिक दर्शन टीका के सहारे नहीं बल्कि सूत्रान्त (= सूत्र = बुद्ध-उपदेश+अन्त = सिद्धान्त) या मूल बुद्धवचनों के आधार पर विकसित हुआ। दोनों सर्वास्तिवादी हैं। जो कुछ सत् या वर्तमान है उसे तीन कालों में स्वीकार करते हैं। जैसे कपिल ने पहले पहल गिनकर (= संख्या कर) पचीस तत्त्व गिनाए ऐसे ही बाद में औरों ने भी अपनी मान्यताओं को गिनकरसंख्याकर बताया। यद्यपि संख्या करने के कारण कपिल के दर्शन को जो सांख्य नाम मिला वह संख्या करने पर भी पिछलों को न मिला, पर संख्या तो लोग करते ही रहे। सांख्य ने जैसे पुरुष और प्रकृति के दो विभागों में पचीस तत्त्वों की व्याख्या की वैसे ही सौगततन्त्र में पांच स्कन्धों में बाह्य और आभ्यन्तर तत्त्वों को समझाया है। बाह्य जगत् को रूपस्कन्ध कहते हैं जिसमें पाँच इन्द्रिय, पाँच अर्थ, एक अविज्ञप्ति* और चार महाभूत (= पृथ्वी, अप्, तेज, वायु) हैं। आभ्यन्तर जगत् चार स्कन्धोंमें विभक्त है। मन (= इन्द्रिय), धर्म (= मन के विषय) और मनोविज्ञान तथा पांचों इन्द्रिय विज्ञान यह सब विज्ञानस्कन्धके अन्तर्गत हैं। सुख, दुःख या तदभाव रूप जो अनुभव होता है, उसे वेदनास्कन्ध कहते हैं। रूप और विज्ञान का सम्बन्ध होने से जो इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है तथा मन का धर्म से सम्बन्ध होने पर जो मनोविज्ञाम होता है वह विज्ञानस्कन्ध में अन्तर्भूत है पर इन छः विज्ञानों के विषयों को मनमें जो विशेषरूप से जानकारी (= संज्ञा = सम्यक् ज्ञा = जानकारी) होती है वह संज्ञास्कन्ध है। जैसे आँख से जो वर्ण और संस्थान का सामान्यत या ज्ञान होता है वह विज्ञानस्कन्धके अन्तर्गत है पर बादमें 'यह नीला है', 'यह पीला है', 'यह ह्रस्व है', 'यह दीर्घ है', 'यह पुरुष है',

* अभिधर्मकोश १।११ में अविज्ञप्ति का लक्षण यों है—

"विक्षिप्ताचित्तकस्यापि यो ऽनुबन्धः शुभाशुभः।
महाभूतान्युपादाय साह्यविज्ञप्तिरुच्यते॥"

यह अविज्ञप्ति ब्राह्मण दार्शनिकों के 'अदृष्ट' से तुलनीय है।

'यह स्त्री है', इत्यादि जो विशेष रूप से या सम्यक् रूप से ज्ञान होता है वह संज्ञास्कन्ध है। इन चारों स्कन्धों के अतिरिक्त मन पर जो विषय ज्ञान की वासना अपनी छाप छोड़ जाती है वह संस्कार स्कन्ध है। यह पाँचो स्कन्ध संस्कृत हैं—अनित्य हैं—परिवर्तनशील हैं। इन पाँचों स्कन्धों के अतिरिक्त और कोई सत् पदार्थ नहीं है। यह सब सत् हैं पर परिवर्तनशील होने से क्षणिक हैं। पाँचों स्कन्ध हैं पर प्रतीत्य समुत्पन्न होने से—सकारणता और परिवर्तन के नियम में प्रतिबद्ध होने से नित्य नहीं है। यह बात सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों को मंजूर है। पर बाह्य सत्ता के स्वीकार करने में दोनों की प्रक्रिया में कुछ अन्तर है। वैभाषिक बाह्यवस्तु का प्रत्यक्ष मानते हैं। आँख से नीले कपड़े या घड़े का जो ज्ञान होता है उस ज्ञान में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं। 'नील' (घट या पट) प्रमेय है। 'आँख' प्रमाण है क्योंकि उसीसे नील ज्ञान होता है। 'नील-ज्ञान' प्रमा है। जिस विषय से ज्ञान उत्पन्न होता है वह विषय के सदृश ही होता है। जैसे नील (घट या पट) से उत्पन्न ज्ञान नील सदृश या नीलाकारक ही होता है। आँख से जो नील (घट या पट) का ज्ञान होता है वह नील (घट या पट) के संवेदन का व्यवस्थापक नहीं होता प्रत्युत नील-ज्ञान में जो नीलाकारता या नील सारूप्य का अनुभव होता है वह नील (घट या पट) के संवेदन का व्यवस्थापक है। इस प्रकार नील-ज्ञान 'प्रमा' में जो 'नीलाकारता या नील सारूप्य' है, वह 'प्रमाण' है जिससे नील (घट या पट) 'प्रमेय' का संवेदन होता है। एवं सौत्रान्तिकों के न्याय से 'नील-सारूप्य' से नील (घट या पट) का अनुमान होता है। सो सौत्रान्तिक बाह्यर्थानुमेयवादी हैं जब कि वैभाषिक बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी हैं। इतने अन्तर को छोड़कर दोनों सर्वास्तिवादी है। इनकी सर्वास्तिता प्रतीत्य-समुत्पाद से प्रतिबद्ध होने के कारण अनित्य है—क्षणिक है।

सर्वास्तिवादी दर्शन जब देशव्यापी हो रहा था उसी समय नागार्जुन (१५० ई०) उत्पन्न हुए। दक्षिण कोसल में ब्राह्मणकुल में इनका जन्म हुआ। यह केवल दार्शनिक ही नहीं प्रत्युत रसायन शास्त्री और योगी भी थे। एक पहुँचे हुए सिद्ध के रूप में इनकी प्रसिद्धि केवल यौगिक क्रियाओं के कारण न थी बल्कि रासायनिक सिद्धियों के कारण भी थी। सोया हुआ महायान इनके समय में ही इनके कारण जागा और पीछे अपनी महिमा में सभी बौद्ध सम्प्रदायों को आत्मसात् कर लिया। दार्शनिक जगत् में इन्होंने एक क्रान्ति उपस्थिति थी। प्रतीत्य समुत्पाद मानने के कारण सर्वास्तिवादी सत्ता को क्षणिक मानते थे और उसे ही परमार्थ सत् समझते थे। नागार्जुन ने प्रतीत्य समुत्पाद की व्याख्या करते हुए बताया कि प्रतीत्य समुत्पाद अशाश्वत अनुच्छेदवाद उपस्थित करता है (मा० १८।१०)। परिणाम के पीछे—परिवर्तन की ओट में—नित्यता देखना या अनित्यता देखना दोनों ही किनारे की बाते हैं, एकान्तवाद है। क्योंकि नित्यता देखने का अर्थ है शाश्वतवाद मानना

और अनित्यता देखने का अर्थ है उच्छेदवाद मानना। सो प्रतीत्य समुत्पाद का अभिप्राय नित्य एकान्तवाद या अनित्य-एकान्तवाद मानने में नहीं है प्रत्युत नित्यानित्य-विनिर्मुक्त शुद्ध शून्यवाद मानने में है। शून्यवाद ही मध्यमा प्रतिपदा है।* हमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह स्वप्न जैसा ही है। जैसे जाग पड़ने पर स्वप्न नहीं रहता वैसे संसार भी मोह निद्रा टूटने पर नहीं रह जाता। इन्द्रजाल की माया दिखलानेवाला जानकार जैसे उस माया को कुछ भी (=सत् या असत्) नहीं समझता वैसे ही तत्त्व संसार को कुछ भी नहीं समझता। वह माया और मायामय पदार्थों को देखता है और जानता है कि ये सचमुच कुछ नहीं है।† सत् या असत्, नित्य या अनित्य दृष्टि का न होना ही परमार्थ सत्य है। सर्वास्तिवादियों की सत्ता की अनित्यता दृष्टि है वह षडिन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने से संवृत्ति सत्य या व्यवहार सत्य है। तैर्थिकों की नित्यता दृष्टि न तो संवृति सत्य ही है और न परमार्थ सत्य ही।

सत्ता को नित्य और अनित्य दोनों दृष्टियों से न देखने का अर्थ सत्ता या भाव को परमार्थ दृष्टि से अस्वीकार कर देना। इस मान्यता से सर्वास्तिवादी दर्शन जो सत्ता की अनित्य दृष्टि को परमार्थ सत् समझते थे एक झटका लगा। तैर्थिक सत्ता को नित्य दृष्टि से देखते थे, परिणाम या परिवर्तन के कारण अनुभूत होती हुई अनित्यता की ओर चश्मपोशी करने के अभ्यासी थे। अब उनसे न रहा गया। उपनिषदों से ब्राह्मणों में जो तत्त्व-चिन्तन की धारा रही थी उसमें नागार्जुन के शून्यवाद ने बाँध का काम दिया जिससे वह थोड़ा मुड़कर बहने लगी। उसके घुमाव फिराव के कुछ यत्न पहले भी हो चुके थे। लोकायत तो हमेशा ही फूहड़ शब्दों में श्रुति की खबर लिया करते थे। जैन भी श्रुति से परहेज़ रखना कल्याणकर समझते थे यद्यपि श्रोत्रियों की नित्य दृष्टि के क़ायल थे। सांख्य, योग जो वेद के विरोधी न होते हुए भी श्रोत्रियों के मार्ग को "अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः" समझते थे, भले ही नित्य दृष्टि मानते थे। श्रोत्रियों के सामने दो बातें थीं एक तो श्रुति-प्रामाण्य स्थापित करना। दूसरे अपने दार्शनिक चिन्तन को इस रूपमें उपस्थित करना जिसमें वह नित्य दृष्टि की रक्षा हो। नागार्जुन के बाद के दार्शनिकों को इसीलिए दो बातों में व्यग्र देखा जाता है एक तो अनित्य और अभाव (क्षणिक और शून्य) वादों का खण्डन करना और जैसे भी हो श्रुति-प्रामाण्य का मण्डन करना।

कणाद ने कार्य के कारण का होना आवश्यक माना और बताया कि कारण के गुण कार्य के

* मा० १५।१०, २४।१८

† महा० १७, १८

गुणों के आरम्भक होते हैं।* कारण-कार्य के कणाद सिद्धान्त में कार्य के गुण भले ही कारण से आते हों पर कार्य कारण से अभिन्न नहीं माना जाता। कपिल जहाँ कार्य को अपनी कारणावस्था में सत् मानते थे वहां कणाद कार्य को अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् (=प्रागभाव) मानते हैं। अभिप्राय यह है कि कणाद कार्य-कारण के अभेद से अपनी नित्य-दृष्टि नहीं सिद्ध करना चाहते। इस विषय में उनकी अपनी प्रक्रिया है जो पहले के दार्शनिकों के पास न थी। उन्होंने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय छः पदार्थों में सत्ता का वर्गीकरण किया। इनमें से 'सामान्य' को कणाद ने नित्य-दृष्टि के सिद्ध करने का साधन बनाया। सामान्य क्या है? व्यक्तियों के परस्पर भिन्न होते हुए भी उनमें जो एक अभेद देखा जाता है वह सामान्य है। राम, कृष्ण, देवदत्त, यज्ञदत्त सब हैं भिन्न भिन्न, पर उन्हें एक 'मनुष्य' शब्द से भी कहा जाता है। सो यह 'मनुष्यत्व', जिसके कारण भिन्न भिन्न राम, कृष्ण, देवदत्त, यज्ञदत्त व्यक्तियों को मनुष्य कहा जाता है, 'सामान्य' है। यह नित्य है क्योंकि देवदत्तादि के न रहने से भी नष्ट नहीं होता, व्यापक भी है क्योंकि व्यक्ति उससे व्यतिरिक्त नहीं होता। इसी प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में 'इदं सत्' (=यह है) की प्रतीति होती है। इस सत् की प्रतीति से 'सत्ता' की सिद्धि होती है।† यह 'सत्ता' जो सामान्य के बल पर सिद्ध हुई नये ढंग से नित्यवाद की स्थापना करती है।

वादरायण ने अपनेसे पहले की दार्शनिक प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन करते हुए श्रुतियों (=उपनिषदों) की दार्शनिक पद्धति को एक व्यवस्थित रूप में उपस्थित किया। अपनी दार्शनिक प्रक्रिया को परिणाम के सहारे स्थापित किया। इनके परिणामवाद में पहले के परिणामवाद से कुछ मौलिक भेद है। क्योंकि पुराने परिणामवाद में सत्ता का परिणाम तो माना जाता था पर कपिल जीव (=पुरुष) को, पतंजलि जीव और ईश्वर के अलावा मन, काल, दिशा, आकाश आदि को परिणाम से अछूता ही रखते थे। वादरायण ने सत्ता और चेतना का अलग अलग विभाग नहीं किया और बताया कि "ब्रह्म" सत् भी है और चित् भी है। सत्ता और चेतना अविनाभूत हैं। इसी ब्रह्म के परिणाम से नाना रूप सृष्टि देखी जाती है। सम्पूर्ण अर्थ जगत् अपने कारण ब्रह्म से अनन्य है।

बौद्ध दार्शनिक पाँचों स्कन्धों का परिणाम (=प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व) मानते थे। और उन्हें सत् और क्षणिक समझते थे। विज्ञान स्कन्ध, जिसके समकक्ष अन्य दार्शनिकों का

* "कारणाभावात् कार्याभावः" "नतु कार्याभावात् कारणाभावः" (वै० १।२।१, २) कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः (वै० २।१।२४)।

† 'सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता' (वै० १।२।७)

आत्मा था प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से परिणाम से अछूता नहीं था ; इधर वादरायण ने भी ब्रह्म, जो सत् चित् दोनों है, का परिणाम मान लिया तो बौद्ध दार्शनिकों के प्रतीत्यसमुत्पाद और वादरायण के परिणामवाद में एक प्रकार की सरूपता आ गई फिर भी भेद बना रहा। वह भेद दो प्रकार का था। प्रथम तो बौद्ध दार्शनिकों ने सत्ता और चेतना (=विज्ञान) को एक नहीं माना जब कि ब्रह्मपरिणामवाद में सत्ता और चेतना दो वस्तुएं नहीं हैं। दूसरा भेद था अनित्य-दृष्टि जब कि ब्रह्मवाद नित्यदृष्टि का व्यवस्थापक है। अब इस ब्रह्मवाद की विरोधी दो बातें थीं एक तो बौद्धों की नित्य-विरोधी दृष्टि, दूसरी चेतनसत्ता (आत्मा) को परिणाम से अस्पृष्ट रखने की दृष्टि। वादरायण ने दोनों के निराकरण का यत्न किया।

वादरायण के सामने सर्वास्तिवादियों और माध्यमिकों दोनोंकी नित्यविरोधी दृष्टियां थीं। उन दृष्टियों को सामने रखते हुए उन्होंने यह प्रमाणित करने पर बल लगाया कि बिना किसी नित्य या स्थिर वस्तु के परिणाम सम्भव नहीं है। कारण और कार्य का पूर्वापर भाव होता है। कारण पहले और कार्य पीछे होता है। कार्य की उत्पत्ति के क्षण में कारण का निरोध हो जाता है। सो कार्योत्पत्ति से पूर्वक्षण में जब कारण निरुद्ध ही हो गया तो कार्य के प्रति उसका हेतुभाव नहीं रहा। यदि यह मान लो कि कार्योत्पत्ति के क्षण तक कारण रहता है तो एक तो कारण और कार्य का पूर्वापर भाव नहीं रहता दूसरे यह दावा कि सब कुछ क्षणिक है खारिज हो जाता है।* यह तोहुई सर्वास्तिवादियों की बात। बचे माध्यमिक, पर उनकी बात बड़ी पेचीदा थी। नित्य और अनित्य दोनों दृष्टियों से उनका सम्बन्ध न था। उनके लिये सत्ता की नित्यता और अनित्यता से झगड़ना सपने में देखी गई लक्ष्मी के लिये बेकार लड़ना था। वादरायण ने उनके प्रति कहा कि सब तरह सोचने पर भी आपकी बात कैसे उपपन्न होती है सो तो मेरी समझ में नहीं आया पर आँख से आपकी बात में विरोध है। सत्ता की उपलब्धि तो हो ही रही है फिर नित्यानित्य दृष्टि से सत्ता को न देखने का अर्थ सत्ता को न मानना ही है जो समझ से बाहर की बात है।†

वादरायण परिणामवाद मानते थे पर परिणामवाद उनकी समझ में ठीक ठीक न आया था। ठीक ठीक परिणामवाद को सबसे पहले नागार्जुन ने ही समझा था। परिणाम का नित्य

* "उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्। असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा।"
(ब्र० सू० २।२।२०, २१)।

† "नाभाव उपलब्धेः। सर्वथानुपपत्तेश्च।" (ब्र० सू० २।२।२८,३२) शंकर ने विज्ञानावाद के खण्डन में पूरे (२।२।२८-३२) अभावाधिकरण को लगाया है। यद्यपि सूत्रार्थ बिना खींचातानी के शून्यवाद की ओर चला जाता है।

दृष्टि से कोई मेल नहीं है क्योंकि नित्यता का अर्थ ही कूटस्थता या परिणाम का न होना है। बाद में शंकर को यह बात समझमें आई। उन्होंने देखा कि परिणामवाद मानने से नित्यता की सिद्धि करना असम्भव है अतः उन्होंने परिणामवाद को विवर्तवाद में परिणत किया। परिणति को मिथ्या मानना विवर्तवाद है। जब परिणाम ही मिथ्या हो गया तो 'नित्यता' को किसीसे डर न रहा। सत्ता की अनित्य-दृष्टि के साथ भी परिणामवाद की संगति नहीं बैठती क्योंकि 'अनित्य' का अर्थ है सत्ता का विनाश या उच्छेद मानना। जब सत्ता उच्छिन्न ही होगई तो परिणाम अब हो तो किसका और कैसे ? एवं परिणाम न तो शाश्वतवाद से और नहीं उच्छेद-वाद से सम्बन्ध रखता है प्रत्युत वह अशाश्वत-अनुच्छेदवाद है, नित्यानित्य विनिर्मुक्त शून्यवाद है।

कपिल प्रकृति का परिणाम मानते थे। प्रकृति चेतन न थी। बौद्ध सर्वास्तिवादी दार्शनिक परमाणुओं का परिणाम मानते थे; ये परमाणु भी चेतन न थे। कणाद ने सर्वास्तिवादियों से जो परमाणुवाद लिया उसे भी चेतन नहीं माना किन्तु कपिल की प्रकृति की भाँति उन्हें नित्य माना जब कि बौद्धों के परमाणु क्षणिक थे। वादरायण का ब्रह्म कारा सत् न था पर चित् भी था जब कि परमाणु और प्रकृति कोरे सत् थे अतः वादरायण को चेतन सत्ता का परिणाम सिद्ध करने के लिये जो लोग कोरी सत्ता का परिणाम मानते थे उनके निराकरण की अपेक्षा मालूम हुई। कणाद परमाणुओं के संयोग और वियोग से सर्ग एवं लय का होना मानते थे। संयोग और वियोग दोनों हैं कर्म-सापेक्ष। बिना क्रिया या व्यापार के परमाणुओं का संयोग-वियोग सम्भव नहीं है। और कर्म के लिये कोई दृष्ट कारण है नहीं अतः अदृष्ट को कारण मानना होगा। पर अदृष्ट के अचेतन होने के कारण उसमें सामर्थ्य नहीं है कि परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न कर सके।* कपिल की प्रकृति भी अचेतन है पर उसके प्रति-वादरायण अपना यह तर्क न उपस्थित कर सकते थे क्योंकि कपिल के मत से प्रवृति सर्वबीज अर्थात् सबकी उपादान कारण और प्रवृत्ति स्वभाववाली है। अतः वादरायण ने यह तर्क उपस्थित किया कि प्रवृत्ति अचेतन का धर्म नहीं है। प्रकृति अचेतन है अतः उसमें प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती।† और बिना प्रवृत्ति माने परिणाम हो नहीं सकता।

ऊपर बहुत ही संक्षेप में हमने भारत की दार्शनिक प्रवृत्ति को देखा है। उसमें एक क्रम-बद्ध विकास है। लोकायत सत्ता से चेतना की उत्पत्ति और उसका विनाश मानते थे। कपिल ने सत्ता और चेतना दोनों को अलग अलग माना जिसमें सत्ता को परिणामी और चेतना को अपरिणामी माना। बौद्ध दार्शनिकों ने भी सत्ता और चेतना को अलग अलग माना पर

* उभयथापि न कर्म अतस्तदभावः (ब्र० सू० २।२।१२)।
† प्रवृत्तेश्च (ब्र० सू० २।२।२)।

परिणामी प्रतिपादित किया। वादरायण ने सत्ता और चेतना को अलग अलग न मानकर अभिन्न माना और 'ब्रह्म' शब्द द्वारा प्रकाशित किया। पिछले दार्शनिकों की भांति परिणाम इन्होंने भी माना।

वसुबन्धु ने इन सब दार्शनिक गतिविधियों को देखा और एक नई बात कही। इन्होंने कहा कि सत्ता के न मानने से भी केवल चेतना से भी काम चल सकता है। चेतना के लिये बौद्ध दार्शनिकों का विज्ञान शब्द है और ब्राह्मण दार्शनिकों का आत्मा शब्द है। आत्मा और विज्ञान दोनों एक ही नहीं हैं। आत्मा नित्य या कूटस्थ है और विज्ञान परिवर्तनशील। सो इस वसुबन्धु के विज्ञानवाद में नित्यात्मावाद की झलक नहीं है। इन्होंने सब कुछ विज्ञान का परिणाम कहा और बताया कि 'सत्ता' जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, सब कुछ विज्ञान ही विज्ञान है।

आलय, मन और प्रवृत्ति भेद से विज्ञान तीन प्रकार का है। कपिल की प्रकृति जैसे सर्वबीज (=सम्पूर्ण कार्य जगत् की उपादान) है, वादरायण का ब्रह्म जैसे सर्वबीज है वैसे वसुबन्धु का यह विज्ञान सर्वबीज है। सर्वबीज होने के कारण ही इस मूल विज्ञान को आलय विज्ञान कहते हैं। सभी धर्मों का यह कारण रूप से आलय (=स्थान या आश्रय) होने के कारण मूल विज्ञान 'आलय' कहलाता है। आलय विज्ञान के सन्तान से प्रवृत्त हुआ विज्ञानान्तर जो सत्कायदृष्टि (=नित्यदृष्टि, आत्मदृष्टि) मान (=अहंकार), मोह और राग नामक क्लेशों से युक्त होने के कारण बन्ध का कारण है 'मन' कहलाता है। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म (=सभी मानसिक भावनाएं) इन छः विषयों की जो प्रतीति है वह 'प्रवृत्ति विज्ञान' है। जैसे जल में तरङ्गें (पवनादिजनित क्षोभवश) उत्पन्न होती रहती हैं वैसे ही यह विज्ञान भी आलय विज्ञान में प्रत्ययवश या कारणवश सबके सब एक साथ या पृथक् पृथक् उत्पन्न होते रहते हैं।*

इन विज्ञानों में प्रवृत्ति-विज्ञान के लिये बाह्य सत्ता माननी पड़ती है, किन्तु वसुबन्धु कहते हैं कि इनके लिये भी बाह्य सत्ता की अपेक्षा नहीं। रूप आदि वस्तुतः हैं, इसलिये उनकी प्रतीति होती है ; यह बात मिथ्या है। जैसे तिमिर रोगी को केश, जाल आदि जो सचमुच उसके सामने नहीं हैं प्रतीत होते हैं वैसे ही अर्थसत्ता न होते हुए भी रूपादि की प्रतीति हुआ करती है। अतएव विज्ञान के अतिरिक्त और कोई बाह्यसत्ता नहीं है।†

पर विज्ञान के अतिरिक्त बाह्यसत्ता न मानने से कितनी ही आपत्तियां उठ खड़ी होती हैं। विज्ञान के अतिरिक्त रूपादि बाह्य अर्थ हैं क्योंकि बिना बाह्य अर्थ के चार नियम नहीं होने चाहिए :—

* त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकारिका, २, ५, ८, १५

† विंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकारिका, १

(१) **देश-नियम**—जिस स्थान में रूपादि पदार्थ होते हैं वहां रूपादि विज्ञान भी देखे जाते है जहां नहीं होते वहां रूपादि विज्ञान की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। सो यह देश या स्थान का नियम तभी बनता है जब रूपादि बाह्य-पदार्थ हों यदि बाह्य-पदार्थ न माने जाएं तो सर्वत्र ही रूपादि की प्रतीति होनी चाहिए। पर होती नहीं। अतः देश का नियम होने से बाह्य सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(२) **काल-नियम**—जिस समय विशेष में रूपादि अर्थ कहीं पर होते हैं उसी समय विशेष में रूपादि विज्ञान उत्पन्न होते हैं। सर्वदा सब समय में उत्पन्न नहीं होते। अतः जान पड़ता है कि रूपादि बाह्य सत्ता के बिना रूपादि विज्ञान उत्पन्न नहीं है। इस प्रकार विज्ञानोत्पत्ति के साथ काल का नियम होने से बाह्य सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(३) **संतान-नियम**—जहां जिस समय में रूपादि अर्थ होते हैं वहां सभी अविकलेन्द्रियों को उनकी प्रतीति होती। ऐसा नहीं होता कि किसी को हो और किसी को न हो जैसा कि तिमिर रोगी को तो केश-जाल आदि दिखाई पड़ते पर औरों को नहीं। यदि बिना रूपादि बाह्य अर्थ के ही विज्ञान की उत्पत्ति होती तो वह तैमिरिक की असदर्थ-प्रतीति की भांति कुछ को होती और कुछ को न होती पर रूपादि अर्थ जहां जब होते हैं उनकी सबको ही प्रतीति होती है अतः विज्ञानोत्पत्ति में सबके साथ सन्तान-नियम (प्रतीति का सिलसिला) के सम्बन्ध होने से बाह्य सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(४) **कृत्य-क्रिया-नियम**— रूपादि बाह्य अर्थों से ही शारीरिक कृत्य हो सकते है। स्वप्न में देखे गए अन्नजल से शरीर की भूखप्यास नहीं मिट सकती। अतः कोरे विज्ञान मात्र से दुनिया का काम नहीं चल सकता। दुनिया की कृत्य-क्रिया के लिये रूपादि अर्थ अपेक्षित है। इस प्रकार भी बाह्य सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

एवं इन चार नियमों की पड़ताल करने से जान पड़ता है कि विज्ञान से व्यतिरिक्त भी बाह्य रूपादि-अर्थसत्ता है।*

वसुबन्धु ने इन आक्षेपों का समाधान करते हुए कहा कि बाह्य पदार्थ के अभाव में भी देश, काल, सन्तान और कृत्य क्रिया के नियम देखे जाते हैं। उदाहरण के लिये स्वप्न को लीजिए। स्वप्न में बाहय अर्थ के बिना ही किसी स्थान विशेष में (न कि सर्वत्र) बागबगीचे, नदी-तालाब, सुन्दरियां दिखाई पड़ जाती हैं और वहां भी किसी समय दिखाई पड़ जाती हैं, हमेशा नहीं। यह स्वप्नदृश्य कृत्य-क्रिया करने में भी समर्थ होते हैं। रही यह बात कि, बाहय पदार्थ की प्रतीति सभी अविकलेन्द्रियों को होती है पर बाह्यार्थ के बिना तिमिर-रोगी आदि को जो पदार्थ

* वि० २

प्रतीति होती है वह सब को नहीं, अतः बाह्यार्थ मिथ्या सिद्ध न हुआ। सो इस युक्ति में भी जान नहीं है। प्रेतों को मलमूत्र, पूय आदि से परिपूर्ण नदी दिखाई पड़ती है यद्यपि वस्तुतः वह होती नहीं। नारकी जीवों को भी इसी प्रकार भयङ्कर दृश्य दिखाई पड़ते हैं। यम-किंकरों के दर्शन भी उन्हें होते हैं और उनसे वे दण्ड भी पाते हैं, यद्यपि ये सब वस्तुतः नहीं होते।* इन आगममूलक दृष्टान्तों को यदि छोड़ दें तो स्वप्न का ही उदाहरण काम दे सकता है क्योंकि बाह्य पदार्थ के बिना ही सबको सपने दिखाई पड़ते हैं, और स्वप्न काल में सभीको बाह्य पदार्थ के बिना प्रतीति होती है, ऐसा नहीं कि किसीको हो और किसीको नहीं। एवं बाह्य पदार्थ के बिना ही देश काल नियम, सन्तान और कृत्य क्रिया की व्यवस्था हो जाती है। अतः इन चार-नियमों के लिये बाह्यसत्ता का मानना ज़रूरी न रहा।

सर्वास्तिवादी बाह्य सत्ता पर बहुत ज़ोर देते थे, कणाद और अक्षपाद भी उसके हामी थे। तीनों ही परमाणुओं को मानते थे। बाह्य पदार्थ परमाणुओं के संयोग से बनते हैं। परमाणु रूप अवयवों से बना पदार्थ परमाणुओं का समूहमात्र ही नहीं है प्रत्युत उन अवयवों से विलक्षण वह एक स्वतंत्र पदार्थ है जो 'अवयवी' कहलाता है। परमाणुओं को संयोग तथा अवयवी को कणाद और अक्षपाद दोनों मानते हैं। परमाणुओं के संयोग से एक विलक्षण अवयवी बन जाता है। यह बात सर्वास्तिवादी नहीं मानते। उनके मत से परमाणु-पुञ्ज ही पदार्थ है। कुछ भी हो इन सबके मत से परमाणु निरवयव हैं। वसुबन्धु को इन दार्शनिकों पर बड़ा तरस आया। इन्होंने कहा कि जिन परमाणुओं के बूते बाह्य सत्ता सिद्ध करने चले हो पहले एक बार उनको ही सँभाल लो। संयोग सावयव का देखा जाता है। परमाणुओं को एक और निरवयव मानना और दूसरी ओर उनका संयोग मानना यह कैसे बन सकता है।† तुम्हारे मत से परमाणु सावयव हो नहीं सकते और निरवयव का संयोग नहीं हो सकता और बिना संयोग हुए अवयवों से अवयवी भी नहीं बना, सो कणाद और अक्षपाद की बाह्य सत्ता जो अवयवी के सिद्ध होने पर निर्भर थी परास्त हो गई।

वसुबन्धु ने बाह्य-सत्ता को मिथ्या सिद्ध करने में जो परिश्रम किया उससे परवर्ती दार्शनिकों को बड़ा बल मिला। गौड़पाद ने विज्ञानवाद की सिद्धि के लिये किए गए बाह्य-सत्ता के निराकरण को अद्वैतवाद का बहुत उपकारक समझकर मान लिया।‡ विज्ञान-वादियों और अद्वैतवादियों में है भी बहुत समता। नागार्जुन जहां सब कुछ (यहां तक कि चेतना बौद्धसम्मत विज्ञान तथा तैर्थिक सम्मत आत्मा) को भी संवृत्ति-सत्य मानते थे वहां इन दोनोंने

* वि० ६, ४ ।† वि० १३ का उत्तरार्ध। ‡ गौ० का० ४।२५।

उसे परमार्थसत्य कहना शुरू किया। एकने उसे विज्ञान शब्द से कहा और दूसरे ने ब्रह्म से। दोनोंने उसके अतिरिक्त बाह्य सत्ता को मिथ्या माना। दोनोंने उसे अनुच्छिन्न या नाश न होने वाला कहा पर एक अन्तर बना रहा। विज्ञान था परिवर्तनशील क्योंकि उसे प्रतीत्य समुत्पन्न माना जाता था और ब्रह्म था कूटस्थ यद्यपि वह भी "जन्माद्यस्य यतः" (१।१।२) "आत्मकृतेः परिणामात्" (१।४।२६) में बादरायण द्वारा परिणामशील कहा जा चुका था। सो इस ब्रह्म के परिणाम की नये ढंग से व्याख्या करने की ज़रूरत पड़ी। नागार्जुन ने परिणामवाद (=प्रतीत्य-समुत्पाद) के आधार पर सब कुछ को अशाश्वत और अनुच्छिन्न कह चुके थे। अनुच्छेद अंश से तो अद्वैतवादी सहमत थे पर अशाश्वत अंश उनकी नित्यदृष्टि का काँटा था अतः प्रतीत्य-समुत्पाद या परिणामवाद जो कारण-कार्य का नियम था और नियम को सभी परमार्थ समझते थे मिथ्या क़रार दे दिया गया,* और वह विचारा अब संवृति-सत्य मात्र रह गया। परिणाम या प्रतीत्य समुत्पाद माना गया पर विज्ञानवादियों ने उसे परमार्थ सत्य माना अतः उन्हें विज्ञान को क्षणिक या परिवर्तनशील मानना पड़ा। ब्रह्मवादियों ने उसे मिथ्या माना सो उनका 'ब्रह्म' परिवर्तन से अछूता कूटस्थ बना रहा। अस्तु, इस दृष्टिभेद के कारण विज्ञान और ब्रह्म जो एक होने जारहे थे अलग अलग बने रहे पर अलग होते हुए भी ब्रह्मवाद पर जो बौद्धदर्शन की अमिट छाप पड़ी वह न मिटाई जा सकती थी।

विज्ञानवादियों ने विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य सत्ता को निषेध तो कर दिया पर व्यवहार बिना बाह्य सत्ता के चल नहीं सकता था। सो उन्होंने विज्ञान के अतिरिक्त यच्च यावन्मात्र व्यवहार को औपचारिक माना। अन्धे को यदि कोई 'सुलोचन' कहे, मूर्ख को 'बृहस्पति' कहे, बाहीक को बैल (गौर्वाहीकः') कहे या गंवार को 'गधा' कहे तो इन प्रयोगों को औपचारिक कहना होगा क्योंकि अन्धे आदि में सुलोचनत्व आदि धर्म नहीं हैं और जो जहां नहीं, उसका उसमें प्रयोग करना उपचार कहलाता है।† आत्मा (=अपनापन, मैं और मेरापन) तथा धर्म (=अपने से पृथक् सब पदार्थ) दोनों की सत्ता औपचारिक है क्यों कि विज्ञान के परिणाम के अतिरिक्त दोनों है ही नहीं। विज्ञान के अतिरिक्त "और सब कुछ" मिथ्या है और उसी मिथ्या की व्यवहार-सिद्धि के लिये यह अन्य मिथ्यान्तर है "उपचार", जिसे आगे चलकर शंकर ने 'अध्यास' 'अविद्या' और 'माया' कहा। विज्ञानैकत्ववाद सिद्ध करने के लिये जिस जगत् को वसुबन्धु ने मिथ्या कहा उसने ही वसुबन्धु को अविद्या (=उपचार) में फेंक कर अपनी सिद्धि करवा ही ली।

* गौ० का० ३।२५। † त्रि० १ पर 'उपचार' शब्द की व्याख्या करते स्थिरमति—"यत्रयच्च नास्ति तत् तत्रोपचर्यते।

असमाप्त

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

जीवने यत पूजा होलो ना सारा,
जानि हे जानि ताओ हयनि हारा,
ये फुल ना फुटिते झरेछे धरणीते,
ये नदी मरुपथे हाराल धारा
जानि हे जानि ताओ हयनि हारा ॥

जीवने आजो याहा रयेछे पिछे,
जानि हे जानि ताओ हयनि मिछे।
आमार अनागत आमार अनाहत
तोमार वीणा तारे बाजिछे तारा,
जानि हे जानि ताओ हयनि हारा ॥

—गीताञ्जलि

(छाया)

जीवन में जितनी पूजाएं समाप्त नहीं हो सकीं,
मैं ठीक जानता हूं, वे भी खो नहीं गई हैं।
जो फूल विकसित होने-न-होते पृथ्वी पर झड़ गया
जिस नदी ने मरुमार्ग में धारा खो दी,
मैं ठीक जानता हूं, वे भी खो नहीं गई हैं।

जीवन में आज भी जो कुछ पीछे छूट गया है,
मैं ठीक जानता हूं, वह भी खो नहीं गया है।
मेरा (जो-कुछ) अनागत है, (जो-कुछ) अनाहत है
तुम्हारी वीणा के तारों में वे सब बज रहे हैं,
मैं ठीक जानता हूं, वे भी खो नहीं गए हैं।

मालञ्च

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

१

पीठ की तरफ़ तकिये ऊंचे करके रखे हुए हैं। रोगशय्या पर नीरजा आधी लेटी हुई अवस्था में पड़ी है। पावों पर सफेद रेशम की चादर खींच दी गई है, मानो हल्के मेघों तले तृतीया की फीकी चांदनी हो। पीला हो आया है उसका शंख-जैसा रंग, ढीली हो गई हैं कलाई की चूड़ियां, क्षीण हाथों पर नीली नसों की रेखाएं स्पष्ट दिखाई दे रही हैं; आंखों के घन-पक्ष्म पल्लवों के किनारे रोग की कालिमा आ लगी है।

सफेद संगममर का फ़र्श है, दीवार पर रामकृष्ण परमहंसदेव की तसवीर टंगी है, कमरे में पलंग, तिपाई, बेत के दो मोढ़े और एक कोने की तरफ़ कपड़े टांगने की अलगनी के सिवा और कोई असबाब नहीं है। एक कोने में पीतल की कलसी में रजनीगंधा के गुच्छे सजा दिए गए हैं; उन्हींकी भीनी खुशबू कमरे की बद्ध हवा में बंदी हो पड़ी है।

पूरब की तरफ़ की खिड़की खुली हुई है। वहीं से दिखाई पड़ रहा है बगीचे का आर्किड-घर, जालीदार बुनाव से घिरा हुआ, जिसपर अपराजिता-लता छिछलकर फैल गई है। नज़दीक ही झील के तीर पंप चल रहा है, कलकल छलछल करता हुआ पानी हर नाली में दौड़ रहा है—क्यारियों के किनारे-किनारे। गंध-निविड़ अमराई में कोयल मानों प्राण छोड़कर बोल रही है।

बाग़ की ड्यौढ़ी पर टन-टन करके दुपहरिया का घंटा बज उठा। सांय-सांय करती हुई दुपहरिया के साथ जैसे उसके सुर का कोई मेल है। अभी तीन बजे तक मालियों की छुट्टी है। घंटे की आवाज़ के साथ नीरजा का अंतर जैसे दुख गया—मन जैसे उदास हो आया। घर की आया दरवाज़ा बंद करने के लिये आई। नीरू बोल उठी : नहीं नहीं, रहने दो।—पेड़ों के तले जहां धूप-छाया बिखरी-बिखरी फिरती है वहीं वह निर्निमेष ताकती रह गई।

उसके पति आदित्य ने फूलों के व्यवसाय में प्रसिद्धि प्राप्त की है। विवाह के दिन से आरंभ करके आजतक दोनों का प्रेम नाना धाराओं में बहता हुआ आ मिला था—इसी बाग़ की सेवा-जतन के नाना काम-काजों में। यहां के फूल-पत्तों में दोनों के सम्मिलित आनंद ने नव-नव

सौन्दर्य के भीतर नव-नव रूप पाया है। जिस तरह प्रवासी विशेष-विशेष डाक आने के दिन मित्रों की चिट्ठियों की बाट जोहता है, वैसे ही हर ऋतु में वे दोनों बाट जोहा करते थे भिन्न-भिन्न वृक्षों की पुंजित अभ्यर्थना के लिये।

आज नीरजा को केवल याद आ रही है उसी दिन की एक तसवीर। बहुत दिनों की बात नहीं है तब भी ऐसा लगता है मानों द्वीपान्तर का मैदान पार करके युगान्तर का इतिहास आ पहुंचा हो। बाग़ के पच्छिम की तरफ़ एक पुराना महानीम का वृक्ष था। उसीकी जोड़ी का एक और भी नीम का पेड़ था; वह जाने कब जीर्ण होकर धराशायी हो गया था; उसीकी पींड़ को बराबर करके छील-छालकर एक छोटी-सी टेबिल बना ली गई है। यहाँ बैठकर खूब तड़के दोनों चाय पी लिया करते थे; वृक्षों के बीच-बीच से सब्ज़ डालियों से छनकर आई हुई सुबह की धूप उनके पांवों के निकट आकर पड़ती; मैना और गिलहरी प्रसादप्रार्थी होकर हाज़िर हो जाते। इसके बाद दोनों मिलकर शुरू कर देते बगीचे के कितने ही कामकाज। नीरजा के सिर पर होती फूल कढ़ी हुई रेशम की छतरी, आदित्य के सिर पर होती सोला-टोपी, कमर में डालें छांटने की कैंची। बंधुबांधव यदि मिलने के लिये आते तो बाग़ के कामकाज के साथ ही लोक-व्यवहार भी मिल जाता। सहेलियों के मुख से अक्सर ही सुनाई पड़ता: सच कहती हूं भई, तुम्हारी डालियां देखकर जलन होती है।—कोई-कोई अनाड़ी की तरह पूछ बैठता: वह क्या सूर्यमुखी है? नीरजा बेहद खुश होकर हंसती हुई जवाब देती: ना, ना, वह तो गेंदा है।—कोई विषय-बुद्धि-प्रवीण एक रोज़ बोले: इतना बड़ा मोतिया-बेला किस तरह उगाया है, नीरजादेवी? आपके हाथों ज़रूर जादू है। यह तो जैसे बिल्कुल टगर हो!—जानकार को अपना पुरस्कार मिला; हला माली की भृकुटि खिंचवाकर प्रवीण महाशय गमले-सहित पांच बेले के पौधे साथ लेते गए। कितने दिन मुग्ध मित्रों के साथ कुंज-परिक्रमा चलती—फूलों के बाग़ में, फलों के बाग़ में, साग-सब्ज़ी के बाग़ में। विदा के समय नीरजा डाली में भर देती गुलाब, मैग्नोलिया, कारोनेशन,—उसीके साथ पपीता, काग़जी नीबू, कैथ—उनके बगीचे का कैथ मशहूर था। यथाऋतु सबके अंत में आया करता कच्चे नारियल का पानी। तृषितजन पीकर कहते: कैसा मीठा पानी है!—उत्तर में सुन पाते: हमारे ही बगीचे के नारियल का पानी है।—सभी कहते: ओहो, वही तो कह रहे थे हम कि क्यों इतना मीठा है!

इसी भोरवेला में पेड़ों-तले दार्जिलिंग-चाय की वाष्प के साथ बसी हुई नाना ऋतुओं की गंध-स्मृति दीर्घनिश्वास के साथ मिलकर नीरजा के मन में हाय-हाय करती है। सुनहले रंगों से रंगीन उन्हीं दिनों को वह जाने किस दस्यु के हाथ से छीनकर लौटा लाना चाहती है। विद्रोही मन किसीको अपने सामने क्यों नहीं पाता? भलेमानुसों की तरह सिर झुकाकर भाग्य को

स्वीकार कर लेनेवाली लड़की तो वह है नहीं। फिर इसके लिये ज़िम्मेवार कौन है ? किस विश्वव्यापी बच्चे का यह लड़कपन है ! किस विराट् पागल की यह कृति है ! ऐसी परिपूर्ण सृष्टि में इस तरह निरर्थक भाव से उलट-पलट किया तो किसने !

विवाह के बाद उनके दस वर्ष लगातार बीत गए—अविमिश्र सुख में। मन-ही-मन इसे लेकर सखियों ने उससे ईर्ष्या की है ; सोचा है, बाज़ार-दर से नीरजा ने कहीं ज़्यादा पा लिया है। उधर आदित्य के दोस्तों ने उससे कहा है : 'लकी-डाग।'

नीरजा के संसार-सुख के पालवाली नाव जिस व्यापार को लेकर एक दिन पहली-पहल तले से टकराई वह उनकी पाली हुई 'डाली' कुतिया-द्वारा घटित हुआ था। गृहिणी के इस गिरिस्ती में आने के पहले से ही डाली स्वामी के सूने घर की एकांत-संगिनी थी। अंत में उसकी निष्ठा दम्पति के बीच द्विधा विभक्त हुई। भाग नीरजा के ही हिस्से में अधिक पड़ा। दरवाजे के सामने गाड़ी आते देखते ही कुतिया का मिज़ाज खराब हो जाता वह बार-बार पुच्छ-आन्दोलन द्वारा आसन्न रथयात्रा के विरुद्ध अपनी आपत्ति उत्थापित करती। किंतु स्वामी के तर्जनी-संकेत पर बिना-निमंत्रण गाड़ी के भीतर उछल आने का दुःसाहस निरस्त हो जाया करता। बेचारी दीर्घनिश्वास फेंककर पूंछ की कुंडली में नैराश्य को वेष्टित करके दरवाजे के पास पड़ी रहती। उनके लौटने में देरी होने पर मुंह उठाकर सूंघती हुई यहां वहां फिरती ; कुत्ते की अव्यक्त भाषा में आकाश की ओर अपना करुण प्रश्न उच्छ्वसित करती। अंत में उसे मालूम नहीं किस रोग ने आ घेरा ; एक दिन उनके मुख पर अपनी कातर दृष्टि स्तब्ध करके नीरजा की गोद में सिर रखकर वह चल बसी।

नीरजा में प्यार की एक प्रचंड ज़िद थी। उस प्यार के विरुद्ध विधाता के हस्तक्षेप की बात उसकी कल्पना के भी बाहर थी। इतने दिन अनुकूल संसार पर वह अपना निःसंशय विश्वास रखती आई थी। आज तक इस विश्वास के डिगने का कोई कारण भी उपस्थित नहीं हुआ था किंतु आज जब डाली के लिये मरना भी अभावनीयरूप में संभव हो गया तब उसके दुर्ग की प्राचीर में जैसे पहली बार छिद्र दिखाई दिया। ऐसा जान पड़ा जैसे अलक्षण का यह प्रथम प्रवेश-द्वार हो ; मानो विश्वसंसार के कर्मकर्त्ता अव्यवस्थित चित्त हो उठे हैं ;—उनके आपातप्रत्यक्ष प्रसाद पर भी अब आस्था नहीं रखी जा सकती।

नीरजा के संतान होने की आशा सभीने छोड़ दी थी। अपने आश्रित गणेश-नामक बच्चे को लेकर नीरजा की प्रतिहत स्नेहवृत्ति का जिन दिनों प्रबल आलोड़न चल रहा था और बच्चा भी जब उसके अशांत अभिघात को और अधिक नहीं सह पा रहा था, उन्हीं दिनों नीरजा के संतान-संभावना घटित हुई। भीतर-ही-भीतर मातृहृदय भर उठा ; नवजीवन की प्रभात-

आभा से भावीकाल का दिगंत रक्तिम हो उठा ; पेड़-तले बैठे-बैठे कितने ही अलंकरणों में नीरजा सिलाई के कितने ही कामों में संलग्न हो गई ।

अंत में प्रसव का समय आया। धात्री आसन्न संकट की बात समझ गई। आदित्य इतना अधिक अस्थिर हो गया कि डाक्टर को भर्त्सनापूर्वक उसे अलग रखना पड़ा। अस्त्राघात की आवश्यकता हुई ; शिशु को मारकर जननी को बचाना पड़ा। इस घटना के बाद नीरजा फिर उठ ही नहीं सकी। वैशाख की बालुशय्याशायिनी नदी के समान उसकी स्वल्परक्त देह क्लान्त होकर पड़ी ही रही। प्राणशक्ति की अजस्रता एकबारगी समाप्त होकर चुक गई। बिस्तर के सामने की खिड़की खुली हुई है, तप्त हवा के साथ बहकर आरही है मुचकुन्द फूल की सुगंध, अथवा कभी बड़े नीबू-फूल की निःश्वास के मिस मानो उसके वही पूर्वकालीन दूरवर्ती वसन्त के दिन मृदुकंठ से उससे पूछने आए हैं : कैसी हो ?

उसे सबसे अधिक पीड़ा तब हुई जब उसने देखा कि बाग़ के काम में सहयोगिता के लिये आदित्य की दूर के रिश्ते की एक बहन को बुलवाना पड़ा है। खुली खिड़की से वह जब भी देखती कि अभ्रक और रेशम का काम की हुई तालपत्तों की एक टोपी सिर पर पहने सरला बाग़ के मालियों से काम लेती फिर रही है, तब अपने अकर्मण्य हाथ-पैरों का भार उससे सहा नहीं जाता। अथच इसी सरला को स्वास्थ्य के दिनों में प्रत्येक ऋतु में नीरजा ने न्योता देकर बुलवाया है—नवीन पौधे रोपने के उत्सव में शामिल होने के लिये। खूब भोर से ही काम शुरू हो जाया करता। इसके बाद झील में तैरकर स्नान, फिर पेड़ों-तले केले के पत्तों में भोजन ; एक तरफ़ ग्रेमोफ़ोन में बजता रहता देशी-विदेशी संगीत। मालियों को मिलता दही-चिवड़ा-सन्देश। इमली के दरख्तों के कुंज से हो उनका कलरव सुनाई पड़ता। क्रमशः दिन ढल आता, झील का पानी सिहर उठता अपराह्न की हवा के स्पर्श से, वकुल की शाखों में पंछी बोलने लगते, आनन्दमय थकान के साथ दिन का अवसान हो जाता।

जो रस नीरजा के मन में विशुद्ध मधुर था वही आज कटु क्यों हो गया है ? जिस तरह अपनी आजकल की दुर्बल देह भी उसे अपरिचित है वैसे ही अपना आज का तीव्र नीरस स्वभाव भी उसका जाना-पहचाना नहीं है। इस स्वभाव में तनिक भी दाक्षिण्य नहीं। कभी-कभी यह दारिद्र्य उसके निकट खूब ही स्पष्ट हो उठता है, मन में लज्जा जाग उठती है, तब भी किसी भी तरह वह उसे संभाल नहीं पाती। आशंका होती है, कहीं यह हीनता आदित्य के निकट पकड़ाई तो नहीं दे गई ? कौन जाने किसी दिन वह प्रत्यक्ष देख पाएगा कि नीरजा का आजकल का मन चिमगादड़ के चञ्चुक्षत फल की तरह हो गया है—भद्र-प्रयोजन के अयोग्य।

दुपहरिया का घंटा बज उठा। चल दिए माली। सारा बगीचा निर्जन हो गया।

नीरजा उस सुदूर पर अपनी आंखें जमाए रही जहां दुराशा की मरीचिका का भी आभास नहीं मिलता, जहां छायाहीन धूप में सुनसान के बाद सुनसान की ही पुनरावृत्ति चल रही है।

२

नीरजा ने पुकारा ; रोशनी !

आया कमरे में आई। प्रौढ़ा, अधपके केश, कठिन हाथों में पीतल के मोटे कंकण, घांघरे पर ओढ़नी। मांस विरल देह की भंगी और शुष्क मुख के भाव में एक चिरस्थायी कठिनता की छाप है ; मानो वह अपनी अदालत में इन लोगों की गिरस्ती के ख़िलाफ़ राय देने के लिये बैठी हो। नीरजा को उसीने बड़ा किया है, सारी ममता और दरद उसे नीरजा पर ही है। उसके नज़दीक जो भी आया-जाया करता है—नीरजा के पति तक—उन सबके सम्बन्ध में उसमें एक सतर्क विरुद्धता का भाव है।

कमरे में आकर उसने पूछा : पानी लाऊं बिटिया !

ना, बैठ।—आया घुंटने ऊंचे करके फ़र्श पर बैठ गई।

नीरजा को बातें करने की ज़रूरत है, इसीसे आया चाहिए। वह उसकी स्वगत-उक्तियों की वाहन है।

नीरजा बोली : आज बड़े तड़के दरवाज़ा खुलने की आवाज़ सुनाई पड़ी थी।

आया कुछ बोली नहीं, किन्तु उसके विरक्त मुख-भाव का आशय कुछ ऐसा ही था जैसे कह रहा हो : कब नहीं सुनाई पड़ती !

नीरजा ने अनावश्यक प्रश्न किया : सरला को लेकर शायद बाग़ में गए थे ?

बात उसकी अच्छी तरह जानी हुई है, तब भी रोज़ यही एक प्रश्न ! एक बार हाथ उलटाकर मुंह घुमाकर आया चुप होकर बैठ रही।

नीरजा बाहर की तरफ़ जैसे अपने ही से बोलने लगी : मुझे भी बड़ी भोर जगाया करते थे, मैं भी जाया करती थी बगीचे के काम पर—ठीक उसी समय। सो तो बहुत दिनों की बात नहीं है।

इस आलोचना में शामिल होने की उससे कोई आशा नहीं करता, तब भी आया से रहा नहीं गया। बोली : उसे बिना लिए शायद अब तक बगीचा-सूख ही जाता।

नीरजा अपने आप बोलती चली : बड़े तड़के की फूलों की खेप न्यूमार्केट बिना भिजवाए मेरा एक दिन नहीं जाता था। वैसी ही फूलों की खेप आज भी गई थी, मैंने गाड़ी की आवाज़ सुनी है। आजकल कौन खेप देख देता है रोशनी ?"

आया ने, इस जानी हुई बात का कोई जवाब नहीं दिया ओठों को दबाए बैठी रही।

नीरजा आया से बोली : और चाहे जो हो, जितने दिन मैं थी, माली लोग कामचोरी कभी नहीं कर पाए।

आया भीतर-भीतर कुछ घुमड़ी ; बोली : वे दिन नहीं रहे, अब तो लूट मची है दोनों हाथ !

सच ?

मैं क्या झूठ कह रही हूं ? कलकत्ते के नये बाज़ार में आखिर कितने फूल पहुचते हैं ! जमाईबाबू के बाहर होते ही पिछले दरवाजे की राह मालियों का फूलों का बाज़ार लग जाता है।

ये लोग कोई देखते नहीं ?

देखने की इतनी गरज किसे है ?

जमाईबाबू से क्यों नहीं कहा तूने ?

मैं कहनेवाली कौन होती हूं ? मान बचाकर तो चलना पड़ता है। तुम क्यों नहीं कहतीं ? तुम्हारा ही तो सब कुछ है।

होने दो, होने दो न ? अच्छा तो है। चले न इसी तरह कुछ दिन, इसके बाद जब सब कुछ मिट्टी में मिलने आएगा तब सब अपने आप ही पकड़े जाएंगे। एक दिन समझने का वक्त आएगा कि मां से सौतेली मां का प्यार बड़ा नहीं होता। चुपचाप बैठी रह न।

फिर भी इतनी बात मैं कहती हूं बिटिया, तुम्हारे उस हला माली के ज़रिए कोई काम करा सकना मुश्किल है।

हला की काम-काज के प्रति उदासीनतामात्र ही आया की खीझ का एकमात्र कारण हो सो नहीं, उसपर नीरजा का स्नेह बराबर असंगत रूप से बढ़ता ही जा रहा है, यही कारण दर-असल सबसे बड़ा है।

नीरजा बोली : माली को दोष नहीं देती। नयी मालकिन के शासन को सहे किस तरह भला ? उसके यहां सात पुश्त से मालीगिरी होती आई है और तुम्हारी बहनजी की विद्या सब किताबी है उनका हुकुम चलाने आना क्या फबता है ? दुनिया से बाहर का कायदा-कानून ,वह मानना नहीं चाहता, मेरे पास आकर शिकायत करता है। मैं कहती हूं मेरे कान में बात मत लाना, चुपचाप रहा आ।

उस दिन जमाई बाबू उसे छुड़ाने जा रहे थे।

क्यों, किसलिये ?

वह बैठा-बैठा बीड़ी का कश खींच रहा था और उसीके सामने बाहर की गाय आकर

पौधे चबा रही थी। जमाई बाबू ने कहा : गाय को क्यों नहीं खेदता ?—उसने मुंह पर ही जवाब दिया : मैं गाय खेदूंगा ! गाय ही तो मुझे खेद रही है। मुझे प्रान का भय नहीं है ?

सुनकर नीरजा हंस पड़ी, बोली : उसकी बातें ही ऐसी हुआ करती हैं ! सो जो हो, उसे मैंने अपने ही हाथों गढ़ा है।

जमाई बाबू तुम्हारी ही खातिर तो उसे सहते आ रहे हैं, फिर चाहे गाय घुसे कि गैंड़ा खेदाय। यहां तक शान अच्छी नहीं होती, सो भी कहे देती हूं।

चुप रह, रोशनी ! मन के किस दुःख से उसने गाय को नहीं भगाया सो क्या मैं समझती नहीं ? उसके जी में तो लगी है आग।...वह तो है हला—सिर पर गमछा लपेटे कहीं जा रहा है ; पुकार तो उसे।

आया की आवाज़ पर हलधर माली कमरे में आया। नीरजा ने पूछा : क्यों रे, आजकल कोई नई फ़रमाइश हुई है ?

हला बोला : हुई क्यों नहीं। सुनकर हंसी भी आती है और आंखों में पानी भी भरता है।

सो कैसे, सुनूं भला।

वह जो सामने मल्लिकों का पुराना मकान गिराया जा रहा है, वहीं से ईंट-पत्थर-मलमा लाकर पेड़ों के तले बिछा देना होगा—यही हुकुम हुआ है। मैंने कहा धूप के समय गरमी लगेगी पेड़ों को, सो कोई कान ही नहीं देता मेरी बात को।

बाबू से क्यों नहीं कहता ?

कहा था बाबू से। बाबू डांटकर कहने लगे : चुपचाप रह। भाभीजी, मुझे छुट्टी देदो। मुझे बर्दाश्त नहीं होता।

सो ही तो देख रही हूं, टोकरे में रबिश ढोकर लाते हुए देखा तुझे !

भाभीजी, तुम्हीं मेरी हमेशा की मालिक हो। तुम्हारी ही नज़र के सामने मेरा सिर नीचा कर दिया। बिरादरी के आगे मेरी जात चली जाएगी। मैं क्या कुली-मजूर हूं ?

अच्छा अभी जा। तुम लोगों की बहन जी जब ईंट-सुरखी ढोने कहें तब मेरा नाम लेकर कह देना कि मैंने मना कर दिया है। तू खड़ा जो रह गया ?

देस से चिट्ठी आई है, बहुत हाल को गाय मर गई है—कहकर सिर खुजलाने लगा।

नीरजा बोली, नहीं मरी नहीं है, खासी ज़िन्दा बची है। ले दो-ठो रुपये, और अब ज्यादा बकबक मत कर।—कहते हुए नीरजा ने तिपाई पर रखे हुए बाक्स से रुपये निकालकर दिए।

अब और क्या ?

घर के लोगों के लिये एकाध पुरानी साड़ी...तुम्हारी जय-जयकार होगी।—यह कहकर पान की छाप से काले पड़े मुंह को फैलाकर हंस दिया।

नीरजा बोली : रोशनी, दे तो दे उसे वह अलगनी वाली साड़ी।

रोशनी ने ज़ोर से सिर डुलाकर कहा : यह कैसी बात है, वह तो तुम्हारी ढाकाई साड़ी है।

होने दे न ढाकाई साड़ी—मेरे लिये आज सभी साड़ी बराबर हैं। अब पहनूंगी ही किस दिन !

रोशनी दृढ़ मुख से बोली : नहीं, सो नहीं होगा। उसे तुम्हारी वह लाल पाड़ की मिलवाली साड़ी दूंगी। देख हला, बिटिया को अगर तू इसी तरह परेशान करेगा तो बाबू से कहकर तुझे निकलवा दूंगी।

हला नीरजा के पाँव पकड़कर रोने के सुर में बोला : मेरे ही भाग फूटे हैं भाभीजी !

क्यों रे, क्या हुआ है तुझे ?

आयाजी को मौसी कहकर पुकारता हूं मैं। मेरी मां नहीं है, इतने दिन यही समझता आया हूं कि अभागे हला को आयाजी प्यार करती हैं। भाभीजी, अगर आज तुम्हारी दया हुई तो वे क्यों भाँजी मारती हैं ? किसीका कसूर नहीं है, सब मेरी किस्मत का दोष है। नहीं तो अपने हला को दूसरोंके हाथों सौंपकर तुम आज खाट पकड़तीं !

कोई डर की बात नहीं है रे, तेरी मौसी तुझे प्यार ही करती है। तेरे आने के पहले तेरे ही गुन गा रही थी। रोशनी, दे तो दे उसे वह साड़ी, नहीं तो वह धन्ना दिए पड़ा रहेगा।

अत्यंत विरस मुख से आया ने साड़ी लाकर उसके सामने फेंक दी। हला ने उसे उठाकर भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया। इसके बाद उठकर बोला : उस गमछे में इसे लपेट लूं भाभी जी ! मेरे हाथ गंदे हैं। दाग लग जाएंगे।—यह कहकर सम्मति की गुञ्जाइश रखे बिना ही अलगनी से तौलिया उठाकर उसमें साड़ी लपेटते हुए हला ने तेज़ी से प्रस्थान किया।

नीरजा ने आया से पूछा : अच्छा आया, तुझे ठीक मालूम है बाबू बाहर चले गए हैं ?

अपनी आंखों से देखा है। कैसी जल्दी में थे ! टोपी तक यहीं भूल गए।

आज यह पहली बार ही हुआ ; प्रतिदिन सुबह जो फूल पाती थी उसमें अंतर पड़ा। दिन-पर दिन यह घटना बढ़ती जाएगी। अंत में मैं जापड़ूंगी अपने संसार के उस घूरे में जहां चूल्हे का जला-बुझा कोयला फेंक दिया जाता है।

सरला को आती देखकर आया मुंह फिराकर चली गई।

सरला कमरे में आई। हाथ में एक आर्किड् फूल था। फूल शुभ्र था, पंखुड़ियों के अग्रिम भाग में बैंगनी रंग की रेखा का आभास दिखाई दे रहा था—मानों पर फैलाए हुए एक बड़ी-सी तितली हो। सरला छरहरी लंबी सी लड़की है, रंग सांवला; सबसे पहले लक्ष्य होती हैं उसकी बड़ी-बड़ी आंखें—उज्ज्वल और करुण। मोटे खद्दर की साड़ी है, केश अयत्नपूर्वक बांधे गए हैं—जो श्लथ बंधन में कंधे को तरफ़ झुक आए हैं। असज्जित देह ने यौवन के आगमन को अनादृत कर रखा है।

नीरजा ने उसके मुंह की तरफ़ नहीं ताका। सरला ने धीरे से फूल बिछौने पर रख दिए।

नीरजा अपनी विरक्ति के भाव को बिना दबाए ही बोली: किसने लाने कहा था?

आदित् भैया ने।

खुद जो नहीं लाए?

बड़ी जल्दी-जल्दी न्यू-मार्केट की दूकान जाना पड़ा—सीधे चाय खतम करके।

क्यों—ऐसी जल्दी किसलिये थी?

कल रात आफ़िस का ताला टूटकर रुपये चोरी होने की खबर आई है।

—खींच-तानकर क्या पाँच मिनिट भी समय नहीं निकाल सकते थे?

पिछली रात तुम्हारी पीड़ा बढ़ गई थी। सुबह की तरफ़ कुछ नींद झिप आई थी। इसीसे द्वार के पास तक आकर वे लौट गए। मुझ से कह गए थे कि अगर दुपहर तक वापस न आ पाएं तो यह फूल तुम्हें दे दूं।

दिन का काम शुरू करने के पूर्व ही रोज़ आदित्य विशेष भाव से चुनकर एक फूल स्त्री के बिछौने पर रख जाया करता था। नीरजा ने प्रतिदिन उसीकी बाट जोही है। आज का विशेष फूल आदित्य सरला के हाथ दे गया; यह बात उसके ध्यान में नहीं आई कि फूल का प्रधान मूल्य अपने ही हाथों देने में है। गंगाजल होते हुए भी नल के भीतर से आने में उसकी सार्थकता नहीं रहती।

नीरजा फूल को अवज्ञा-सहित ठेलकर बोली: जानती हो, मार्केट में इस फूल की क्या कीमत है। इसे वहीं भेज दो, फ़िजूल बर्बाद करने की ज़रूरत कौन-सी है।—कहते-कहते उसका गला भारी हो आया।

सरला समझ गई सारी बात। समझ गई कि जवाब देने से आक्षेप का वेग बढ़ता ही जाएगा—कम नहीं होगा। चुपचाप खड़ी रही। ज़रा ठहरकर नीरजा ने खाहमखाह प्रश्न किया: जानती हो इस फूल का नाम?

सरला सहज ही कह सकती थी, 'नहीं जानती' ; किंतु शायद अभिमान पर चोट लगी ; बोली : एमारिलिस।

नीरजा ने अनुचित गरमी के साथ डांट जैसे सुर में कहा : खूब तो नाम जानती हो ; उसका नाम है ग्रैण्डीफ़्लोरा।

सरला मृदु स्वर में बोली : सो होगा।

सो होगा का क्या मतलब। ज़रूर यही नाम है। क्या यह कहना चाहती हो कि मुझे मालूम नहीं है ?

सरला जानती थी, नीरजा ने जान-बूझकर ही ग़लत नाम कहकर प्रतिवाद किया है।— दूसरे को पीड़ा पहुंचाकर अपनी पीड़ा शांत करने के लिये। वह चुपचाप हार मानकर बाहर चली जा रही थी कि नीरजा ने उलटकर पुकारा : सुनती जाओ। क्या करती रहीं आज सारी सुबह ? कहां थीं ?

आर्किड्-घर में।

नीरजा उत्तेजित होकर बोली : आर्किड-घर में इस तरह बार-बार जाने की तुम्हें क्या ज़रूरत पड़ती है ?

पुराने आर्किड् को चीरकर हिस्से करके नया आर्किड् बनाने के लिये आदित् भैया मुझसे कह गए थे।

नीरजा डांट के सुर में बोल उठी : अनाड़ी की तरह तुम सब बर्बाद कर डालोगी। मैंने अपने ही हाथों से हला माली को बनाना सिखलाया है, उसे हुकुम देने से क्या वह नहीं कर पाता ?

इस बात पर कोई जवाब नहीं चल सकता। इसका अकपट उत्तर तो यही था कि नीरजा के हाथों हला माली का काम अच्छा ही चलता था लेकिन सरला के हाथों एकबारगी नहीं चलता। यहां तक कि वह उसका अपमान करके उदासीनता दिखलाता है।

माली इतनी बात भली प्रकार समझ गया था कि इस अमलदारी में अच्छी तरह काम न करने से ही उस अमलदारी की मालकिन खुश रहेंगी। यह मानों डिग्री की अपेक्षा कालेज बायकाट करके परीक्षा पास न करने का मूल्य ही अधिक ठहराया गया।

सरला नाराज़ हो सकती थी लेकिन हुई नहीं। वह समझती है कि भाभी के जी में कौन-सी व्यथा टीसा करती है। निःसन्तान मां के सारे हृदय को जिस बगीचे ने घेर रखा है, आज दस बरस बाद वह उसके इतने निकट है, तब भी वहां से संपूर्ण निर्वासित। आंखों के आगे ही निष्ठुर विच्छेद है।—नीरजा बोली : बंद कर दो, बंद कर दो वह खिड़की।

सरला ने बंद करके पूछा : अब नारंगी का रस ले आऊं ?

नहीं, कुछ नहीं लाना है, अब जा सकती हो।

सरला ने डरते-डरते कहा : मकरध्वज खाने का वक्त हो गया है।

नहीं, ज़रूरत नहीं है मकरध्वज की। तुम्हारे ऊपर बाग़ के और भी किसी काम की फ़रमाइश है क्या?

गुलाब की कलमें खोंसनी हैं।

नीरजा ज़रा-सा खोंचा देकर बोली : सो उसका यही समय है शायद! यह अक़ल उन्हें दी किसने, सुनूं भला।

सरला मृदु स्वर में बोली : मुफ़स्सिल से सहसा बहुत-सारे आर्डर आए देखकर किसी तरह अगली बरसात के पहले ही खूब ज्यादा पौधे तैयार करने का संकल्प कर बैठे हैं। मैंने नाहीं की थी।

तुमने नाहीं की थी! अच्छा, अच्छा, बुलाओ तो हला माली को।

हला माली हाज़िर हुआ।

नीरजा बोली : बाबू बन उठे हो? गुलाब की क़लम खोंसते हाथ में कांटे चुभते हैं! बहन जी तुम्हारी एसिस्टेण्ट माली हैं न? बाबू के शहर से लौटने के पहले ही जितनी क़लमें तैयार कर सके, कर डाल। आज तुमलोगों की छुट्टी नहीं है सो कहे रखती हूं। जलाए हुए घास-पात के साथ रेत सानकर ज़मीन तैयार कर रख—झील की दाहिनी मेड़ पर।—मन-ही-मन ठीक कर लिया कि वहीं लेटे-लेटे गुलाब के पौधे वह तैयार करा ही डालेगी। हला माली को अब छुटकारा नहीं मिल सकता।

अचानक हला प्रश्रय की हंसी से मुंह भरकर बोला : भाभीजी, यह एक पीतल का भांड़ है, कटक के हरसुन्दर माइती का बनाया हुआ। ऐसी चीज़ों पर दरद तुम्हीं कर सकती हो। तुम्हारी फूलदानी होकर फबेगा खूब।

नीरजा ने पूछा : दाम कितना है?

जीभ काटकर हला बोला : ऐसी बात मत कहो भाभीजी! इस लुटिया का भला दाम लूंगा! ग़रीब हूं सो इसीलिये छोटा आदमी तो नहीं हूं। तुम्हारा ही खा-पहिनकर आदमी बना हूं।

पात्र को तिपाई पर रखकर दूसरी फूलदानी से फूल चुनकर सजाने लगा। अंत में जाने को उद्यत होकर फिर ज़रा मुड़कर बोला : तुम्हें बहन की शादी की बात तो बतला चुका हूं। बाजूबन्द की याद भूल मत जाना भाभीजी! अगर पीतल का गहना दूं तो तुम्हारी ही

बदनामी होगी। इतने बड़े घर का माली, उसीके घर ब्याह ; दुनिया भर के लोग आशा लगाए बैठे हैं।

नीरजा बोली : अच्छा, फ़िक्र मत कर, अभी तू जा।

हला चला गया। नीरजा हठात् करवट लेकर तकिये पर सिर रखकर घुमड़ उठी : रोशनी रोशनी, मैं छोटी हो गई हूं, उस हला माली की तरह ही हो गया है मेरा मन।

आया बोली : सो क्या कह रही हो बिटिया ! छिः छिः !

नीरजा जैसे अपने ही से कहने लगी : मेरे जले कपाल ने मुझे बाहर से तो उतार दिया है लेकिन भीतर से क्यों उतार दिया ? मैं क्या जानती नहीं कि हला मुझे आज किस नज़र से देखता है ! मेरे पास इसकी-उसकी बातें लगाकर हंसते-हरखते बख़्शीश ले गया। उसे बुला तो दे ! खूब अच्छी तरह डांटूगी, उसकी यह शैतानी मिटानी ही होगी।

आया जब हला को बुलाने चली तब नीरजा बोल उठी : रहने दो रहने दो, आज रहने दो।

३

थोड़ी देर बाद उसके पति का चचेरा भाई रमेन्द्र आकर बोला : भाभी, भैया ने मुझे भिजवाया है। आज आफ़िस में काम की भीड़ है, होटल में ही खाएंगे, लौटते देरी होगी।

नीरजा हंसती हुई बोली : ख़बर देने का बहाना पाकर एक दौड़ में भागते आए हो बाबू ! क्यों, आफ़िस का बैरा शायद मर गया है ?

तुम्हारे पास आने के लिये तुम्हें छोड़ और किसी बहाने की ज़रूरत क्यों होगी भाभी ! बैरा विचारा क्या समझेगा इस दूत-पद का दरद !

अजी अस्थान में मिठाई बिखरा रहे हो ! कैसे भूल पड़े इस कमरे में ? तुम्हारी मालिनी आज एकाकिनी हैं नीबू-कुञ्ज में, जाकर देख आओ।

पहले कुंजवन की वनलक्ष्मी को दर्शनी दे दूं तब जाऊं मालिनी की खोज में।—यह कहकर भीतर की जेब से एक कहानियों की किताब बाहर करके नीरजा के हाथों में दे दी।

नीरजा खुश होकर बोली : 'अश्रु-बन्धन'—ठीक यही किताब चाह रही थी। असीस देती हूं तुम्हारे मालञ्च की मालिनी सदा बंधी रहे हृदय के पास—हंसी के बन्धन से—वही जिसे तुम कहते हो कल्पना की सहचरी, तुम्हारे स्वप्नों की संगिनी। हाय रे दुलार !

रमेन अचानक बोला : अच्छा भाभी, एक बात पूछूं, ठीक उत्तर देना।

कौन-सी बात ?

सरला के साथ आज क्या तुम्हारा झगड़ा हो गया है ?

क्यों भला ?

देखा, झील के तीर वह घाट पर चुपचाप बैठी है। लड़कियों का तो पुरुषों की तरह काम से भागनेवाला उडंत मन नहीं होता। ऐसी बेकारी की दशा सरला को मैंने पहले कभी नहीं देखी। पूछा : मन किस ओर है ?—बोली : जिस ओर तप्त पवन सूखे पत्तों को उड़ा ले जाता है उसी ओर।—मैंने कहा : यह तो पहेली बुझाई। स्पष्ट भाषा में बात कहो।—वह बोली : क्या सभी बातों की भाषा हुआ करती है ?—फिर वही पहेली! तभी गाने की कड़ी याद आई—का को बचन कलेस दयौ!

हो सकता है तुम्हारे भैया ···

सो हो ही नहीं सकता। भैया पुरूष आदमी जो हैं। वे तुम्हारे इन मालियों-आलियों को घुड़की दे सकते हैं, लेकिन 'पुष्पराशाविवाग्निः'—यह भी क्या संभव है ?

अच्छा, फालतू बक-बक की ज़रूरत नहीं। एक काम की बात कहूं, मेरा अनुरोध रखना ही होगा। दुहाई है, सरला से तुम ब्याह कर लो। सयानी-कुवांरी का उद्धार करने से महापुण्य होगा।

पुण्य का लोभ नहीं है किन्तु कन्या का लोभ है सो तुम्हारे पास बाहलफ़ स्वीकार करता हूं।

तो फिर अड़चन किस जगह है ? क्या उसका मन नहीं है ?

यह तो कभी पूछा ही नहीं। कहा तो तुमसे कि वह मेरी कल्पना की सहचरी ही रहेगी, जीवन की सहचरी नहीं होगी।

सहसा तीव्र आग्रहपूर्वक रमेन का हाथ दबाकर नीरजा बोली : क्यों नहीं होगी ? होना ही होगा। मरने से पहले तुम्हारा ब्याह अवश्य देख जाऊंगी, नहीं तो भूत होकर तुम लोगों को सताऊंगी सो कहे रखती हूं।

नीरजा की व्यग्रता देखकर रमेन थोड़ी देर विस्मित होकर उसके मुंह की ओर ताकता रहा। अंत में सिर हिलाकर बोला : भाभी, मैं रिश्ते के नाते छोटा किन्तु उम्रमें बड़ा हूं।

बीज उड़ती हवा में तैरकर आता है, आश्रय पाकर अपनी जड़ें विसारता है ; तब किसकी साध्य है जो उसे उखाड़ सके!

मुझे उपदेश देने की ज़रूरत नहीं। मैं तुम्हारी गुरुजन हूं, तुम्हें उपदेश देती हूं, तुम ब्याह कर लो। देरी मत करो। इसी फाल्गुन महीने में ही अच्छी लगन पड़ती है।

मेरे पत्रा-पंचाग में तीन-सौ-पैंसठ दिन ही अच्छे हैं। किन्तु दिन भले ही हो रास्ता नहीं है। मैं एक बार जेल हो आया हूं, इस समय भी जेल ही के मुंह की ओर रपटीले रास्ते पर चल रहा हूं। इस राह प्रजापति के दूत का चलना फिरना नहीं होता।

तो आजकल की लड़कियां ही शायद जेलखाने से डरती हैं?

न भी डरती होंगी किन्तु यह रास्ता सप्तपदी-गमन का रास्ता तो नहीं है। इस पथ पर वधू को पार्श्व में न रखकर मन में रखने से शक्ति मिलती है। वह मेरे मन में ही सदा के लिये रह गई।

तिपाई पर हारलिक्स दूध का पात्र रखकर सरला चली जा रही थी। नीरजा बोली : जाना मत। सुनो सरला, यह फ़ोटो किसका है? पहचान सकती हो?

सरला बोली : यह तो मेरा ही है।

यह तुम्हारी उन्हीं पहले के दिनों की तसवीर है।—जब अपने बड़े चाचा के यहां तुम-दोनों बाग़ में काम किया करते थे।

देखने से लगता है पंद्रह की उम्र होगी। मरहठी लड़कियों की तरह कछोटा मारकर साड़ी पहने हुई हो।

यह तुम्हें कहां से मिली?

उनके एक डेस्क में देखी थी किन्तु तब अच्छी तरह ख़याल नहीं किया। आज वहां से मंगवा ली। बाबू, उस समय की सरला से आज की सरला देखनें में और भी सुदंर हुई है। तुम्हें कैसा लगता है?

रमेन बोला : उस समय क्या कोई सरला थी भी? कम से कम मैं तो उसे नहीं जानता था। मेरे निकट आज की सरला ही एकमात्र सत्य है। तुलना करूं तो किसके साथ?

नीरजा बोली : उसका आज का मुख हृदय के किसी रहस्य से सघन होकर भर उठा है, मानों जो मेघ शुभ्र सफ़ेद था आज उसीके भीतर से श्रावण की बरसात झरू-झरू कर रही हो—इसीको तुम लोग रोमैण्टिक कहा करते हो, न बाबू?

सरला जाने के लिये उद्यत हुई, नीरजा बोली : सरला, थोड़ा-सा बैठो न? बाबू, एक बार पुरुषों की आंखें लेकर सरला को देख लूं। अच्छा बताओ तो भला उसकी कौन-सी चीज़ सबसे पहले नज़र में पड़ती है?

रमेन बोला : सभी कुछ एक साथ।

निश्चय ही उसकी दो आंखें; कैसे एक गभीर भाव से ताकना जानती हैं। ना, उठो मत सरला! थोड़ा-सा और बैठो।...उसकी देह भी कैसी।

तुम क्या उसे नीलाम करने बैठी हो भाभी ? जानती तो हो वैसे ही मेरे उत्साह में कोई कमी नहीं है ।

नीरजा दलाली के उत्साह से बोल उठी : बाबू, सरला के दोनों हाथ तो देखो भला, जैसा उनमें ज़ोर है वैसे ही सुडौल, कोमल हैं, और फिर उनकी श्री भी वैसी ही है। ऐसे हाथ और कहीं देखे हैं ?

रमेन सहसा हंसकर बोला : और कहीं देखा है कि नहीं इसका उत्तर तुम्हारे ही मुंह के सामने देने से कुछ अप्रिय सुनाई पड़ेगा।

ऐसे दोनों हाथों पर दावा नहीं करोगे ?

सदा के लिये दावा नहीं भी किया तो प्रतिक्षण का दावा तो किया ही करता हूं। तुम्हारे कमरे में जब भी चाय पीने आता हूं तब चाय की अपेक्षा कुछ अधिक जो पाता हूं सो उन्हीं हाथों के गुण से। उस रसग्रहण में पाणिग्रहण का जो कुछ संपर्क रहता है, अभागे के लिये वही काफ़ी है।

सरला मोढ़ा छोड़कर उठ खड़ी हुई। कमरे से जाने का उपक्रम करते ही रमेन द्वार छेंककर बोला : एक बात दो तब रास्ता छोड़ूंगा।

क्या ?—कहो।

आज शुक्ला चतुर्दशी है। मैं मुसाफिर आज तुम्हारे बगीचे आऊंगा। कहने के लिये बात होने पर भी कहने की ज़रूरत ही नहीं होगी। अकाल पड़ा है, पेट भरकर भेंट भी नहीं जुड़ती। सहसा इस कमरे में मुष्टि-भिक्षा का मिलना जो हुआ सो मंजूर नहीं। आज तुम्हारे पेड़ों-तले खूब धीरे-सुस्ते बैठकर मन भर लेना चाहता हूं।

सरला ने सहज स्वर ही में कहा : अच्छा, आना तुम।

रमेन पलंग के पास लौट आकर बोला : तब मैं चलूं भाभी !

अब रुकने की क्या ज़रूरत ? भाभी का जो काम था सो तो पूरा हो गया।

रमेन चला गया।

४

रमेन के चले जाने पर नीरजा हाथों में मुंह छिपाए बिछौने पर पड़ी रही। सोचने लगी, ऐसे ही मन मत्त कर देनेवाले दिन उसके भी थे। कितनी ही वासन्ती रातों को उन्होंने उद्विग्न कर दिया है। संसार की बारह आना स्त्रियों की भांति वह क्या पति की घर-गिरिस्ती का

असबाब थी ? बिछौने पर पड़े पड़े उसे केवल याद आती है, कितने दिन उसके पति ने उसकी अलकें खींचकर आर्द्रकण्ठ से कहा है—'मेरे रंग-महल की साक़ी !'

दस वर्षों में रंग तनिक भी म्लान नहीं हुआ, प्याला भरा ही रहा। पति उससे कहा करता : सुना है उस युग में तरुणियों के पांवों का परस पाकर अशोक में फूल लग जाते, मुख-मदिरा के छींटों से बकुल फूल उठता। मेरे बगीचे में वही कालिदास का युग पकड़ाई दे गया है। जिस पथ पर रोज़ तुम्हारे पांव पड़ते हैं उसीके दोनों ओर रंग-रंग के फूल खिल उठे हैं, वसंत की हवा ने मदिरा सींच दी है, गुलाब के उपवन में उसीका नशा छा गया है।—बातों-ही-बातों में वह कहा करता : तुम न होतीं तो इस फूल के स्वर्ग में रोज़गारी की दूकान वृत्रासुर बनकर दखल जमा लेतो। मेरे भाग्य के प्रभाव से तुम हो इस नंदनवन की इन्द्राणी !—हाय रे, यौवन तो आज भी चुका नहीं किंतु उसकी महिमा चली गई है। तभी तो इन्द्राणी आज अपना आसन भर नहीं पा रही। उस दिन उसके मनमें क्या कहीं लेशमात्र भी भय था ! जहां वह थी वहां और कोई न था ; अपने आकाश में वह प्रभात के अरुणोदय की तरह परिपूर्ण अकेली थी। आज कहीं भी ज़रा-सा छाया देखकर ही उसकी छाती धड़कने लगती है, अपने पर आज भरोसा नहीं है। अन्यथा वह सरला कौन होती है, किस बात पर उसे गर्व है ? आज उसे लेकर भी मन संदेह से डोल उठता है। कौन जानता था समय चुक जाने से पूर्व ही ऐसी दीनता भाग्य में घटित होगी। इतने दिन इतना सुख, इतना गौरव अजस्र भाव से देकर भी विधाता ने इस तरह चोर की भांति सेंध लगाकर दत्तापहरण कर लिया !

रोशनी, सुन जा।

क्या है, बिटिया ?

तुम्हारे जमाईबाबू एक दिन मुझे रंगमहल की रंगिणी कहते थे। हमारे ब्याह को दस वर्ष हुए, वह रंग आज भी फीका नहीं पड़ा, किन्तु वह रंगमहल...?

जाएगा कहां, तुम्हारा रंगमहल बना हुआ है। कल तुम सारी रात नहीं सोईं, तनिक सो तो जाओ, मैं तुम्हारे पावों पर हाथ फेर दूं।

रोशनी, पूर्णिमा नज़दीक है। ऐसी कितनी ही चांदनी रात मैं सोई नहीं ; हम दोनों टहलते रहा करते सारी रात बाग़ में। वह जागना—और यह जागना ! आज यदि सो सकूँ तो जान बचे, किन्तु निगोड़ी नींद आना जो नहीं चाहती।

ज़रा-सा चुप तो होओ भला, नींद ख़ुद आ जाएगी।

अच्छा, वे लोग क्या घूमा करते हैं बाग़ में चांदनी रात में ?

भोर के खेप के लिये फूल चुनते देखा है। घूमेंगे कब, वक्त ही कहां है ?

माली लोग आजकल खूब पैर फैलाकर सोया करते हैं। फिर भी शायद जान-बूझकर ही उन्हें नहीं उठाते ?

तुम नहीं हो, सो उन्हें छू भी सके ऐसी किसकी हिम्मत है !

यह गाड़ी की आवाज़ सुनी न ?

हां, बाबू की गाड़ी आई ।

छोटा आइना आगे सरका दे। बड़ा गुलाब ले आ फूलदानी से। सेफ्टीपिन का डिब्बा कहां गया देखूं भला। आज मेरा चेहरा बड़ा फीका पड़ गया है। जा तू कमरे से।

जाती हूं किन्तु दूध-बार्ली जो पड़ी रह गई, खा लो मेरी रानी-बिटिया !

पड़ी रहने दो, खाऊंगी नहीं।

तुम्हारी दो खूराक दवा आज नहीं पी गई।

बकबक मत कर, तू जा—कह रही हूं, वह खिड़की खोलती जा।

आया चली गई ।

टन-टन करके तीन बज गए। धूप का रंग आरक्त हो आया, छाया लंबी हो पड़ी पूरब की ओर। दक्खिन से हवा का झोंका आया, झील का पानी ढल-ढल कर उठा, माली काम पर जुट गए। नीरजा दूर ही से जितना देख पाती है उतना देखती है। द्रुत पदों से आदित्य कमरे में दौड़ता आया। वासन्ती रंग के देशी लैबरनम् फूलों की मंजरी से हाथ जुड़े हुए हैं। उन्हींसे नीरजा के पावों के इर्दगिर्द सब ढंक दिया। बिछौने पर बैठते ही उसके हाथ दबाकर रखे हुए बोला : आज कितनी देर से तुम्हें नहीं देखा नीरू ! सुनकर नीरजा और न रोक सकी, फूट-फूटकर रोने लगी। आदित्य ने पलंग से उतरकर फ़र्श पर घुटनों के बल बैठ नीरजा के गले में हाथ घेर दिए ; उसके भीगे गालों को चूमकर कहा : मन ही मन तुम ठीक जानती हो, मेरा दोष नहीं था।

इतने निश्चय के साथ किस तरह जान सकूंगी—कहो तो भला ? मेरे क्या अब वे दिन हैं ?

दिनों की बात का हिसाब लगाकर क्या होगा ? तुम तो मेरी वही तुम हो।

आज मुझे अपने सभी कुछ से भय होता है। मन को ज़ोर जो नहीं मिलता।

थोड़ा-सा भय अच्छा लगा करता है। न ? खोंचा देकर मुझे तनिक उस्का देना चाहती हो। यह चातुरी स्त्रियों को स्वभावसिद्ध है।

और भूल जाना शायद पुरुषों को स्वभावसिद्ध नहीं है, न ?

भूलने की फुर्सत ही कहां देती हो !

सो मत कहो, सो मत कहो, निगोड़े विधाता के शाप ने खूब लंबी फुर्सत दे रखी है !

उल्टी बात ! सुख के दिनों में भूला जा सकता है, दर्द के दिनों में नहीं ।

सच कहो, आज सबेरे तुम भूलकर नहीं चले गए थे ?

क्या कहती हो तुम ! चले-जाना पड़ा था किन्तु जितनी देर लौट नहीं सका मन को चैन नहीं मिला ।

कैसे बैठे हो तुम, अपने पांव बिस्तर पर उठाकर बैठो ।

बेड़ी डालना चाहती हो कि कहीं भाग न जाऊं ।

हां, बेड़ी डालना चाहती हूं । जनम-मरन में तुम्हारे दोनों पांव निःसन्देह मेरे पास बंदी ही रहेंगे ।

बीच-बीच में तनिक-सा संदेह करती हो, जिससे दुलार का स्वाद बढ़ जाता है ।

नहीं, तनिक भी नहीं, इतना-सा भी नहीं । तुम्हारे समान पति भला किस लड़की को मिला है ? तुमपर भी सन्देह, इसमें तो मुझे ही धिक्कार है ।

तो फिर मैं ही तुम पर सन्देह करूंगा नहीं तो नाटक नहीं जमेगा ।

सो कर सकते हो, कोई भय नहीं । वह होगा प्रहसन ।

चाहे जो कहो किन्तु मुझपर नाराज़ हो गई थीं तुम ।

क्यों फिर वही बात ? उसकी सज़ा तुम्हें नहीं देनी पड़ेगी, अपने ही भीतर उसका दण्ड-विधान है ।

दण्ड किसलिये ? क्रोध का ताप यदि बीच-बीच में दिखलाई न पड़े तो समझूंगा प्यार की नाड़ी ही छूट गई है ।

यदि किसी दिन तुमपर भूल से भी क्रोध करूं तो निश्चित समझना वह मैं नहीं हूं, कोई अपदेवता मुझपर हावी है ।

अपदेवता तो एक-एक हम सभी का होता है, जो बीच-बीच में अकारण अपनेको जना दिया करता है । सद् बुद्धि जब आती है तो राम-नाम का स्मरण करता हूं, फिर वह तत्काल ही भाग जाता है ।

आया कमरे में आई, बोली : जमाई बाबू, आज सुबह से बिटिया ने दूध नहीं पिया, दवा नहीं पी, मालिश नहीं कराई । ऐसा करने से हमलोग उसके साथ नहीं निभा सकते ।— कहकर ज़ोर-ज़ोर से हाथ झुलाते हुए चली गई ।

सुनते ही आदित्य उठ खड़ा हुआ, बोला : अबके तो मैं गुस्सा करूंगा !

हां करो, खूब गुस्सा करो, जहां तक कर सको गुस्सा करो ; मैंने अन्याय किया है सही, लेकिन उसके बाद माफ़ कर दो ।

आदित्य द्वार के पास जाकर पुकारने लगा : सरला, सरला !

सुनते ही नीरजा की प्रत्येक शिरा जैसे झनझना उठी। समझ गई, जहां कांटा बिंधा है वहीं हाथ जा पड़ा है। सरला कमरे में आई। आदित्य ने विरक्त होकर पूछा : नीरू को दवा नहीं दी आज, आज सारा दिन खाने को भी कुछ नहीं दिया न?

नीरजा बोल उठी : उसे क्यों डांट रहे हो भला? उसका क्या दोष है? मैंने ही तो शैतानी करके कुछ नहीं खाया-पिया, मुझे डांटो न। सरला तुम जाओ, फ़जूल क्यों खड़ीखड़ी डांट खाओगी!

जाएगी क्या, पहले दवा निकाल दे। हार्लिक्स मिल्क तैयार कर लावे।

आहा, सारा दिन उसे माली के काम में पेर डालते हो, फिर ऊपर से नर्स का काम क्यों कराओगे? तनिक दया भी नहीं आती तुम्हारे मन में? आया को बुलाओ न?

आया क्या ठीक-से कर सकेगी यह सब काम?

बड़ा भारी काम है न! खूब कर सकेगी और भी अच्छी तरह कर सकेगी।

किन्तु......

अब किन्तु और क्या? आया, आया!

इतनी उत्तेजित मत होओ, एकाध बिपद घटाओगी, देखता हूं।

मैं बुला देती हूं आया को—कहकर सरला चली गई। नीरजा की बात का प्रतिवाद करे इतना भी उसके मुंह में नहीं आया। आदित्य भी मन-ही-मन चकित हुआ; सोचने लगा, क्या सचमुच ही सरला से अन्याय के रूप में काम लिया जा रहा है।

औषधि-पथ्य हो जाने पर आदित्य ने आया से कहा : सरला दीदी को बुला दो।

बात बात में सिर्फ सरला दीदी, बेचारी को तुम चैन नहीं लेने दोगे, देखती हूं।

कुछ काम की बात है।

रहने दो न अभी काम की बात।

ज्यादा देर नहीं लगेगी।

सरला स्त्री-जाति है, भला उसके साथ इतनी क्या काम की बातें। बल्कि हला माली को बुलवाओ न?

तुम्हारे साथ ब्याह होने के बाद से एक बात आविष्कार कर पाया हूं कि स्त्रियां ही काम की होती हैं, पुरुष मज्जा तक बेकार जीव होता है। हमलोग काम किया करते हैं गले में फांसी लगने पर, तुमलोग करती हो प्राणों के उत्साह से। इस विषय पर एक थीसिस लिखने का विचार है। मेरी डायरी में इसके बहुत उदाहरण मिल जाएंगे।

उसी नारी को आज उसके प्राणों के काम से जिस विधाता ने वञ्चित कर रखा है उसकी क्या कहकर निन्दा करूं । भूकंप से भड़-भड़कर मेरे काम-काज का शिखर टूट पड़ा है, तभी तो मकान के खंडहर में भूतों का डेरा जमा है ।

सरला आई । आदित्य ने पूछा : आर्किड् घर का काम हो गया ?

हां, हो गया ।

सब ?

सभी ।

और गुलाब की कटिंग ?

माली ने उसके लिये ज़मीन तैयार की है ।

ज़मीन ? वह तो मैंने पहले ही तैयार करा रखी है । हला माली के सुपुर्द किया है सो दातौनों की बाग़बानी होगी और क्या !

बात में जल्दी से बाधा देकर नीरजा बोली ; सरला, जाओ तो, नारंगी का रस निकाल लाओ, उसमें ज़रा-सा अदरक का रस मिला देना और ज़रा-सी शहद ।

सरला सिर नीचा किए कमरे से बाहर हो गई ।

नीरजा ने पूछा : आज तुम तड़के उठे थे न, जैसा हमलोग रोज़ उठा करते थे ?

हां, उठा था ।

घड़ी में उसी तरह एलार्म की चाबी भर दी गई थी ?

हां ज़रूर ।

वहीं नीम-तले उसी कटे पेड़ के तने पर चाय का सामान ? बासू ने सब ठीक-ठाक कर रखा था ?

हां, नहीं तो तुम्हारी अदालत में हरजा ने का दावा करता ।

दोनों ही चौकियां बिछी हुई थीं ?

बिछी थीं ठीक पहले की ही तरह । और वही नीली पाड़वाले वासंती रंग की चाय का सरञ्जाम था ; चांदी का दूध का पात्र, छोटी सफेद पत्थर की कटोरी में शकर और ड्रागन अंकित जापानी ट्रे ।

दूसरी चौकी खाली क्यों रख छोड़ी थी ?

अपनी इच्छा से नहीं रखी थी । आकाश में तारों की गिनती ठीक ही थी, केवल शुक्ला पंचमी का चांद दिगन्त के बाहर था । सुयोग होता तो उसे पकड़कर ले आता !

सरला को क्यों नहीं बुलाते अपनी चाय की टेबिल पर ?

इसके उत्तर में सहज ही कहा जा सकता था, तुम्हारे आसन पर और किसीको बुलाते जी नहीं होता। किन्तु सत्यवादी ने यह न कहकर कहा : सबेरे के समय शायद वह कुछ जप-तप किया करती है, मेरे-समान भजन-पूजनहीन म्लेच्छ तो है नहीं।

चाय पीने के बाद शायद आज उसे आर्किड्-घर की तरफ़ ले गए थे ?

हां, कुछ काम था, उसे समझाकर वहीं से भागना पड़ा मुझे दूकान।

अच्छा एक बात पूछती हूं, सरला के साथ रमेन का ब्याह क्यों नहीं कर देते ?

क्या शादी लगाना मेरा पेशा है ?

नहीं मज़ाक नहीं। ब्याह तो करना ही होगा, रमेन-जैसा पात्र और मिलेगा कहां ?

पात्र तो है एक तरफ़ और पात्री भी है दूसरी तरफ़ ; बीच में मन है कि नहीं इसका पता लगाने की कभी फ़ुर्सत ही नहीं मिली। दूर से देखने पर ऐसा कुछ लगता है-जैसे इसी जगह पर खटका-सा है।

तनिक तीखी होकर नीरजा बोली : कोई खटका न रहता, अगर तुम्हें सचमुच का आग्रह होता।

ब्याह करें कोई दूसरे और सचमुच का आग्रह हो केवल मेरा—इसमें भला कहीं काम हुआ है ? तुम्हीं कोशिश कर देखो न।

कुछ दिन फूल-पत्तों से उस लड़की की दृष्टि को छुट्टी तो दो भला, फिर देखोगे कि दृष्टि खुद ही ठीक जगह पर जा पड़ी है।

सोहागदृष्टि के प्रकाश में फूल-पत्ते, पहाड़-पर्वत सभी स्वच्छ होकर जैसे पारदर्शी हो जाते हैं। उसे तो एक तरह की एक्सरे कहना चाहिए और क्या !

झूठी बात ! असल में तुम्हारी मर्ज़ी ही नहीं है कि यह ब्याह हो।

इतनी देर बाद अब पकड़ी है तुमने सही बात। सरला के चले जाने पर मेरे बाग की क्या हालत होगी, कहो तो। नफ़ा-नुक़सान भी तो सोचना पड़ता है।...यह क्या, तुम्हारी पीड़ा फिर बढ़ उठी क्या ?

आदित्य उद्विग्न हो उठा। नीरजा ने सूखे गले से कहा ; कुछ नहीं हुआ। मेरे लिये इतने बेचैन होने की ज़रूरत नहीं।

पति जब उठने-उठने का विचार कर रहा था, वह बोल उठी : हमारे ब्याह के बाद ही उस आर्किड्-घर का प्रथम प्रारंभ हुआ था, भूल तो नहीं गए हो यह बात ? इसके बाद दिन-पर-दिन हम दोनोंने मिलकर उस घर को सजाया-संवारा है। उसे नष्ट होते देख तुम्हारे जी को तनिक भी व्यथा नहीं होती !

आदित्य चकित होकर बोला : यह क्या कहती हो ? नष्ट होने देने का मेरा शौक़ तुमने कहां देख लिया ?

नीरजा उत्तेजित होकर बोली : सरला क्या जाने फूल-पत्ती की बात !

कहती क्या हो ? सरला नहीं जानती ? मैं मौसा के यहां पला-बढ़ा हूं और मौसा हुए सरला के बड़े चाचा। तुम्हें तो मालूम ही है, उन्हींके बाग़ में मैंने बाग़बानी का ककहरा सीखा है। बड़े चाचा कहा करते, फूलों के बाग़ का काम स्त्रियों का ही है ; और दूसरा काम है गऊ दुहाना। उनके सब कामों में सरला उनकी संगिनी थी।

और तुम थे साथी।

बेशक, था ही तो। लेकिन मुझे तो कालेज की पढ़ाई-लिखाई करनी होती थी, इसलिये उतना समय नहीं दे पाया। सरला को मौसा खुद ही पढ़ाया करते थे।

उसी बगीचे को लेकर तुम्हारे मौसा का सत्यानाश हो गया। वह लड़की ही ऐसी है। मुझे तो इसीलिये डर लगा करता है। देखो न खुले मैदान की तरह कपार है, घोड़े की तरह उचकती चाल। लड़कियों की ऐसी पुरुषोचित बुद्धि भली नहीं होती। वह अकल्याण करती है।

तुम्हें आज हुआ क्या है, कहो तो नीरू ? क्या बोल रही हो तुम ? हमारे मौसा तो बाग़बानी करना ही जानते थे, रोज़गार नहीं। फूलों की खेती-बाड़ी में वे अद्वितीय थे ; अपना नुक़सान करके बाग़ सजाने में भी उनका कोई समकक्ष नहीं पाया गया। सभीके निकट उन्होंने नाम पाया, दाम नहीं। बाग़बानी के लिये मुझे उन्होंने जब मूलधन का रुपया दिया था तब मैं क्या जानता था कि उनकी तहवील डूबं-डूबं कर रही थी। मेरी एकमात्र सान्त्वना यही है कि उनके अवसान के पहले ही मैं सब कुछ पटा सका।

सरला नारंगी का रस ले आई। नीरजा बोली : वहीं रख जाओ।—सरला रखकर चली गई। पात्र पड़ा ही रहा, नीरजा ने छुआ तक नहीं।

सरला से तुमने ब्याह क्यों नहीं किया ?

सुनो भला। ब्याह का ख्याल ही कभी मन में नहीं आया।

मन में ही नहीं आया ! यही है शायद तुम्हारी कवि-कल्पना !

जीवन में कवि-कल्पना की बला ही पहली बार उस दिन सिर पर सवार हुई जिस दिन तुम्हें देखा। उसके पहले हम दोनों जंगलियों ने जंगल की छाया में दिन काटे थे। अपने आपको हम खोए हुए थे। यदि आजकल की सभ्यता में पला होता तो क्या होता कह नहीं सकता।

क्यों सभ्यता का क्या कुसूर है ?

आज की सभ्यता दुःशासन के समान हृदय का चीर-हरण करना चाहती है। आखों में अंगुली डालकर अनुभव करने के पूर्व ही आदमी को सयाना कर देती है। खुशबू का इशारा उसके लिये बहुत बारीक चीज़ हो गई, वह उसकी खबर लिया करता है पंखुड़ियों की चीर-फाड़ करके।

सरला देखने में तो बुरी नहीं है।

सरला को मैं सरला के रूप में ही जानता था। वह देखने में भली है या बुरी—यह तत्त्व सब प्रकार अनावश्यक था।

अच्छा सच बताना, उसे तुम प्यार नहीं करते थे ?

ज़रूर करता था। मैं क्या कोई जड़ पदार्थ हूं जो प्यार नहीं करूंगा ? मौसा का लड़का रंगून में बैरिस्टरी करता था, उसके लिये उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी। सरला उनके बाग को लेकर ही जीवन बिता दे, यही उनकी ज़िंदगी की साध थी। उनका तो यहां तक विश्वास था कि यह बगीचा ही उसके समस्त मन-प्राण को अधिकृत कर रखेगा ; उसको ब्याह करने की भी ग़रज़ नहीं होगी। पीछे मौसा चल बसे ; सरला अनाथा हो गई ; साहूकारों के हाथ बगीचा बिक गया। उस दिन मेरी छाती फट रही थी—क्या तुम जानती नहीं हो ? सरला प्यार करने योग्य वस्तु है, उसे प्यार नहीं करूंगा ? खूब याद है एक दिन सरला का मुंह हंसी-खुशी से उच्छ्वसित था,—लगता था जैसे पंछी की उड़ान उसके पावों में आ समाई हो। आज चलती है वह छाती-भर बोझा ढोए-ढोए, तब भी टूट नहीं पड़ी। एक दिन भी उसने—मेरे निकट भी—लंबी सांस नहीं छोड़ी, अपनेको इतनी भी फुर्सत नहीं दी।···

आदित्य की बात दबाती हुई नीरजा बोली : अजी रुको भी, बहुत सुन चुकी हूं तुमसे उसकी बात। और बखानने की ज़रूरत नहीं है। असाधारण लड़की है! इसीसे तो कहता हूं उसे उसी बारासत गर्ल्स-स्कूल का हेड् मिस्ट्रेस बन जाने दो। वे लोग तो कितनी बार आरज़ू-मिन्नत कर गए हैं।

बारासत-गर्ल्स-स्कूल ? क्यों अन्दमान भी तो है!

नहीं, हंसी नहीं। सरला को बगीचे का जो काम देना हो दे सकते हो, लेकिन उस आर्किड्-घर का काम नहीं दे सकोगे।

क्यों, हुआ क्या है ?

मैं तुम्हें कहे रखती हूं—सरला को आर्किड् की ठीक समझ नहीं है।

मैं भी तुम्हें कहता हूं, मेरी अपेक्षा सरला ज्यादा समझती है। मौसा का तो प्रधान

शौक़ ही था आर्किड में। उन्होंने अपने आदमी भेजकर सेलिबिस से, जावा से, यहां तक कि चीन से आर्किड् मंगवाए थे। उसकी क़ीमत करने योग्य आदमी भी उन दिनों नहीं थे।

—यह बात नीरजा की जानी हुई है, इसीसे वह और भी असह्य है।

अच्छा, अच्छा, खूब है, बहुत खूब है, वह न-हो मेरी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा समझती है, यहां तक कि तुम्हारी अपेक्षा भी। सो होने दो। लेकिन फिर भी कहती हूं, वह आर्किड्-घर सिर्फ तुम्हारा और मेरा है, वहां सरला का कोई अधिकार नहीं। अपना सारा बगीचा उसीको न दे डालो अगर नितान्त जो नहीं मानता; केवल खूब तनिक-सा कुछ रख छोड़ो जो सिर्फ मुझे ही उत्सर्ग किया हुआ हो। इतने समय बाद कम-से-कम इतना दावा तो कर हो सकती हूं। भाग्य-दोष से आज न-हो बिछौने पर ही पड़ी हूं, तो क्या इसीलिये......

—बात पूरी नहीं करते बनी, तकिये में मुंह गड़ाकर नीरजा अशांत होकर क्रन्दन करने लगी।

—आदित्य स्तंभित हो गया। वह जैसे इतने दिन बिल्कुल स्वप्न में ही चलता चला आ रहा था, सहसा ठोकर खाकर चौंक उठा। यह क्या मामला है! समझ गया, यह रुलाई बहुत-बहुत दिनों की संचित है; वेदना का बवंडर नीरजा के भीतर ही भीतर दिनों-दिन शक्ति-संचय कर रहा था, किन्तु आदित्य पल भर के लिये भी जान नहीं पाया। अपने भोलेपन में तो उसने यहां तक भी सोचा था कि सरला बगीचे की सेवा-जतन कर रही है सो इससे नीरजा प्रसन्न ही है। खासकर मौसम के हिसाब से चुने हुए फूलों-द्वारा क्यारी सजाने में सरला अद्वितीय है। आज अचानक याद आया, एक दिन किसी उपलक्ष्य से उसने जब यह कहते हुए सरला की प्रशंसा भी की थी कि कामिनी फूलों की ऐसी फबती हुई बाड़ी मैं तो नहीं लगा पाता, तो नीरजा तीव्र हंसी हंसकर बोल उठी थी: अजी महाशय जी, जितना उचित प्राप्य है उससे ज्यादा देने से अंत में आदमी का नुक़सान ही होता है।—आज आदित्य को स्मरण हुआ, पेड़-पौधों के बारे में किसी प्रकार सरला की ज़रा-सी भी भूल यदि नीरजा पकड़ पाती तो उच्च हास्य-द्वारा उस बात को घुमा-घुमा-कर मुखरित कर डालती। स्पष्ट ही याद पड़ा, अंग्रेज़ी की पोथियों से खोज-खोजकर नीरजा अल्पपरिचित फूलों के उद्भट नाम कंठस्थ कर रखती फिर बिल्कुल भोले आदमी की तरह सरला से जिज्ञासा किया करती और यदि सरला कहीं भूल चूक कर बैठी तो नीरजा की हंसी का हिल्लोल जैसे थमना ही नहीं चाहता; बड़ी पंडित आई हैं! कौन नहीं जानता उसका नाम कैशिया जावानिका है! इतना तो मेरा हला माली भी बता सकता था।

—आदित्य बहुत देर तक बैठा सोचता रहा। फिर नीरजा का हाथ अपने हाथों में

लेकर बोला : रोओ न नीरू, बताओ क्या करूं ? तुम चाहती हो सरला को बाग़ के काम में न रखा जाय ?

—नीरजा ने हाथ छुड़ाकर कहा : कुछ नहीं चाहती, कुछ भी नहीं, बाग़ तो तुम्हारा ही है। तुम जिसे खुशी रख सकते हो, उसमें मेरा क्या है ?

नीरू, तुम ऐसी बात कह सकीं ! कि बाग़ मेरा ही है, तुम्हारा नहीं ? हमारे बीच यह बंटवारा कब से हो गया ?

जब से तुम्हारे लिये विश्व का सभी कुछ अपना रहा और मेरे लिये बचा केवल कमरे का यही कोना। अपने इन टूटे प्राणों को लेकर तुम्हारी उस आश्चर्यजनक सरला के सामने भला खड़ी ही किस ज़ोर से हूंगी ? मेरी वह शक्ति आज कहां जो तुम्हारी सेवा कर सकूं, तुम्हारे बाग़ का जतन कर सकूं ?

नीरू, तुमने तो इससे पहले कितनी बार खुद ही सरला को बुलवाया है, उसकी सलाह ली है। क्या याद नहीं है, अभी कुछ हो वर्ष पहले बाताबी नीबू के साथ क़लमी नीबू की तुम दोनोंने मिलकर क़लमें बांधी थीं—मुझे चकित करने के लिये ?

उस समय तो उसे ऐसा ग़रूर नहीं था। विधाता ने मेरी ही तरफ़ आज अंधियारा कर दिया, तभी तो तुम रह-रहकर आविष्कार कर पाते हो : वह इतना जानती है, वह उतना जानती है, आर्किड पहचानने में मैं उसे पा ही नहीं सकती ! उन दिनों तो ये सब बातें कभी सुनने में नहीं आईं। तब आज मेरे इन हतभाग्य दिनों में क्यों दोनोंकी तुलना करने आए हो ? आज मैं उसका मुकाबला ही कैसे कर सकती हूं ? मापजोख में बराबर कैसे उतरूंगी ?

नीरू, आज तुम्हारे निकट यह जो सब सुन रहा हूं उसके लिये तनिक भी तैयार नहीं था। मालूम होता है जैसे ये मेरी नीरू की बातें नहीं हैं, जैसे यह कोई और है !

नहीं जी नहीं नीरू तो वही है। उसकी बात तुम इतने दिन में भी नहीं समझ सके—यही तो मेरी सबसे बड़ी सज़ा है। ब्याह के बाद जिस दिन मैंने जाना कि यह बाग़ तुम्हें प्राणों-जैसा प्यारा है, उस दिन से उस बाग़ में और अपनेमें कोई भेद नहीं रखा—तनिक-सा भी नहीं। नहीं तो तुम्हारे बगीचे के साथ मेरा भयंकर झगड़ा ठनता। उसे मैं बर्दाश्त ही नहीं कर पाती; वह मेरी सौत बन जाता। तुम्हें तो मालूम है मेरी रात-दिन की साधना। जानते तो हो मैंने किस तरह उसे अपने में घुला-मिला रखा है, किस तरह उसके साथ बिल्कुल एक हो गई हूं।

जानता क्यों नहीं हूं; मेरे सब कुछ को अपनाकर ही तो तुम हो।

छोड़ो उन सब बातों को। आज मैंने देखा उसी बगीचे में अनायास ही एक जन और

भी प्रवेश कर आया है। कहीं तनिक-सी भी व्यथा नहीं हुई। मेरी देह को चीर डालने की बात क्या ध्यान में आ सकती थी, किसी और के प्राणों का उसमें संचार करते समय। मेरा वह बाग़ क्या मेरी देह नहीं है? मैं होती तो क्या ऐसा कर सकती थी?

क्या करतीं तुम?

कहूं क्या करती? बगीचा सत्यानास हो जाता शायद। रोज़गार हो जाता दिवालिया। एक की जगह दस माली रखती किन्तु आने नहीं देती किसी और लड़की को—खासकर उसे जिसे गुरूर है कि मेरी अपेक्षा उसे ही बगीचे का काम अच्छा आता है। उसके इसी अहंकार-द्वारा तुम मेरा प्रतिदिन अपमान करोगे—आज जब मैं मरने चली हूं, जब अपनी शक्ति प्रमाणित करने का मेरे पास कोई उपाय नहीं है?...ऐसा क्योंकर हो सका, बताऊं?

बताओ—

मेरी अपेक्षा तुम उसे अधिक प्यार करते हो—इसीलिये। इतने दिन यह बात छुपाए हुए थे।

—आदित्य कुछ देर सिर के केशों में हाथ घुसाए स्तब्ध बैठा रहा फिर विह्वल कंठ से बोला: नीरू, दस बरसों से तुम मुझे जानती आ रही हो—सुख में, दुःख में, नाना अवस्थाओं—नाना काम-काजों में। उसके बाद भी तुम यदि आज ऐसी बात कह सकीं तो मैं कोई जवाब नहीं दूंगा। चल दिया! पास रहने से तुम्हारी तबीयत खराब होगी। फ़र्नरी के बाज़ू में जो जापानी घर है उसी में रहूंगा। जब मेरी ज़रूरत हो बुलवा भेजना।

क्रमशः

पुस्तक-परिचय

गौड़पाद का आगमशास्त्र *

शान्तिभिक्षु

गौड़पाद और उनके आगमशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र में महामहोपाध्याय पं० विधुशेखर शास्त्री की इस कृति ने एक नई निगाह दी है। मोटे तौर पर अबतक यही समझा जाता था कि गौड़पाद शंकराचार्य के दादागुरु थे और इन्होंने माण्डूक्योपनिषद् की व्याख्या में कारिकाएं लिखी हैं। शास्त्रीजी ने इस प्रचलित विश्वास की खूब छानबीन की है। अनुश्रुति को बड़े धीरज से परखा है। परखा ही नहीं है, जहां तक हो सका है उसका साथ देना चाहा है पर अन्धभाव से नहीं, खूब सोच विचार करके ही। जिन विचारकों ने अनुश्रुति को कोरा गोरख-धन्धा मानकर उसे अविश्वसनीय क़रार दिया है उनके तर्कों को शास्त्रीजी ने कहीं भी नज़र-अन्दाज़ नहीं किया है बल्कि अपनी पारखी निगाह से उनकी तह तक पहुँचने की कोशिश की है। गौड़पाद के बारे में हमारी अनुश्रुति कितना धुंधला ब्यौरा देती है यह इतने से ही पता चल जाता है कि जिन शंकराचार्य के दादागुरु होने का गौरव गौड़पाद को प्राप्त है वे ही शंकर गौड़पादीय कारिकाओं को उद्धृत करते हुए भी न तो गौड़पाद का नाम ही लेते हैं और न उनसे अपना निकटतम सम्बन्ध बतलाने के लिये किसी दूसरे शब्द का ही प्रयोग करते हैं केवल 'सम्प्रदायविदो वदन्ति' कहकर छोड़ देते हैं। यह बात विचारक के हृदय में खटके बिना नहीं रहती। एक ओर लोग गौड़पाद को शंकराचार्य के दादागुरु पद पर बिठला दें और दूसरी ओर स्वयं शंकराचार्य अपने दादागुरु के बारे में ऐसी चुप्पी साधें जैसे वे उनके अपने कुछ हों ही नहीं और उदासीन भाव से 'सम्प्रदायविदः' कहकर छुट्टी पा लें। शंकराचार्य ने ही गौड़पाद के बारे में इस प्रकार का धुंधला निर्देश किया हो सो बात नहीं बल्कि सब की सब परम्परा ही धुंधले निर्देशों से भरी पड़ी है। जहां पर कुछ साफ़ साफ़ कहा है वहां भी सन्देह रह ही जाता है। नैष्कर्म्यसिद्धिकार सुरेश्वराचार्य ने इसी प्रकार गौड़पाद का धुंधला निर्देश किया है—एवं गौडैर्द्राविडैर्नः पूज्यैरर्थः प्रभाषितः। अज्ञानमात्रोपाधिः सन्नहमादिदृगीश्वरः ॥" यहां देशवाची गौड़ और द्रविड़ शब्दों से गौड़पाद और शंकराचार्य का उल्लेख हुआ है। इससे यह तो भाँप में आ जाता है कि गौड़पाद का सम्बन्ध गौड़देश से है पर और किसी बात पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। वालेसर तिब्बती निकास के सहारे इतना ही जान सका कि बौद्ध पण्डित गौड़पाद की कारिकाओं को वेदान्तशास्त्र जानते थे पर गौड़पाद के बारे में उन्हें कुछ

* दि आगमशास्त्र आफ़ गौड़पाद — कलकत्ता विश्वविद्यालय के आशुतोष-संस्कृत-अध्यापक म० म० पं० विधुशेखर भट्टाचार्य द्वारा अंगरेज़ी में विस्तृत भूमिका, अनुवाद और टिप्पणियों के साथ रोमन अक्षरों में सम्पादित संस्कृत ग्रन्थ का सुन्दर संस्करण। पृष्ठ संख्या ४५४ (भूमिका १४६ + सानुवाद मूलग्रन्थ २१९ + परिशिष्ट ८९)। प्रकाशक — कलकत्ता विश्वविद्यालय। मूल्य अनुल्लिखित।

पता न था। साथ ही जिन गढ़ी हुई और परस्पर-विरोधी कथाओं से व्यास, शुक, गौड़पाद और गोविन्दपाद का नाता जोड़ा गया है उनसे तंग आकर वालेसर ने पूरी परम्परा ही काल्पनिक मान ली और अपनी टोह से वह जिस नतीजे पर पहुंचा शास्त्रीजी ने उसका यों ज़िक्र किया है : "वालेसर की राय में सुरेश्वराचार्य के गौड़ और द्रविड़ दो शब्दों से हमें वेदान्त के दो सम्प्रदाय समझ लेने चाहिए। अगर द्रविड़ शब्द से मालाबार में शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित सम्प्रदाय का बोध हो तो गौड़शब्द से उस देशिक सम्प्रदाय को लेना चाहिए जो उत्तरी भारत के गौड़ देश में—जो संस्कृति में खूब बढ़ चढ़ चुका था—स्थापित हुआ।" (भूमिका पृ० ६५)। शास्त्रीजी इस निष्कर्ष से असहमत नहीं हैं पर वे यह नहीं कहना चाहते कि अनुश्रुति में कुछ भी तथ्य नहीं है, इसलिये वे सोच समझकर कहते हैं : "बाल की खाल निकालने पर उतारू हुए बिना हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं। आगमशास्त्र, गौड़पादकारिका या इन्हींसे मिलते-जुलते नाम वाली कोई पोथी हमारे सामने है हो, और इस पोथी का कोई न कोई लेखक होना ही चाहिए। भले ही लेखक एक न होकर अनेक रहे हों। और पोथी भले ही जन-विशेष के प्रधान सम्प्रदाय की प्रतिनिधि हो पर क्या इतने भर से ही यह समझा जा सकेगा कि वह पोथी सारे जनसमूह ने मिलकर बनाई है। जब कभी देश का कोई बहुत प्रसिद्ध आदमी जनता के सामने कुछ कहता है तब उसकी बात उसकी निजी बात न समझी जाकर देश की बात समझी जा सकती है। भले ही ऐसा करने से पहले उसने उस देश के आदमियों से राय न ली हो। इसी तरह मेरी समझ में वर्तमान पोथी एक ही आदमी की बनाई हुई है फिर भी वह उस समूचे देश के विचारों का प्रतिनिधित्व करती है जहाँ की कि वह है। पर वह आदमी कौन है? वह एक गौड़ है। जब विरोध और असंगति कुछ भी नहीं है तो यथासम्भव हम अनुश्रुति को क्यों न मान लें। इस प्रकार जैसा कि हम देख चुके हैं कि ग्रन्थकार का नाम असल में गौड़, या आदरवाची पाद या आचार्य शब्द जोड़ देने से गौड़पाद या गौड़ाचार्य, है।" (भूमिका पृ० ७०-७१)। यह गौड़पाद कब हुए? दूसरे आचार्यों द्वारा उद्धृत गौड़पाद की कारिकाओं तथा गौड़पाद की कारिकाओं में पाए गए अन्य आचार्यों के शब्दशः और अर्थशः गृहीत सन्दर्भों के सहारे शास्त्री जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं : गौड़पाद भावविवेक से ज़रूर पहले हुए क्योंकि भावविवेक ने गौड़पाद को उद्धृत किया है। भावविवेक का समय ४००-५५० ई० है सो गौड़पाद का समय ५०० ई० हो सकता है। २००-४०० ई० बीच में हुए बौद्ध आचार्यों के वचनों को गौड़पाद ने पूर्णरूपेण या आंशिक रूपेण या साररूपेण ग्रहण किया है सो उनका समय ४०० ई० से पहले नहीं माना जा सकता (भूमिका पृ० ७५-७८)। इस प्रकार शास्त्रीजी की विवेचना के सहारे यह निष्कर्ष निकला कि गौड़पाद पाँचवीं शती में हुए। वे उत्तरी भारत के वेदान्त सम्प्रदाय के प्रतिनिधिभूत आचार्य हैं। दक्षिणी भारत के वेदान्त सम्प्रदाय से जिसमें शंकराचार्य हुए उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस निष्कर्ष से पुराने टाइप की मण्डित-मण्डली और विशेषकर अद्वैत सम्प्रदाय के अनुयायियों में खलबली मचे बिना नहीं रह सकती। पर वह कोई बहुत चिन्ता की बात नहीं है, अब तो वह समय नहीं रहा कि परम्परा को आंख मूंदे मानते ही चला जाए।

गौड़पाद की कारिकाओं को शास्त्रीजी ने भीतर बाहर सब तरह से परखा है। भूमिका

में भी उनके बारे में बहुत कुछ कहा है और मूलग्रन्थ के अनुवाद करते समय टिप्पणियों में भी कितनी ही नई बातों का समावेश है। उन सबकी अलग अलग आलोचना तो यहां सम्भव नहीं है फिर भी दो एक प्रमुख बातों का निर्देश अवश्य करना है। प्रचलित विश्वास के अनुसार गौड़पाद की कारिकाएं मूलग्रन्थ नहीं हैं प्रत्युत माण्डूक्य उपनिषद् की व्याख्या हैं। माण्डूक्य उपनिषद् के साथ गौड़पाद की कारिकाओं के भाष्यकार शंकर ने कम से कम यही समझा है। माण्डूक्य उपनिषद् और गौ० कारिकाओं का अध्ययन चूंकि शंकर की टीका के सहारे ही चिरकाल से हो रहा है इसलिये उक्त विश्वास बद्धमूल भी है और शायद उसके विरुद्ध सुनना शुरू शुरू में कम नागवार नहीं लगेगा। जो भी हो, शास्त्रीजी सर्वथा एक उलटे नतीजे पर पहुंचे हैं। उनके खयाल से कारिकाएं पुरानी और मूल ग्रन्थ हैं, उपनिषद् बाद की रचना है और वह कारिकाओं की निरी व्याख्या भर है। शास्त्रीजी ने अपनी बात को यों कहा है : "माधवाचार्य के कथनानुसार उपनिषद् के बाहर गद्य-सन्दर्भ चारभागों में विभक्त हैं और प्रत्येक भाग के अन्त में एक पंक्ति है—'अत्रैते श्लोका भवन्ति'। इन अवतारिका पंक्तियों की जब विभिन्न उपनिषदों के सदृश वाक्यों से तुलना करते हैं तो पता चलता है कि पहले कही गई बात के समर्थन के लिये ही श्लोक उद्धृत किए जाते हैं। और यह हम पहले देख चुके हैं कि माधवाचार्य तथा विशेषकर दूसरे पुराने आचार्यों ने इसी बात को साफ़ साफ़ कहा है। एवं इससे पता चला कि श्लोक या कारिकाएं पहले से ही थीं और गद्य-सन्दर्भ बाद की चीज़ हैं।" (भूमिका पृ० ३८-३९)

इसके बाद शास्त्रीजी ने आगम प्रकरण की उनतीस कारिकाओं और गद्य-सन्दर्भों के अनेकों शब्दों की तुलना करते हुए बताया है कि किस प्रकार कारिकाओं की गुत्थियों को गद्यभागों में सुलझाया है और अन्त में उन्होंने साफ़ साफ़ कहा है : "यदि दोनों ग्रन्थों की तुलना करें तो फ़ौरन यह बात साफ़ हो जाती है कि दूसरा ग्रन्थ (=उपनिषद्) पहले (=गौ० कारिकाओं) का ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा में रंगा कोरा विवरण है" (भूमिका पृ० ४३)। आगम-प्रकरण की कारिकाओं को विवेचनात्मक दृष्टि से देखा है और उसके आधार को खोजा है। उनके खयाल से गौड़पाद की कारिकाओं का निकास बृहदारण्यक उपनिषद् है। इसके अतिरिक्त कारिकाओं में व्याप्त बौद्ध प्रभाव को भांपा है। अलातशान्ति प्रकरण की कारिकाएं जो कि सम्पूर्ण ग्रन्थ के आधे के बराबर हैं बौद्ध प्रभाव से ओतप्रोत हैं। भूकिका में शास्त्रीजी ने इस बात की ओर इशारा कर दिया है पर उस प्रकरण का अनुवाद करते हुए टिप्पणियों में बहुत कुछ कहा है। पहली ही कारिका, जो मंगलाचरण है, उसकी टिप्पणी की ओर यहां संकेत करना अनुचित न होगा। कारिकाओं है—"ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान्। ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥" शंकराचार्य के हिसाब से यहां **नारायण** को नमस्कार किया गया है और शास्त्रीजी के हिसाब से बुद्ध को। शास्त्रीजी ने अपने पक्ष के समर्थन के लिये ज्ञान और धर्म शब्द को टटोला है। 'ज्ञानेनाकाशकल्पेन' के आकाशकल्प विशेषण की ओर संकेत करते हुए शास्त्रीजी कहते है : "ज्ञान के आकाशकल्प विशेषण से हमें क्या समझना चाहिए? ग्रन्थकार गौड़पाद और विज्ञानवादी (=बौद्ध) दोनों के हिसाब से ज्ञान का एक गुण है 'असङ्ग' [=विषय से अछूता रहना].......इसीलिये ज्ञान की आकाश से तुलना की गई है।......उन (विज्ञान-वादियों) के हिसाब से बाह्य जगत् अवास्तविक है और ज्ञेय केवल अन्तर का विज्ञान है जो

परिणत होता हुआ बाहर भी प्रतीत होताहै (पृ० ८५)।.....और यह सिद्धान्त बुद्ध के 'चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा यदुत धातुकम्' के आधार पर है (पृ० ८६)" बुद्ध के वचन के आधार पर विकसित इसी विज्ञानमात्रता के प्रभाव को शास्त्रीजी ने गौड़पाद की कारिकाओं में जगह जगह भाँपा है। और निश्चय ही यह सिद्धान्त बौद्ध दार्शनिकों ने पहले पहल विकसित किया और गौड़पाद उससे बहुत प्रभावित हुए और वही प्रभाव मंगलाचरण में बुद्ध के नमस्कार रूप में प्रकट हुआ जिसे शास्त्रीजी ने लक्ष्य किया है। धर्म शब्द पर इसी तरह टिप्पणी करते हुए शास्त्रीजी कहते हैं कि आगमशास्त्र के द्वितीय और तृतीय प्रकरण में उसी अर्थ में भाव शब्द का प्रयोग है कि जिसमें कि चतुर्थ प्रकरण में धर्मशब्द का। यह काफ़ी इशारापूर्ण है और बतलाता है कि चतुर्थ प्रकरण का बौद्धों से सम्बन्ध है। शास्त्रीजी ज़रा आगे बढ़कर कहते हैं "संपूर्ण प्रकरण बुद्ध के पक्ष में है यह दिखाया जा सकता है।" (पृ० ९३)। शास्त्रीजी ने जहां भी अवसर मिला है इस बात को दिखाया भी है। इस आगमशास्त्र पर बौद्ध प्रभाव की बात से वे लोग कुछ कटु हो उठेंगे जो सब बातों को अनादि-सिद्ध मानकर काल्पनिक लोक में बिचरा करते हैं।

शास्त्रीजी ने गौड़पाद के दर्शन के बारेमें भी भूमिका में कुछ प्रकाश डाला है। इस प्रसंग की सभी बाते ध्यान देने योग्य और विचारणीय हैं। शास्त्रीजी जिन दार्शनिक विचारों की गहराई में उतरे हैं वे पंडितों को नये सिरे से सोचने को बाध्य करेंगी। फिर भी मेरी विनम्र सम्मति में एकाध प्रसंग चिन्त्य जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, "वेदान्तियों के ब्रह्म और योगाचारों की विज्ञप्तिमात्रता का चित्त वस्तुतः एकही चीज़ हैं। केवल एक भेद है, वह यह कि पहला (ब्रह्म) नित्य है जबकि दूसरा (चित्त) ध्रुव है" (भूमिका पृ० १४२)। ध्रुव क्या है ? इसको समझाते हुए शास्त्रीजी कहते हैं ; "यदि एक सोने के पिण्ड से कितने ही अलग अलग एक के बाद दूसरे दूसरे गहने बनाए जाएं तो उनकी शकलें तो बदलती रहेंगी फिरभी इन सब परिवर्तनों के बीच वही (दि सेम, तदेव) सोना बना रहेगा। इसी बने रहने के कारण यह कहा जा सकता है कि सोना ध्रुव है पर नित्य नहीं" (भूमिका पृ० १४१)। अभिप्राय यह हुआ "चूंकि सब क्षणों में आलय-विज्ञान बना रहता है इसलिये वह ध्रुव है पर नित्य नहीं" (भूमिका पृ० १४१)। शास्त्रीजी के कहने का निष्कर्ष यह है कि जैसे सब गहनों में **वही सोना** बना रहता है वैसे ही सब परिवर्तनों में **वही आलय-विज्ञान** बना रहता है और वह सोने ही की तरह ध्रुव या टिकाऊ है। परन्तु विज्ञानवाद के अनुसार आलय-विज्ञान उस तरह की ध्रुव और टिकाऊ चीज़ नहीं है जिस तरह कि शास्त्रीजी ने समझाने की कोशिश की है। बौद्ध दार्शनिक आलय-विज्ञान का परिवर्तन मानते हैं और वह परिवर्तन या परिणाम "पूर्वावस्थातोऽन्यथाभावः" (त्रिंशिका १५ पर) है। इसीलिये शंकराचार्य विज्ञान को "अनवस्थित स्वरूपं" (ब्रह्मसूत्र २।२।३१ पर) कहते हैं। अगले क्षण भर भी जिसमें टिकाऊपना नहीं है उसे ध्रुव कैसे कहा जा सकता है। शास्त्रीजी ने बौद्ध दार्शनिकों के शब्दों को पकड़ कर आलय-विज्ञान को ध्रुव कहा है। वे शब्द यों हैं :—"अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्। आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधादौष्ठुल्यहानितः॥ स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः। सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः" (त्रिंशिका २९।३०)। यहाँ पर प्रयुक्त ध्रुव

शब्द के आधार पर ही शास्त्री जी ने अपनी व्याख्या की है अतः इस इस शब्द पर विचार करना होगा। बौद्धदर्शन में ध्रुव, नित्य, अक्षय, अमृत, निर्जर आदि शब्दों का जहां प्रयोग होता है वहां ये शब्द विधिपरक न होकर निषेधपरक होते हैं। बौद्धदर्शन में जो अनित्य है उसे दुःख कहा जाता है। जब दुःख का प्रतिषेध करना होता है तो उसे दुःख या अनित्य शब्दों के विरोधी शब्दों से करते हैं। इस प्रकार ध्रुव या नित्य आदि शब्द दुःख का अभाव या निषेध बतलाने के लिये प्रयुक्त होते हैं। जैसा कि ऊपर की कारिकाओं में भी प्रयुक्त हुए हैं। ध्रुव और सुख दोनों वहां पर दुःख के प्रतिषेध को ही बतलाते हैं। इसी लिये स्थिरमति ध्रुव और सुख शब्दों पर टीका करते करते कहते हैं: "ध्रुवो नित्यत्वात्। अक्षयतया। सुखो नित्यत्वादेव यदनित्यं तद्दुःखं अयं च नित्य इति"। अस्तु, बौद्धदार्शनिक जहां आलय-विज्ञान को ध्रुव कहते हैं वहाँ उनका अभिप्राय दुःख के प्रतिषेध को बतलाना है। अस्तु, इस प्रकार को एक-आध बातों में मतभेद रहते हुए भी यह तो निःसंकोच कहना ही पड़ता है कि शास्त्रीजी ने अपनी इस कृति में बहुत ही ठोस और प्रामाणिक सामग्री जुटाई है। गौड़पाद के अध्ययन का एक नया ही अध्याय खोला है, एक नई दृष्टि प्रदान की है। ऐतिहासिक और वैज्ञानिक ढंग से गौड़पाद और उनके दार्शनिक विचारों को सोचने, समझने एवं ऊहापोह करने में इस कृति से बहुत सहायता मिलेगी। हमें एक और बात खटकी है जिसे नम्रतापूर्वक उपस्थित कर देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। भारत में ही नहीं बल्कि विदेशों में जहां संस्कृत का अध्ययन होता है वहां नागरी लिपि सर्वत्र परिचित है और संस्कृत भाषा के लिये प्रधान रूप से व्यवहृत होती है। इसलिये जहां तक संस्कृत ग्रन्थ या संस्कृत उद्धरणों के मुद्रण का सम्बन्ध है वहां वह नागरी लिपि में होना ही उचित है, यद्यपि इस संस्करण में उसकी पूरी अवहेला हुई है। अस्तु, पर इतने-भर से पुस्तक में जिस प्रकार की सुन्दर सामग्री है वह पुस्तक की उपयोगिता को घटने नहीं देती।

मजूरी और पूंजी—ले०, कार्ल मार्क्स, प्रकाशक, जन-प्रकाशन गृह, राजभवन सैण्डहर्स्ट रोड, बम्बई४, मूल्य—दस आना, सजिल्द, १।)

प्रस्तुत पुस्तक मार्क्स के इसी विषय पर प्रकट किए गए विचारों का, जो बाद में पुस्तिका रूप में प्रकाशित हुआ था, अनुवाद है। शुरू में फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा लिखी हुई एक विवेचनात्मक प्रस्तावना है।

१८४८ में ब्रूसेल्स में मज़दूरों की एक संस्था के सामने मार्क्स ने कई भाषण दिए थे। बाद में उन्हीं व्याख्यानों को पुस्तक रूपमें संग्रह किया गया। साधारण से साधारण पाठक को ध्यान में रखकर यह पुस्तिका तैयार हुई थी। इसमें पूंजी और मजूरी के संबंध में तथा मज़दूरों के शोषण के संबंध में बड़े ही सुंदर और वैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है।

रिकार्डो वगैरह पुराने अर्थशास्त्रियों के मतानुसार किसी माल का मूल्य उस माल के उत्पादन के लिये आवश्यक उसके अंदर निहित श्रम से निश्चित होता है। जिस प्रकार कच्चे माल, औजार वगैरह को उत्पादन के लिये खरीदने की ज़रूरत होती है, उसी प्रकार माल के समान

मज़दूरों की 'मेहनत' भी खरीदी और बेंची जाती है। अतएव इस 'मेहनत'-रूपी माल का मूल्य निर्धारण पुराने अर्थशास्त्रियों के मुताबिक उसमें 'निहित श्रम से निश्चित' होना चाहिए। लेकिन एक दिन की मेहनत के बारे में यह कहा जाय कि वह एक दिन की मेहनत के बराबर है तो इसका कोई अर्थ नहीं होता। अतएव अर्थशास्त्रियों ने बतलाया कि "किसी माल का मूल्य उसके उत्पादन के खर्चे के बराबर होता है"। लेकिन तर्क की कसौटी पर यह सिद्धान्त भी नहीं उतरता, क्योंकि उत्पादन के सभी साधनों (कच्चा माल, इंजिन वगैरह) के खर्चे को काटकर यह देखा जाता है कि मजूरी देने के बाद भी पूंजोपति के पास कुछ बच रहता है तो फिर 'उत्पादन के खर्चेवाला' सिद्धान्त ठीक नहीं मालूम होता। अतएव मार्क्स ने, और बाद में परिस्थिति के अनुसार संशोधन करके एंगेल्स ने, बतलाया कि पूंजोपति अपने पैसे से मज़दूरों की मेहनत नहीं बल्कि उसकी श्रम-शक्ति को खरीदता है। "जिसे अर्थशास्त्री मेहनत के उत्पादन का खर्चा कहते थे वह वास्तव में मज़दूर के और उसके साथ उसकी श्रम-शक्ति के उत्पादन का खर्चा है"। इसको दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति को दूसरे मालों की नांई कुछ विशेष समय के लिये बेंच देता है। उतने समय में जितना भी उत्पादन होता है वह मेहनत के हिसाब से ज्यादा हो या कम, पूंजीपति का हो जाता है। उतने ही समय के लिये अपनी श्रम-शक्ति के लिये पहले से तै की हुई रक़म को ही मज़दूर पाता है। मेहनत करना, मज़दूर के जीवन का लक्षण है। अपने को ज़िन्दा रखने के लिये वह अपनी श्रम-शक्ति को दूसरों के हाथ बेंच देता है। अतएव मज़दूरों की श्रम-शक्ति बाज़ार में बिकनेवाली एक वस्तु है। "उनके लिये बारह घंटे की मेहनत का महत्त्व केवल इतना है कि यह काम करके वह अपनी जीविका कमाता है"।

प्रश्न उठता है कि अगर श्रम-शक्ति माल की तरह से बाज़ार में बेंची और खरीदी जाती है तो उसका दाम कैसे निश्चित किया जा सकता है। मार्क्स ने बतलाया है कि "श्रम-शक्ति का उत्पादन का खर्चा वह खर्चा है जो मज़दूर को मज़दूर की तरह ज़िन्दा रखने और उसे मज़दूरी करने के लिये तैयार करने में लगता है।" जिस प्रकार से से पुनरुत्पादन के लिये औज़ारों के टूटने-घिसने का खयाल माल के दाम का हिसाब लगाते समय किया जाता, है, इसी तरह साधारण श्रम-शक्ति के उत्पादन के खर्चे का हिसाब लगाते समय उसके पुनरुत्पादन के खर्चे को भी उसमें शामिल करना होगा, ताकि मज़दूर की नसल क़ायम रहे और पुराने घिसे हुए मज़दूरों की जगह नये मज़दूर मिलते रहें।" अतएव हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उजरत, जीवन-निर्वाह और पुनरुत्पादन के खर्चे को ध्यान में रखकर निश्चित की जाती है।

पूंजी की परिभाषा अर्थशास्त्रियों ने इस प्रचार की है ; "कच्चा माल, काम के औज़ार हर तरह के जीवन-निर्वाह के साधन, जो नया कच्चा माल, नये औज़ार और नये जीवन-निर्वाह के साधन, पैदा करने के लिये इस्तेमाल होते हैं, ये सब चीजें पूंजी में शामिल हैं। पूंजी के इन सब अंगों को मेहनत ने पैदा किया है। ये सब चीजें मेहनत का परिणाम हैं, खुद संचित हैं। जब संचित मेहनत का इस्तेमाल नये उत्पादन के लिये होता है, तब उसे पूंजी कहते हैं।" लेकिन मार्क्स का कहना है कि ऊपर गिनाई हुई चीजें ही पूंजी नहीं हैं उनके साथ विनिमयमूल्य भी शामिल है। अर्थात् वे सभी माल तभी पूंजी हो सकते हैं जबकि वे अपने अस्तित्व को

बनाए रखने के लिये और अपनी मात्रा को बढ़ाने के लिये, प्रत्यक्ष और जीवित श्रम से अपना विनिमय करते हैं। अगर वे माल, जीवित-श्रम का इस्तेमाल कर अपने अस्तित्व को क़ायम रखने में समर्थ न हो सकें और अपना विनियम-मूल्य न बढ़ावें तो वे पूंजी नहीं कहे जा सकते। "अतः पूंजी के अस्तित्व के लिये ज़रूरी है कि मजूरी हो और मजूरी के अस्तित्व के लिये ज़रूरी है कि पूंजी हो। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे के ऊपर आधारित है, दोनों एक-दूसरे को उत्पन्न करते हैं"। इसीलिये पूंजीपति कहते हैं कि 'पूंजीपति और मज़दूर के हित बिल्कुल एक हैं'। उपजाऊ पूंजी की जितनी वृद्धि होगी उतनी ही मज़दूरों की हालत अच्छी होगी। लेकिन मजूरी और पूंजी के भीतरी संघर्षों को दृष्टि में रखकर, मार्क्स ने इसका प्रत्याख्यान किया है। उसने दिखलाया है कि किस प्रकार से मुनाफ़ा और उजरत का विरोध है और वे सदा एक दूसरे के उल्टे अनुपात में रहते हैं।

पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों का कहना है कि "उपजाऊ पूंजी बढ़ती है तो उसके साथ उजरत भी ज़रूर बढ़ती है"। इसकी मार्क्स ने बड़े सुंदर ढंग से पड़ताल की है। उपजाऊ पूंजी की वृद्धि का असर पूंजी और उजरत पर इस तरह से पड़ता है कि जिससे पूंजीवादी प्रणाली का खोखलापन स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है।

जिस समय उपजाऊ पूंजी की वृद्धि होने लगती है, उस वक्त विभिन्न उद्योगों में लगी हुई पूंजी बढ़ने लगती है। एक ही उद्योग में बहुत से पूंजीपति इकट्ठा हो जाते हैं और माल खपाने, ज्यादा से ज्यादा नफा उठाने के लिये उनमें प्रतियोगिता शुरू हो जाती है। इस प्रतियोगिता के फलस्वरूप श्रम-विभाजन और मशीनों में सुधार उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। छोटी पूंजीवालों का दिवाला हो जाता है और बड़े बड़े उद्योग-धंधे छोटे छोटे उद्योग-धंधों को हड़पते जाते हैं, और यह क्रिया लगातार जारी रहती है। इसी प्रकार से उपजाऊ पूंजी की वृद्धि, उजरत पर भी असर डालती है। श्रम-विभाजन और नये औज़ारों के प्रयोग से मजदूर ज्यादा से ज्यादा बेकार होने लगते हैं। वे अपने को सस्ते से सस्ते दाम में बेचने की प्रतियोगिता तो करते ही हैं, इसके साथ ही अकेले पांच दस या बीस मज़दूरों का काम करने की कोशिश भी करते हैं। बेकारी और भी बढ़ती जाती है और समाज की क्रय-शक्ति घटती जाती है। अतएव उत्पादन की शक्तियां व्यर्थ ही बरबाद होती हैं। एक तरफ धन-सम्पत्ति प्रचुर मात्रा में केन्द्रित होती है और मालों की इफ़रात रहती है और दूसरी ओर उन्हें ख़रीदने के लिये ख़रीदार नहीं मिलते। इसका परिणाम यह हो रहा है कि समाज का मानसिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक ह्रास हो रहा है अतएव फ्रेडरिक एंगेल्स के शब्दों में, "एक ऐसा नया समाज बनाया जा सकता है जिसमें वर्तमान श्रेणी-भेद न रहें, और जिसमें शायद मुसीबत के एक छोटे से ज़माने के बाद जो मानसिक रूप से समाज के लिये बहुत अच्छा होगा—उत्पादन की वर्तमान विराट् शक्तियों का व्यवस्थित उपयोग और विस्तार करके, और समाज के हर सदस्य के लिये काम करना आवश्यक बनाकर, हम जीवन के साधनों और मनुष्य की शारीरिक तथा बौद्धिक शक्तियों के विकास के साधनों को भी सर्व-सुलभ बना देंगे।" यह छोटी सी पुस्तिका राजनीति और अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिये बड़ी लाभदायक है।

—रामपूजन तिवारी

अपनी बात

नया वर्ष

बेबसी और निराशा से भरा हुआ पुराना वर्ष समाप्त हो गया। नवीन वर्ष का नई आशाओं के साथ हम स्वागत करते हैं और अपने समस्त अनुग्राहकों को इस शुभ अवसर पर अभिनंदन करते हैं। मृत्यु, रोग और क्षोभ का वर्ष भयानक स्वप्न की भांति अभी तक हमें त्रस्त-शंकित बनाए हुए है। गुरुदेव ने सं० १९७६ में, जिन दिनों प्रथम यूरोपियन महायुद्ध अपने उद्दाम वेग पर था, एक कविता लिखी थी। इस समय वह कविता और भी उपयुक्त लगती है। हम अपने पाठकों को उसी कविता के एक अंश का भावानुवाद इस अवसर पर उपहार कर सकते हैं: ऐ यात्री, धूसर मार्ग को यह धूल ही तेरी धात्री है। अपने बवंडर वाले गतिवेग के आँचल से अपने वक्ष में छिपाकर इस पृथ्वी के बंधन से मुक्त करके वह तुझे दिगन्त के पार ले जाय। आज घर का मंगल-शंख तेरे लिये नहीं है, संध्या का दीपालोक भी नहीं है, प्रेयसी की आंसूभरी आंखें भी नहीं हैं। पद-पद पर काल-वैशाखी (आंधी) का आशीर्वाद तेरी प्रतीक्षा कर रहा है, श्रावण-रात्रि का वज्रनिनाद तेरी राह देख रहा है, राह-राह में कांटे अभ्यर्थना के लिये खड़े हैं, गुप्त सर्पों की गूढ़फणा तेरी बाट जोह रही है। निन्दा ही तेरा जय-शंख-नाद होगी, क्षति तेरे चरणों में अपना अदृश्य और अमूल्य उपहार देगी—यही तेरे लिये रुद्र का प्रसाद है! तूने अमृत का अधिकार चाहा था;—यह तो कोई सुख नहीं है, विश्राम नहीं है, शान्ति या आराम नहीं है। मृत्यु तेरे ऊपर आक्रमण करेगी, द्वार-द्वार पर तू निषेध पाएगा—यही तेरे लिये नये वर्ष का आशीर्वाद है, यही तेरे लिये रुद्र का प्रसाद है। फिर भी डरने की कोई बात नहीं है। यात्री, तू निडर रह। गृहत्यागिनी, दिङ्मूढ़ अलक्ष्मी ही तेरी वरदात्री होगी।

माता कस्तूर बा गांधी का स्वर्गवास

पूना के आगाखां-प्रासाद में पति के साथ माता कस्तूर बा बंदिनी थीं। उनका इस फाल्गुनी शिवरात्रि के दिन स्वर्गवास हो गया। माता कस्तूर बा आदर्श भारतीय महिला थीं, और भारतीय महिलाएं जैसी मृत्यु की कामना करती हैं वैसी ही मृत्यु उन्हें मिली है। वे जीवन में महान् थीं और मृत्यु में और महान् सिद्ध हुईं। उनके लिये शोक करने का कोई हेतु नहीं है। वे अपने सुकृत से स्वयं भी अक्षयपद की अधिकारिणी हुई हैं और अपने करोड़ों देशवासियों को भी मुक्ति की ओर अग्रसर कर गई हैं। शोच्य वे नहीं हैं। शोच्य हम उनके देशवासी हैं जिन्हें इच्छानुसार उनकी सेवा-शुश्रूषा करने का मौका भी नहीं मिल सका!

स्वर्गीय श्री रणजीत सीताराम पंडित

यह वर्ष हमारे देश के लिये नाना दृष्टियों से दुर्वत्सर था। इस संकटकाल में श्रीरणजीत सीताराम पंडित जैसे त्याग-परायण और कर्मठ नेता का हमारे बीच से उठ जाना बड़ा भारी दुर्भाग्य

है। सारे देश में इस दुःसंवाद से शोक छा गया है। विश्वभारती से तो पंडितजी का व्यक्तिगत संबंध था। इस महान् दुःख के अवसर पर हम पं० जवाहरलाल नेहरू, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को सान्त्वना देने योग्य शब्द भी नहीं पा रहे हैं। हम भगवान् से केवल प्रार्थना कर सकते हैं कि इन भाई-बहनों में दुःख-सहन की जो अपूर्व शक्ति है वह और भी दृढ़ हो। जिस महावीर ने देश में जीवन-संचार करने के लिये अपने जीवन की आहुति दे दी उसकी तपस्या सार्थक हो।

अनुलेखन का सामान्य नियम

अब तक अधिकांश विदेशी साहित्य का अनुवाद अंग्रेजी भाषान्तर के ज़रिये ही होता रहा है। हमारे लिये विदेशी साहित्य के संदर्भ ग्रंथ भी प्रायः अंग्रेजी अनुवाद ही रहे हैं। इसीलिये विदेशी लेखकों के नाम हम अंग्रेजी अनुलेखन और स्वकल्पित उच्चारण के आधार पर तरह तरह से लिखते रहे हैं। इस उच्चारण-बाहुल्य से हमारे लेखक मन ही मन शंकित भी रहते आए हैं और इसीलिये कोष्ठ में रोमनलिपि में नाम दे देने का प्रयत्न प्रायः किया जाता रहा है। पर कब तक हम अंग्रेजी भाषा और रोमनलिपि का मुंह जोहते रहेंगे? हमें एक-न-एक दिन अपना सर्वसम्मत अनुलेखन-नियम बनाना ही पड़ेगा। तो क्यों न आज से ही हम इस प्रयत्न में लग जांय। हम भिन्न भिन्न भाषाओं के जानकार विद्वानों से इस समस्या पर विचार करने का अनुरोध करते हैं और प्रतिष्ठित हिंदी संस्थाओं से इस दिशा में उद्योगी होने की प्रार्थना करते हैं।

दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार की 'बरस-पचीसी'

दक्षिण में हिंदी प्रचार का कार्य शुरू हुए २५ वर्ष से ऊपर हो गए। इस शताब्दी में हिंदी प्रचार सभा ने दक्षिण भारत में जैसा सुंदर महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कार्य किया है वह छिपा नहीं है। सभा के उत्साही कार्यकर्त्ताओं ने समूचे देश में एक भाषा के प्रचार का कार्य करने का दुःसाध्य व्रत लिया था और निस्संदेह वे अपने व्रत में बहुत दूर तक सफल हुए हैं। इस वर्ष सभा अपनी वर्ष पचीसी मनाने जा रही है। इस कार्य के लिये बड़े महत्त्वपूर्ण प्रचारात्मक और रचनात्मक कार्य की योजनाएं बनाई गई हैं। सभा ने ५ लाख रुपये की सहायताकी अपील की है। उसने अपनेको उत्तम दान का अधिकारी सिद्ध कर दिया है। धनी मानी सज्जनों को दिल खोलकर उसकी सहायता करनी चाहिए। इस अवसर पर हम सभा के कार्यकर्त्ताओं का हृदय से अभिनंदन करते हैं।

'हंस' का प्रगति अंक

सहयोगी 'हंस' ने अपने फरवरी से जून तक के अंकों को तीन संख्या में प्रगति-अंक नाम से प्रकाशित करके साहित्य के विद्यार्थियों को उन विचारों को समझने के लिये बड़ी उपयोगी सामग्री इकट्ठी की है जो प्रगतिवाद के नाम से प्रख्यात हो रहे हैं। इन अंकों में एडवर्ड अपवर्ड, एंथनी ब्लंट, चार्ल्स मैज, तिंग्लिग, जोजेफ फ्रीमैन प्रभृति विदेशी मनीषियों तथा भूपेन्द्रनाथ दत्त राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशचंद्र गुप्त, सज्जाद ज़हीर, नरेंद्रशर्मा प्रभृति देशी विद्वानों के विचार संगृहीत हैं। कुछ चुनी हुई प्रगतिशील रचनाओं के संग्रह से इस प्रयास को और भी अधिक सफलता मिली है। जो लोग प्रगतिवाद को समझना चाहते हैं उनके लिये यह अंक संग्रहणीय है। विदेशी लेखकों के अनुवाद सब समय सफल नहीं हुए हैं। उनकी भाषा उखड़ी-सी रह गई है। फिर भी यह अंक साहित्य के विद्यार्थियों के बड़े काम का है। हम सहयोगी को इस स्तुत्य प्रयास के लिये बधाई देते हैं।

ह० द्वि०

KRISHNARAO POWAR Nandalal Bose

ENGRAVED & PRINTED BY
THE BENGAL AUTOTYPE CO. CAL

विश्वभारतीपत्रिका

वैशाख-आषाढ़ २००१ खण्ड ३, अंक २ अप्रैल-जून, १९४४

नया वर्ष

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

[मूल से भाषान्तरित]

जीर्ण क्लान्त निशा पुरातन वर्ष की

ले ! कट गई वह ओ बटोही !

मार्ग पर तेरे बुलाया है प्रखरतर धूप ने

इस रुद्र भैरव गान को ही ।

दूर से है झनझनाता तीव्र शीर्ण सुदीर्घ

सुर में मार्ग सारा—

ज्यों किसी पथभ्रष्ट वैरागी-विकल की

बज रही हो एकतारा !

ओ बटोही,

धूम्रधूसर मार्ग की यह धूलि धात्री आज तेरी—

चलन-अंचल में विकट गति वक्ष में वात्या घनेरी ।

हृदय में तुझको छिपा ले,

धरा-बंधन से हटा ले,

हर दिगन्तर से तुझे ले जाय अन्य दिगन्त को ही !

ओ बटोही,

है न तेरे लिये मंगल-शंख की ध्वनि आज शोभन,

सांध्य दीपालोक या कि प्रिया-नयन-जल का प्रलोभन ।

है प्रतीक्षा कर रही वैशाख की वात्या कराली

लिए आशीर्वाद, वज्र निनाद, श्रावण-रात्रि काली !

है खड़ा प्रत्येक पग पर कंटकों का विकट स्वागत
मार्ग में हैं गुप्त सर्प-फणा समुद्धत ।
आज कोसेगा तुझे जय-शंखनाद,
प्राप्य तुझको रुद्र का यह ही प्रसाद !

ओ बटोही,
क्षति जुटाएगी चरण पर भेंट अलख-अमोल तेरे—
क्या अमृत-अधिकार चाहा था ? (सरल-अनजान मेरे !)
हाय वह तो सुख नहीं है
या न शम, विश्राम ही है
मृत्यु का आक्रमण और निषेष प्रतिगृह का—
यही नववर्ष का आशीष—
रुद्र-प्रसाद तेरे शीश !
फिर भी भय नहीं है, भय नहीं है, ओ बटोही !
दिग्भ्रमित घर-बार-छोड़ी
निठुर अपलक्ष्मी निगोड़ी
यही तेरी आज वरदात्री बनेगी
ओ बटोही !

जीर्ण क्लान्त निशा पुरातन वर्ष की
ले ! कट गई वह ओ बटोही !
आज आया है निठुर यह !
द्वार बंधन दूर होवे
पात्र मद का चूर होवे ।
जानता इसको नहीं मैं,
समझता इसको नहीं मैं,
किन्तु फिर भी पकड़ इसकी अंगुली तू (ओ अमानी !)
ध्वनित हो हृत्कम्प में तेरे इसीकी दीप्तवाणी
ओ बटोही,
कट गई, कट जाय जीर्ण निशा पुरानी !

अनु०—व्यो० शा०

अरूप-रतन

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

प्रस्तावना

गान

दौड़ते उनके नयन हैं—

मान की धन की डगर में,

रूप के मोहक नगर में,

दल बनाकर चल पड़े हैं किए मन में कठिन पन हैं।

देखना अनजान जन को,

दृढ़ किया सब भाँति मन को,

किन्तु किसको देखना है, जानता बिलकुल न मन है।

दौड़ते उनके नयन हैं।

हृदय जब वह देखता है

देखना जो प्रेम का है ;

नयन की जल-धार में तब नियत बह जाते नयन हैं।

तुम न अब मुझको बुलाना।

मैं अरूप-रसाब्धि के उस पार को हूं चल पड़ा रे।

आज चलने के दिवस यह

अति उदास बयार रह-रह,

लग रही है पाल में इस नाव के अन्तिम किनारे।

मैं अमृत-सागर अतल में

पारहीन अपार-जल में

डुबा जाऊंगा नयन को ; आज मुझको पार जाना।

तुम न अब मुझको बुलाना।

१

प्रासाद कुञ्ज

सुरंगमा। प्रभो, एक बात है।

नेपथ्य से। कहो, क्या कहना है।

सुरंगमा। राजकन्या सुदर्शना तुम्हींको वरण करना चाहती है, क्या उसपर दया नहीं करोगे ?

नेपथ्य से। वह क्या मुझे पहचानती है ?

सुरंगमा। ना प्रभो, वह तुम्हें पहचानना चाहती है। तुम स्वयं अपनेको पहचनवा दो, नहीं तो उसकी क्या बिसात है।

नेपथ्य से। बाधाएं बहुत हैं।

सुरंगमा। इसीलिये तो तुम्हें उसपर कृपा करनी होगी।

नेपथ्य से। लेकिन बहुत दुःख से आवरण दूर होता है।

सुरंगमा। वही दुःख उसे देना प्रभो, वही दुःख।

नेपथ्य से। मेरा नाम लेकर वह सबसे बड़ी होगी, इसी अहंकारवश वह मुझे चाहती है।

सुरंगमा। इसी सुयोग पर उसका अहंकार तोड़ दो। सबसे नीचे उतारकर उसे अपने चरणों के पास ले आओ।

नेपथ्य से। सुदर्शना से कहो कि मैं उसे अन्धकार में ग्रहण करूंगा।

सुरंगमा। वंशी नहीं बजेगी, रोशनी नहीं होगी, धूमधाम भी नहीं होगी ?

नेपथ्य से। ना।

सुरंगमा। और वरण की डलिया में चुने हुए फूलों की माला वह तुम्हें नहीं पहनायगी ?

नेपथ्य से। वह फूल अभी नहीं खिला।

सुरंगमा। यही अच्छा है महाराज। बीज अन्धकार में ही रहता है। जब अंकुरित होता है तो अपने आप प्रकाश में आ जाता है।

(बाहर से आवाज़ आती है—'सुरंगमा !')

सुरंगमा। वह राजकुमारी सुदर्शना आ रही हैं।

(सुदर्शना का प्रवेश)

सुदर्शना। तुम्हारे यहाँ ऐसा जान पड़ता है मानों आकाश में अर्घ्य सजाया गया है

मानों ओस से धुला हुआ प्रातःकाल का स्पर्श है। तुमने यहां हवा में क्या बिखेर दिया है, बोलो तो भला!

सुरंगमा। गान बिखेर दिया है।

सुदर्शना। मुझे तुम उन राजाधिराज की बात सुनाओ। मैं सुनूंगी।

सुरंगमा। मुंह से कह नहीं सकती।

सुदर्शना। बताओ, बताओ, वे क्या बहुत सुंदर हैं?

सुरंगमा। सुंदर? एक दिन मैं सुंदर के साथ खेलने गई थी। जिस दिन खेल खत्म हुआ उस दिन कलेजा टूक-टूक हो गया। उसी दिन मैं समझ सकी कि सुंदर किसे कहते हैं। एक दिन मैं उन्हें भयंकर समझकर डरती थी, पर आज उनको भयंकर समझकर आनंद पाती हूं—उन्हें कहती हूँ, तुम आंधी हो, तुम दुःख हो, तुम मरण हो। सबके अन्त में कहती हूं, तुम आनंद हो।

गान

जब थी दृष्टिहीना अंध,
खेल में सुख के कटी बेला, बिना आनन्द।
खेलघर की नींव देती,
मस्त अपने आपमें थी,
तोड़ उस दीवार को आया सजन निर्द्वंद्व।
टूट तब से हैं गए मेरे कठिनतर बंध।
अब न रुचते खेल सुख के, पा गई आनन्द।
भीम मेरे, रुद्र मेरे,
कटे आलस क्षुद्र मेरे,
उग्र दुख से बद्ध मेरा आज नूतन छन्द।
अग्निवेशे तुम पधारे,
सब लिए तुमने हमारे,
मैं हुई परिपूर्ण उस दिन कटे सारे द्वन्द्व।
दुःख-सुख के परे तुममें पा सकी आनन्द।

सुदर्शना। पहली बार तुम उन्हें पहचान नहीं सकी थीं?

सुरंगमा। ना।

सुदर्शना। किन्तु देखो, मुझे उन्हें पहचानने में ज़रा भी देर न लगेगी। मेरे पास वे सुंदर होकर आएंगे।

सुरंगमा। उसके पहले तुम्हें एक बात मान लेनी होगी।

सुदर्शना। मान लूंगी, मुझे किसी बात में दुविधा नहीं है।

सुरंगमा। उन्होंने कहा है अंधकार में ही उनसे तुम्हारी भेंट होगी।

सुदर्शना। बराबर?

सुरंगमा। सो नहीं कह सकती।

सुदर्शना। अच्छा, मैं सभी मान लेती हूं। किन्तु मेरे निकट वे छिपे नहीं रह सकते। यदि दिन स्थिर हो चुका हो तो सबको बता भी तो देना होगा।

सुरंगमा। बताके क्या करोगी? उस अंधकार में सबके लिये स्थान कहाँ है!

सुदर्शना। मैंने जो राजाधिराज को पाया है, यह बात किसीको बता नहीं सकूंगी?

सुरंगमा। क्यों नहीं, लेकिन कोई विश्वास नहीं करेगा।

सुदर्शना। इतनी बड़ी बात कोई विश्वास नहीं करेगा, ऐसा भी कहीं होता है?

सुरंगमा। गवाह बुलाकर साबित जो नहीं कर सकोगी।

सुदर्शना। सकूंगी, ज़रूर साबित कर सकूंगी।

सुरंगमा। अच्छा, कोशिश करके देखो।

सुदर्शना। सुरङ्गमा, तुम्हारे समान मैं इतनी अधिक नम्र नहीं हूं, मैं मजबूत हूं। वे सबके सामने मुझे अंगीकार कर लेंगे—इससे वे बच नहीं सकते।

सुरंगमा। आज वह बात सोचने की ज़रूरत नहीं है राजकुमारी, तुम स्वयं उन्हें संपूर्ण रूप से स्वीकार कर लेना, तभी सब-कुछ सहज होगा।

सुदर्शना। यह तुम क्या कहती हो? मैं तो उसीके लिये तैयार बैठी हूं। लेकिन अब देरी मत करो।

सुरंगमा। और उनकी ओर सब कुछ प्रस्तुत है ही। तो आज फिर हम विदा हों।

सुदर्शना। कहाँ जाओगी?

सुरंगमा। वसन्तोत्सव पास आ गया, उसकी तैयारी करनी होगी।

सुदर्शना। कैसी तैयारी होनी चाहिए?

सुरंगमा। माधवी कुंज से तगादा नहीं करना पड़ता, आम के वन में भी मंजरी स्वयं फूटती है। हम मनुष्यों की शक्ति में जिसे जो-चीज़ देनी है, वह सहज ही प्रकाश नहीं होना चाहती। किन्तु उस दिन उसका ढका रहना तो ठीक न होगा। कोई देगा गान, कोई देगा नाच।

सुदर्शना। मैं उस दिन क्या दूंगी सुरङ्गमा ?

सुरंगमा। यह तो तुम्हीं बता सकती हो।

सुदर्शना। मैं अपने हाथों माला गूंथकर उस सुंदर को अर्घ्य भेजूंगी।

सुरंगमा। वही अच्छा है।

हुदर्शना। उन्हें देखूंगी किस प्रकार ?

सुरंगमा। सो तो वही जानते हैं।

सुदर्शना। मुझे जाना कहां होगा ?

सुरंगमा। कही नहीं, यहीं पर।

सुदर्शना। सो क्या सुरंगमा, अंधेरे की सभा यहीं होगी ? जहां बराबर रहती हूं वहीं ? साज-बनाव नहीं होगा ?

सुरंगमा। ज़रूरत क्या है साज की। एक दिन वे ही उस साज में सजा देंगे जो तुम्हारे सुंदर दिखेगा।

गान

दिन ऐसे भी नाथ मिलाओ कभी।
पथ-धूलि के रंग से रंजित ए अँचरा मेरा होगा बताओ कभी !
तव कानन की रज रंग-भरी
विकसाती है पूजा-प्रसून-लरी,
अपनावेगी धुल तुम्हारी वही मुझे गोद में, नाथ बताओ कभी !
चरणों में प्रणाम की आस चले—
पथ पै पग धूलि के जो कँगले,
पहचानेंगे वे मुझको मन में अपनापा लिए, बतलाओ कभी।

सुदर्शना। मुझे तो अब ज़रा भी देर करने की इच्छा नहीं होती।

सुरंगमा। ना, ना, देर मत करो। पुकारो उन्हें, वे यहीं दया करेंगे।

सुदर्शना। सुरंगमा, मैं तो समझती हूं, मैं पुकार रही हूं पर कोई जवाब नहीं पा रही। मलूम होता है, मुझे पुकारना नहीं आता। तुम मेरी होकर पुकारो ना। वे तुम्हारा गला पहचानते हैं।

गान

कबलौं खड़ी रहूं मैं बाहर बाट जोहती बोलो,
भुजा-युगल इस ओर बढ़ाओ, खोलो प्रियतम खोलो !

कर्म समापित हुआ भवन में,
सांध्यतारिका उठी गगन में,
पार गई आलोक-तरी अस्ताचल-जलनिधि को लो !
भर लाई सोने की झारी
शीतल मधुर सुहासित वारी,
साज चुकी अपनेको साजन, यह शुचि सरस दुकूले—
हार मुकुल के गुँथे फूल से अलक सुवासित फूले ।
पंछी चरकर धेनु विचरकर आईं अपुन बसेरे,
सिगरे मारग अंधकार में डूबे, प्रियतम मेरे !

कबलौं ०—

(धीरे धीरे प्रकाश बुझ जाता है, अंधकार हो जाता है ।)

सुदर्शना । अंधकार में मैं कुछ भी नहीं देख पा रही हूं । तुम क्या इसमें हो ?

नेपथ्य से । यही तो मैं हूं ।

सुदर्शना । मैं जो तुम्हें वरण करूंगी सो क्या बिना देखे ही ?

नेपथ्य से । आंख से देखने पर ग़लत देखोगी—अन्तर में देखो, मन शुद्ध करके ।

सुदर्शना । मारे डर के मेरा हृदय काँप रहा है ।

नेपथ्य से । प्रेम में भय न हो तो रस निविड़ नहीं होता ।

सुदर्शना । इस अंधकार में तुम मुझे देख सकते हो ?

नेपथ्य से । देख सकता हूं ।

सुदर्शना । कैसा देख रखे हो ?

नेपथ्य से । मैं देख रहा हूं कि तुममें मूर्तिमान हुआ है युग युगान्तर का ध्यान, लोक-लोकान्तर का आलोक, सौ-सौवर्षों का फूल-फल । तुम बहुत पुरातन का नवीन रूप हो ।

सुदर्शना । कहते रहो, इसी प्रकार कहते रहो । जान पड़ता है अनादिकाल का गान जन्म-जन्मान्तर से सुनती आ रही हूं । किन्तु प्रभो यह तो कठिन काले लोहे के समान अंधकार है, यह जो मेरे ऊपर निद्रा की भांति, मूर्छा की भाँति और मृत्यु की भांति छाए हुए है । यहां तुमसे-हमसे मिलन होगा कैसे ? नहीं नहीं, मिलन नहीं होगा । यहाँ नहीं, आंखों से देखी जानेवाली दुनिया में ही तुम्हें देखूंगी—वहीं जो मैं हूं ।

नेपथ्य से । अच्छी बात है, देखना । तुम्हें खुद पहचान लेना होगा ।

सुदर्शना। पहचान लूंगी, लाख लाख लोगों में भी पहचान लूंगी, गलती नहीं होगी।

नेपथ्य से। वसन्त-पूर्णिमा के उत्सव में सब लोगों में मुझे देखने का प्रयत्न करना। सुरंगमा!

सुरंगमा। प्रभो!

नेपथ्य से। आज तुम्हारे काम-काज का दिन नहीं है, साज-बाज का दिन है। पुष्पवन के आनंद में प्राणों का आनन्द मिला देना।

सुरंगमा। यही होगा प्रभो!

नेपथ्य से। सुदर्शना मुझे आँखों देखना चाहती है।

सुरंगमा। कहाँ देखेंगी?

नेपथ्य से। जहाँ पंचम सुर में वंशी बजेगी, पुष्पकेशर का फाग उड़ेगा, और धूप-छाँह की गलबाँही लगेगी उस दक्षिण वाले कुञ्जवन में।

सुरंगमा। आँखें चौंधिया नहीं जांयगी?

नेपथ्य से। सुदर्शना को कौतूहल हुआ है।

सुरंगमा। कौतूहल की चीजें तो राह-घाट में मारी मारी फिर रही हैं। तुम तो कौतूहल के अतीत हो प्रभु!

गान

हाय ये सुध खो रही हैं!
वन्य खग-सी ये चपल अँखियाँ भगीं वन ओर ही हैं।
जब हृदय में बज उठेगी मोहनी मुरली रसीली
तब स्वयं गल-फाँस पहनेगी द्रवित अँखियाँ नसीली।
कहाँ होगी यह त्वरा, यह भटक जो दिनरात की है।
वन्य खग-सी ये चपल अँखियाँ भगीं वन ओर ही हैं।
देखना मत रे हृदय-द्वारे यहाँ है कौन आता;
सिर्फ सुन लेना मलय मारुत सँदेशा जो सुनाता।
आज पुष्प-सुवास सुख के हास आकुल गान द्वारा
खोजता आया तुम्हारे प्राण में मधुमास प्यारा।
खोजते तव नयन उसको सजनि क्या बाहर कहीं हैं?
वन्य खग-सी हाय ये अँखियाँ भगीं वन ओर ही हैं!

प्राचीन आर्यों की शिक्षा-प्रणाली

विधुशेखर भट्टाचार्य

यह स्पष्ट है कि वायु और आकाश के बिना कोई न जी सकता है और न उसकी वृद्धि हो सकती है। जो स्थान वायु और आकाश को जीवधारियों के लिये प्राप्त है वही स्थान सामाजिक प्राणी के लिये शिक्षा का है। भारतवर्ष ने इसी प्रकार की आवश्यकता को लक्ष्य में रखकर ही शिक्षा को अनिवार्य और निःशुल्क बनाया था, क्योंकि शिक्षा जब तक निःशुल्क न हो वह अनिवार्य नहीं की जा सकती। देखा जाय यह बात भारतवर्ष में कैसे संभव हुई।

भारतीय आर्यों का समाज मूल रूप में तीन श्रेणियों से बना था—(१) ब्राह्मण, जिनका प्रधान कर्तव्य, शिक्षा, शान्ति और आध्यात्मिक भावों का देश में प्रसार करना था (२) क्षत्रिय, जिनका कर्तव्य, शासन और देश-रक्षा था (३) वैश्य, जिनका कर्तव्य, कृषि और वाणिज्य के द्वारा देश की आर्थिक स्थिति को समृद्ध करना था। एक चौथी श्रेणी, जो कारीगरों और मज़दूरों से बनी थी शूद्रों की थी, जो इस समाज में बाद में जोड़ी गई थी। इस प्रबंध में हम उस समय की ही चर्चा करेंगे, जब कि चौथी श्रेणी इस समाज में अन्तर्भुक्त नहीं हुई थी।

जो लोग भारतीय समाज के इतिहास से परिचित हैं, वे जानते ही हैं कि आज भी ऊपर बताई हुई तीन श्रेणियों के बालकों का उपनयन-संस्कार सारे देश में अनुष्ठित होता है। शुरू में इस संस्कार का प्रधान उद्देश्य यह था कि बालक को उसकी शिक्षा के लिये एक योग्य गुरु के तत्वावधान में छोड़ दिया जाय। साधारणतः ब्राह्मण बालक के लिये आठ वर्ष, क्षत्रिय बालक के लिये ग्यारह वर्ष और वैश्य बालक के लिये बारह वर्ष इस संस्कार का उचित समय माना जाता था। किंतु इससे पहले भी यह हो सकता था। यदि उचित समय पर संस्कार न किया गया तो कुछ दिन तक और प्रतीक्षा की जा सकती थी। ब्राह्मण के लड़के की सोलहवें वर्ष, क्षत्रिय के बाईसवें और वैश्य के चौबीसवें वर्ष तक प्रतीक्षा चल सकती थी, परंतु इस उम्र तक भी यदि संस्कार न हुआ तो वह समाज से भ्रष्ट (व्रात्य) मान लिया जाता था। अर्थात् शिक्षित न होने पर ये लड़के समाज में कोई मर्यादा नहीं पा सकते थे। मां, बाप को इस बात के लिये सावधान रहना पड़ता था। अपने बालकों की शिक्षा की व्यवस्था करना उनका धर्म था। आज भी भारतीय पिता अपनी ही कर्तव्य-बुद्धि से बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था करता है। कोई बाहरी दबाव नहीं है और सरकार की ओर से बच्चों के अशिक्षित रखने पर किसी प्रकार के दंड की व्यवस्था भी नहीं है।

शिक्षा का यह उत्तरदायित्व यद्यपि प्रधान रूप से माता-पिता का माना जाता था पर सारा समाज भी इस व्यवस्था के सुचारु रूप से संचालन के लिये अपनेको उत्तरदायी समझता था। समाज का कर्तव्य था कि वह इस बात का ध्यान रखे कि बालक धनी हो या गरीब उसे शिक्षा सरलतापूर्वक प्राप्त हो सके। केवल आर्थिक समृद्धि के कारण जिस प्रकार कुछ थोड़े से लोग सर्वोत्तम शिक्षा पाने की सुविधा पा जाते हैं ऐसी बात उन दिनों नहीं थी। समाज के व्यवस्थापक इस प्रकार के असमान व्यवहार की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उनका विचार था कि बालक पैदा होते ही सारे समाज का होता है उसकी योग्यता या अयोग्यता से सारा समाज प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है। एक खास उम्र तक मां-बाप बालक की देखरेख करते थे और जब वह शिक्षा पाने योग्य अवस्था में पहुंचता था, तब उनके भोजन और आश्रय आदि की चिन्ता उनको नहीं रहती थी और न शिक्षा का खर्च जुटाने की फिक्र होती थी। ऐसा कैसे संभव हुआ। वस्तुतः यह व्यवस्था इतनी सुसंगठित थी कि शिक्षण के लिये आवश्यक सामग्री की कमी कहीं भी नहीं होती थी। विद्यार्थी गुरु के घर पर रहता था और गुरु-पत्नी, माता का स्थान ग्रहण कर लेती थी, इस प्रकार यद्यपि शिक्षा का आरंभ बहुत कच्ची उम्र में ही हो जाता था तौभी बालक उसी प्रकार गुरु के घर में घुल मिल जाता था जिस प्रकार अपने परिवार में था। गुरु के परिवार का सुख-दुःख ही उसका अपना सुख-दुःख हो जाता था। छांदोग्य उपनिषद् (४.१०.३) का निम्नलिखित वाक्य बहुत ही अर्थपूर्ण है। इससे उस दयालुता, स्नेह और कोमल भावनाओं का पता चलता है जो एक दिन विद्यार्थी के अन्न न खाने से गुरुपत्नी के चित्त में उत्पन्न हुआ करती थी : ब्रह्मचारिन्नशान किंनुनाश्नासि'—हे ब्रह्मचारिन्, तुम खा क्यों नहीं रहे हो।

विद्यार्थी को किसी प्रकार की फीस नहीं देनी पड़ती थी और फिरभी सारी व्यवस्था सुचारु रूप से चलती थी। विद्यार्थी प्रत्येक गृह से अपने अन्न की भिक्षा मांग ले आया करता था। यह गृह-स्वामिनी का धर्म समझा जाता' था कि वह नियमित रूप से ब्रह्मचारियों को अन्न दे। शास्त्रों में गृहस्वामिनी का ही यह धर्म बताया गया है क्योंकि गृहस्थ सब समय घर में उपस्थित नहीं भी रह सकता है। शास्त्रों में बताया गया है कि ब्रह्मचारी को अन्न नहीं देने से पहिले के किए हुए सभी पुण्य-कर्म निष्फल हो जाते हैं। बात सही है, इसमें किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं है क्योंकि भिक्षा न देने से शिक्षा की व्यवस्था चौपट हो जायगी और समाज उन भलाइयों से वंचित रह जायगा जिन्हें सुशिक्षित व्यक्तियों ने पहले से समाज के लिये प्राप्त कर ली हैं। विद्यार्थी को अन्नदान करना समाज में बोझ तो समझा ही नहीं जाता था बल्कि वह एक आनंददायक कर्तव्य माना जाता था। भिक्षा के द्वारा संगृहीत अन्न से ही विद्यार्थियों तथा उनके गुरु के परिवार का भी खर्च चलता था।

गुरु के लिये पुराना संस्कृत शब्द आचार्य है। आचार्य उसको कहते हैं जो विद्यार्थियों को न केवल शिक्षा देता और सदाचार का अभ्यास कराता था, बल्कि स्वयं भी वैसा ही आचरण करता था। इस संबंध में यह सबसे महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखी जाती थी कि गुरु की देखरेख में विद्यार्थियों को इंद्रिय-निग्रह की शिक्षा दी जाती थी और अध्ययनकाल में दृढ़ता के साथ ब्रह्मचर्य का पालन कराया जाता था। साधारणतः गुरु निर्धन हुआ करते थे और उनके साथ रहकर विद्यार्थी आनंदपूर्वक गुरु की पारिवारिक कठिनाइयों का सामना करते थे। इस प्रकार अपने अध्ययनकाल में विद्यार्थी नाना प्रकार के गार्हस्थ्य जीवन की कठिनाइयों का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करते थे।

यही संक्षेप में प्राचीन भारतीय आर्यों की शिक्षण-व्यवस्था की आधारभूत बातें हैं। इनको उक्त समाज के व्यक्तियों ने जो व्यवहारिक रूप दिया था उसको अत्यन्त संक्षिप्त चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

मूर्तिकला का वर्तमान रूप

विनोदविहारी मुखोपाध्याय

अंग्रेज़ी सभ्यता के प्रथम धक्के के समय देशी रूप कला में जो अनुकरण का मनोभाव दिखाई पड़ा था उस काल को चित्र का इतिहास पार कर चुका है, परन्तु देशी मूर्तिकला का इतिहास आज भी अनुकरण के काल में ही आबद्ध है। बहुत थोड़े दिनों से मूर्तिकला के क्षेत्र में ऐसी चेष्टा दिखाई पड़ी है जिसके फलस्वरूप अनुकरण का काल समाप्त होता-सा जान पड़ता है और इस क्षेत्र में भी नवीन भाव के संचार की संभावना स्पष्ट हुई है। यह चेष्टा स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं हो रही है, इसीलिये संक्षेप में इस नवीन चेष्टा की चर्चा की जा रही है।

इस देश के धनीसमाज में अंग्रेज़ी आर्ट नवीन सभ्यता के उपकरण के रूप में प्रवेश कर सका था। विदेशी व्यवसायियों की मध्यस्थता में विलायती चित्र और मूर्तियाँ भी नाना भांति के माल-असबाब के साथ आई थीं और नये फैशन की खातिर धनी लोगों ने बहुत धन लगाकर इन वस्तुओं को खरीदा। इनमें नक़ल चीजें भी थीं और असल भी। इस फैशन की धूम में विलायती नामधारी बहुतसी रद्दी चीजें हमारे देश में आई हैं। एक दूसरी ओर से भी विलायती

मूर्तियों का प्रचार हुआ। अंग्रेज़ हाकिम विलायत से बड़ी बड़ी मूर्तियां मंगाकर इस देश के भिन्न भिन्न शहरों में स्थापित करने लगे और इस कार्य के साथ ही साथ विलायती शिल्पकारों का भी आवागमन शुरू हुआ। क्रमशः देश के राजे महाराजों में तथा धनीलोगों में अपनी इस ढंग की आवक्ष मूर्ति या पुरुष प्रमाण खड़ी मूर्ति बनवाने का शौक़ बढ़ता गया और यह बात क्रमशः फ़ैशन का रूप धारण करती गई। इस प्रकार अंग्रेज़ी भास्कर्य (या मूर्तिशिल्प) नवीनता के बल पर हमारे देश में घुसा था, आदर्शगत श्रेष्ठता के ज़ोर से नहीं।

अंग्रेज़ों के हाथ में शिक्षाव्यवस्था रहने के परिणामस्वरूप जो नया समाज बना उसकी मांग पर देशी कलाकार विदेशी चित्रों और मूर्तियों का अनुकरण करके चित्र और मूर्ति बनाने लगे। इस ओर से चित्र के क्षेत्र में राजा रविवर्मा और मूर्तिकारों में बंबई के मात्रे की रचनाएं पिछले खेवे के अनुकरणधर्मी चित्र के श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में स्मरण की जा सकती हैं। यहां तक आधुनिक चित्र और मूर्ति दोनों ही का इतिहास एक ही रास्ते चला था, दोनों में व्यवधान कम ही था। क्रमशः आगे चलकर चित्र का इतिहास, घात-प्रतिघात के फलस्वरूप जिस अवस्था तक पहुंचा है, उसकी तुलना में मूर्ति का आधुनिक इतिहास स्थाणुत्व प्राप्त कर गया है। बाद में चलकर मूर्तिकला के क्षेत्र में जिस गति का परिचय मिलता है उसका इतिहास चित्रकला के इतिहास के साथ जड़ित है। नंदलाल वसु के प्रभाव से हमारे चित्र की संस्कृति नई दिशा की ओर मुड़ गई है, जिसके फलस्वरूप चित्र का गठन या स्ट्रक्चर तथा उसके मंडन (डेकोरेटिव क्वालिटी) की ओर चित्रकारों की दृष्टि गई है। उसके साथ ही साथ व्यावहारिक उपकरणों को मर्यादा देने का आदर्श भी आया है, जिससे नंदलाल के परवर्ती चित्रों में कारीगरी (क्राफ्टस्मैनशिप) का ढंग प्रकट हुआ है। इसके साथ ही चित्र गठनप्रधान हो गए हैं। अर्थात् नंदलाल वसु के प्रभाव से चित्र गठनप्रधान (फ़ार्मल) और मण्डनभावापन्न (डेकोरेटिव) तथा कारीगर की उस्तादी से युक्त हुए हैं। यह नई बात है जो, हमारे चित्र के इतिहास में आई है। इन तीन आदर्शों के समन्वय से हमारे चित्रकार व्यापकतर क्षेत्र में आए हैं। इस नवीन प्रकार के भावप्रकाश की चेष्टा के कारण नंदलाल की शिष्यमण्डली में मूर्तिकला की ओर झुकाव हुआ है। यहां मैं व्यक्तिगत प्रतिभा की बात नहीं कह रहा हूं—नंदलाल के जिन शिष्यों में मूर्तिकार की प्रतिभा थी वे ही उस ओर गए हैं, यह कहना ही निष्प्रयोजन है इसीलिये मैं इस स्थान पर सिर्फ पारिपार्श्विक अवस्था और शिक्षा के प्रभाव का ही विचार कर रहा हूं।

जो लोग नंदलाल वसु के चित्र के आदर्श को अपनाकर मूर्तिकला के क्षेत्र मे आए हैं उनमें रामकिंकर बैज ही प्रधान हैं। यहां मेरी आलोचना का विषय इतना ही देखना है कि वर्त्तमान मूर्तिकला की तुलना में इस मूर्तिकलार (श्रीरामकिंकर बैज) का क्या स्थान है। भारतवर्ष

के अन्यान्य प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध मूर्तिकारों के साथ उनकी तुलनात्मक आलोचना करना मेरा उद्देश्य नहीं है। शुरू में ही कह चुका हूं कि आधुनिक मूर्तिकला स्थाणुत्व प्राप्त हो गई है अर्थात् गतिहीन हो गई है। इस कथन की सचाई की जांच की जाय।

विलायती प्रभाव के बाद के मूर्तिकार जी० के० मात्रे, कर्मकार (बम्बई), हिरण्यमय रायचौधुरी, देवीप्रसाद रायचौधुरी इन लोगों के प्रभाव से मूर्तिकला के क्षेत्र में सिर्फ करण-कौशल का रद्दोबदल हुआ है मूल विषय अर्थात् वास्तवता (नेचरलिस्टिक) की सीमा को छोड़कर ये आगे नहीं बढ़ सके। और भी एक तरफ़ से इस विषय पर विचार किया जा सकता है। अंग्रेज़ी में स्टूडियो स्कल्पचर नाम की एक चीज़ है जिसको एक शब्द से समझाना बड़ा कठिन है क्योंकि अपने देश में स्टूडियो-स्कल्पचर नाम की कोई वस्तु थी ही नहीं। स्टूडियो स्कल्पचर से उस मूर्ति का बोध होता है जो घर के भीतर तैयार हो और जिसका प्रधान आकर्षण प्रस्तुत वस्तु का रूप हो। घर के भीतर विराट् आकार की मूर्ति बनाकर उसे बाहर आकाश के नीचे खड़ा कर देने पर यदि उसका इमारती भाव यानी आर्किटेक्चरल क्वालिटी न रहे तो वह भी बड़े आकार का स्टूडियो आर्ट ही समझा जायगा। अब प्रश्न होगा कि पारिपार्श्विक आवेष्टन के साथ योग रहने का मतलब क्या है। इस प्रश्न के उत्तर में मूर्तिकला का विशेषत्व जो सभी देशों में स्वीकृत हुआ है, उसका उल्लेख करके इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। मूर्ति को स्थापत्य का सगोत्र कर के ही देखा जाता है अर्थात् स्थापत्य का जो गठनमूलक धर्म है और जो रूप-निरपेक्ष भाव है वही मूर्तिकला के क्षेत्र में भी आवश्यक है। बाहर आकाश के नीचे जब मूर्ति रखी जाती है उस वस्तु के तत्त्व के अतिरिक्त एक और पहलू भी चाहिए, वह है गठन की बंधाई (स्ट्रकूचर और फार्म)। यही स्थापत्यकला का प्राण है। बाहर के लिये तैयार की गई कोई बड़ी मूर्ति, रूप (एपियरेंस) की सीमा से हमें दूर ठेल दे और नजदीक से जब उस मूर्ति की कारीगरी मूर्तिकार के हाथ की सफाई या अस्त्र-कौशल देखने की इच्छा हो तो यह मूर्ति उस श्रेणी की होगी जिसे अंग्रेज़ी में स्टूडियो स्कल्पचर कहते हैं। भारतवर्ष की अनेक मूर्तियां खुली जगह में धूप और पानी में खड़ी हैं। इन मूर्तियों का मूल आकर्षण उनकी वास्तवता है। उनमें गठन (स्ट्रकूचर) और इमारती भाव (आर्किटेकूचरल क्वालिटी) गौण हैं।

अब तक की मूर्ति विषयक आदर्श की आलोचना के बाद यह समझ में आ सकता है, कि नंदलाल वसु के व्यक्तित्व के प्रभाव से हमारी चित्रकला में जो परिवर्तन आया है वह क्या है। वह इन्हीं गुणों का समवाय है। अर्थात् चित्र मूर्तिधर्मी होने की ओर जा रहा है। इसीलिये नंदलाल वसु का आदर्श जिस प्रकार हमारे चित्र-शिल्प में नवीनता ले आया उसी प्रकार उस आदर्श

की एक और परिणति शान्तिनिकेतन के मूर्तिकारों में हुई। इसीलिये नंदलाल के शिष्य रामकिंकर बेज का काम मंडन का आदर्श लेकर शुरू हुआ और भारतीय मूर्तिकला ने वास्तविकता की ओर से मुंह फिराया। गत युग का विलायती नेचरलिस्टिक आदर्श ही अब तक हमारा भी आदर्श था। उसके विरुद्ध नाना भाव से नाना आन्दोलन चल रहे थे। इस विरोध के फलस्वरूप मूर्तिकला में वस्तुनिरपेक्ष (एब्सट्रैक्ट आर्ट) नामक आदर्श का उद्भव हुआ। संक्षेप में इस आदर्श (एब्सट्रैक्ट आर्ट) की मूल बात यह है कि इसमें रूप के बिना ही गुण को दिखाने की चेष्टा होती है : अर्थात् रूप के आश्रय की अपेक्षा न रखते हुए भी एक ऐसी गढ़न जो हमारे मन को आकृष्ठ तो करती है किन्तु तो भी किसी वस्तुरूप की बात को नहीं याद दिलाती। इस आदर्श का अनुसरण करके मूर्तिकार लोग स्थापत्य कला के साथ प्रतियोगिता करने की चेष्टा करने लगे। विलायती कलाकार अपने कार्य में इस आदर्श को पूरी तरह से नहीं निबाह सके, फिर यह आदर्श पुराना भी हो चला है और इस तथा अन्य आदर्शों के धक्के से विलायती मूर्ति-शिल्प में बहुत परिवर्तन हो गया है, तथापि उस की ज्यों-की-त्यों नक़ल करने की चेष्टा चली ही आ रही है। सुररियलिस्टिक आर्ट एक दूसरा आदर्श है जो अब भी विलायती चित्रकरों में अचल नहीं हुआ। इस आदर्श के अनुयातियों की प्रधान चेष्टा यह है कि चेतन और अवचेतन चित्त के मिलित होने से जो कुछ प्रकाशित होता है उसे ही प्रकाशित किया जाय। ये लोग चित्र को प्रतीकमूलक (सिम्बालिकल) कहा करते हैं क्योंकि मन के सक्रिय सचेतन और अवचेतन स्तरों में जो व्यापार घट रहे हैं। उन सब को एक साथ दिखाना प्रतीक से ही संभव हो सकता है। मनोविज्ञानवेत्ता फ़ायड ने अवचेतन मन की प्रवृत्तियों को पहचानने के लिये जिन प्रतीकों की सूची तैयार की थी, अधिकांश क्षेत्र में वे ही इनका भी उपजीव्य थीं। इधर हाल में सुररियलिस्ट प्रकाशभंगी में भी परिवर्तन शुरू हुआ है। उस की चर्चा यहां अप्रासंगिक होगी। इन दोनों आदर्शों का प्रभाव रामकिंकर बेज पर पड़ा है। इस पहलू से इस मूर्तिशिल्पी का कार्य लक्ष्य करने की वस्तु है। ये दोनों आदर्श ग्रहण योग्य हैं या नहीं इस प्रश्न को उठाने की यहां ज़रूरत नहीं है। सिर्फ इतना ही देखा जा सकता है कि इन दोनों आदर्शों में बड़ा भारी व्यवधान है। एब्स्ट्रैक्ट आर्ट न रूप चाहता है न वस्तु ; चाहता है रूप आश्रय-निरपेक्ष एक गढ़न और दूसरी ओर सुररियलिस्ट कलाकार प्रतीक पर प्रतीक की रचना किए जा रहे हैं। इन दो भिन्न-धर्मी आदर्शों के द्वंद्व में बेजजी की इस नई दोलाचल अवस्था का अनुसरण तो किया जा सकता है पर उससे किसी नतीजे पर नहीं पहुंचा जा सकता।

इस प्रकार रामकिंकर बेज महशय एक तरफ़ तो वास्तवता से मुक्त हुए और दूसरी तरफ़ मूर्तिशिल्प के क्षेत्र में इन दो चरम आदर्शों को ले आए। देशी मूर्तिशिल्प में यह जो नया

विदेशी आदर्श प्रविष्ट हुआ है उसका परिणाम क्या होगा, यह कह सकने का समय अभी नहीं आया। यह विचार भी अभी नहीं किया जा सकता कि यह आदर्श हमारे मूर्तिशिल्प को नया स्वाद देगा या कलुषित करेगा। फिलहाल हम यही देख रहे हैं कि एक ओर यूरोपीय आदर्श हमारे शिल्प में प्रविष्ट हुआ है। प्रभाव चाहे जैसा और जिस ओर से भी आवे यह सत्य है कि मूर्तिकला वास्तवता से मुक्ति पा सकी है, गठनमूलक (कंस्ट्रक्टिव) आदर्श प्राप्त कर सकी है और मूर्ति का इमारती भाव (आर्किटेक्चरल क्वालिटी) बहुत कुछ लौट आया है। फलतः स्टूडियो स्कल्प्चर की सीमा अतिक्रम करके हमारे शिल्पियों की प्रतिभा बाहर के पारिपार्श्विक के उपयोगी शिल्प की रचना में सचेष्ट हुई है। आधुनिक मूर्तिकला के क्षेत्र में इस ओर से जो परिवर्तन हुए हैं वे संपूर्ण नवीन हैं। आधुनिक चित्र और मूर्तिकलाओं में जो इमारती भाव के गठन की ओर दृष्टि गई है उसके मूल में बहुत कुछ नंदलाल के व्यक्तित्व का प्रभाव है। इस आदर्श को प्रकाशित करने के रास्ते में जो परिवर्तन हुए हैं वे सब के सब नंदलाल के परवर्ती चित्रकारों और मूर्तिकारों (यथा रामकिंकर बैज, रुद्र हामजी, सुधीर खास्तगीर) के द्वारा ही हुए हैं।

आधुनिक मूर्तिकला के एक पहलू पर संक्षेप में और भी चर्चा कर ली जा सकती है। बंगाल में पूजा के अवसरों पर देवदेवियों की जो प्रतिमाएं बनती रहीं वे अपने प्राचीन खाके को बहुत दिनों तक सुरक्षित रख सकी हैं। इधर इन प्रतिमाओं को भी आधुनिक रूप देने की चेष्टा चल रही है। प्रधानतः कृष्णनगर के गोपेश्वर पाल और कलकत्ते के निताई पाल के प्रयत्नों से ही यह आधुनिक संस्करण हो रहे हैं। ये लोग आवक्ष मूर्ति बनाने में भी ख्यात हैं। इस आधुनिकता का कारण यह है कि आधुनिक समाज में धार्मिक दृष्टि से प्रतिमा पूजन का महत्त्व कम होता जा रहा है ; यह बहुत कुछ सामाजिक उत्सव का रूप धारण करता जा रहा है। इसी मनोवृत्ति के कारण पंचायती पूजाएं शुरू हुई हैं। इसीलिये आधुनिक समाज का मनोरंजन करने के लिये दुर्गादेवी को भी अपना रूप बदलना पड़ रहा है और इस मनोरंजन कार्य के लिये जो कुछ भी आवश्यक है वह सभी उनकी प्रतिमा पर आरोपित हो रहे हैं? परिणाम यह हुआ है कि प्रतिमा की निर्माण-कला विज्ञापन-कला का रूप धारण करती जा रही है। फिर भी इस चेष्टा का एक सुफल तो हुआ ही है। वह यह कि हमारे मूर्तिकार रूढ़ियों की संकीर्णता के बाहर आने का सुयोग पा रहे हैं।

कटाह द्वीप की समुद्र-यात्रा

वासुदेवशरण अग्रवाल

भारतीय उत्कर्ष के युग में पूर्वीय द्वीपसमूह के साथ इस देश का घनिष्ठ संबंध था। भारतीय संस्कृति, धर्म और भाषा का उन द्वीपों की सभ्यता पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। एक प्रकार से ये द्वीपसमूह भारत की धर्म-विजय के अन्तर्गत आ गए थे। इस धर्मविजय की कथा मानवी सभ्यता के इतिहास में अतीव गौरवशालिनी है।

पूर्वीय द्वीपसमूह में निम्नलिखित द्वीपों के भारतीय नाम हैं—

यवद्वीप	जावा
सुवर्णद्वीप	सुमात्रा
मलयद्वीप	मलय प्रायद्वीप
कटाहद्वीप	केडा नामक प्रदेश जो मलयद्वीप के पश्चिम का भाग है।
वारुषक	सुमात्रा के पश्चिमी तट पर बरुस नामक स्थान
बलिद्वीप*	बाली
वारुणद्वीप	बोरनिओ
नारिकेलद्वीप	पूर्वी द्वीपसमूह में से कोई एक

गुप्त संस्कृति के सुवर्ण युग में भारतवासियों ने चार समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी के उस पार द्वीपान्तरों के साथ अपना संबंध स्थापित किया। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के छठे सर्ग में कई प्रकार से देश के इस महान् भौमिक विस्तार की ओर संकेत किया है। इंदुमती के स्वयंवर में एकत्र भारतीय राज परम्परा का वर्णन करते हुए कवि ने राष्ट्रीय श्री का एक चित्र खींचा है। कहीं कवि को ऐसा प्रतीत होता है कि देश के पराक्रम ने महासागर के जलों का निश्शेष रूप

* देखिए—मंजुश्रीमूलकल्प २।३२२—

कर्मरंगाख्यद्वीपेषु नाडिकेरसमुद्भवे।
द्वीपे वारुषके चैव नग्नवलिसमुद्भवे॥
यवद्वीपे वा सत्वेषु तदन्यद्वीपसमुद्भवाः।
वाचा रकारबहुला तु वाचा अस्फुटतां गता॥

नग्नद्वीप निकोबार है जिसका उल्लेख निक्कवंर नाम से राजेन्द्रदेव चोल के लेखों में है। कर्मरंग द्वीप—यह लिगर के स्थलडमरूमध्य के समीप मलय का ही एक भाग था। (देखिए, बागची, प्रिआर्यन ऐंड प्रिड्रैविडियन इन इंडिआ, पृ० १०३)।

से पान कर लिया है (निश्शेषपीतोज्झितसिन्धुराजः)। कहीं भासित होता है कि रत्नों से भरे हुए महार्णव के मेखला-दाम से अलंकृत पृथिवी राष्ट्रीय तेज की उपासना कर रही है। कहीं कवि को प्रतीत होता है कि द्वीपान्तरों से आनेवाली हवाएं लवंगलता के पुष्पों की सुगन्धि अपने साथ ला रही हैं (द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैः), कभी जान पड़ता है कि सागर की महोर्मियां अपनी गम्भीर ध्वनि से देशवासियों को सोते से जगा रही हैं, और कभी कवि की पैनी आँख पूर्वीय द्वीपसमूह का पर्यवेक्षण करती हुई अट्ठारह द्वीपों में अपनी संस्कृति और धर्म-विजय के चिह्नरूप जो यूप हैं उन्हें प्रतिष्ठापित देखती है। धर्मविजय से उत्पन्न देश की इस यशो-महिमा को बड़े सुन्दर ढंग से कवि हमें बताता है—

आरूढमद्रीन् उदधीन् वितीर्णं भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम्।
ऊर्द्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम्॥ (रघु० ६।७७)

वह यश पर्वतों पर चढ़कर उनको लाँघ गया। समुद्रों की सीमाओं को पारकर वह द्वीपान्तरों में फैल गया। पाताल भी उसके प्रमाण से अछूता न बचा। स्वर्ग तक ऊँचा उठ कर उस यश ने दिव्य आदर्शों का स्पर्श किया। वह यश कैसा था और कहां तक था, इसे कौन जान सकता है? इतिहास के स्वर्णयुग में भारतीय संस्कृति का जो यश चारों ओर विस्तृत हुआ उसकी व्याख्या महाकवि के उदात्त शब्दों से अधिक सुन्दर और क्या हो सकती है? इस यश की गूंज देश में और विदेश में ऊँची उठने लगी। शताब्दियां और युग उसकी प्रतिध्वनि से भर गए। गुप्तकाल से लेकर लगभग दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक यह उज्ज्वल यश लोक के कानों में और कंठ में बढ़ता ही गया।

काव्य में और साहित्य में इस द्वीपान्तर संबंध के अनेक उदाहरण मिलते हैं। मलय द्वीप के एक अवान्तर भाग कर्मरंग प्रदेश से आनेवाले चमड़े से बनी हुई ढालों का उल्लेख बाणभट्ट ने हर्षचरित में किया है (निर्णयसागर सं० पृ० २०७, २७०)। 'तिलक मंजरी' के धनपाल ने मधुर कल्पना करते हुए लिखा है कि राजा मेघवाहन की मदिरावती नाम की रानी ने जब गर्भ धारण किया तो उसके हृदय में यह दोहद अभिलाषा उत्पन्न हुई कि द्वीपान्तरों में जो देवायतन हैं उनमें होनेवाले सांध्य नृत्य को चलकर देखा जाय। इसी प्रकार सम्राट् के प्रासाद के प्रेक्षागार में जो अभिनय होते थे उन्हें देखने के लिये अष्टादश द्वीपों के भूपतियों को निमंत्रण जाता था। ये कथा लेखक की कल्पनाएं हैं, परन्तु इनके पीछे जो लोकभावना थी उसको भारत और समुद्रपार के देशों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध से बल मिलता था। इस दृष्टि से भारतीय कथा-साहित्य की छानबीन होनी चाहिए। तारों भरी रात में जब नाविक अपने पोतों पर सागर की यात्रा करते थे तब उनका समय कथा-कहानियों के द्वारा बीतता था। सब प्रकार का कहानी

साहित्य उस काल में (पांचवींशती से आठवीं-नवीं शती तक) दिनदूना रात चौगुना बढ़ा समुद्रपार की यात्राओं के वृत्तान्त भी कहानी बनकर उस लोकसाहित्य में घुल मिल गए। उसीमें पूर्वी द्वीपपुंज के कुछ नामों ने भी साहित्य में घर कर लिया। 'एक राजा था' की तरह कहानियों का आरम्भ इन्हीं नामों से होता था। इनमें सुवर्णद्वीप और कटाह द्वीप के नाम विख्यात हैं। सुवर्ण द्वीप सुमात्रा में था जहां श्रीविजय के प्रतापी शैलेन्द्र सम्राटों का साम्राज्य कई शताब्दियों तक फूला-फला वहां के शैलेन्द्रराज श्री बालपुत्र देव ने नालंदा के अन्तरराष्ट्रीय विद्यापीठ के लिये, जिसे चातुर्दिश आर्य भिक्षुसंघ कहते थे, पांच गांव दान में दिए थे, जिन की आय से धर्मग्रन्थों का लेखन, विहार की टूट-फूट की मरम्मत (खंडस्फुटितसमाधानार्थम्), भिक्षुओं के लिये वस्त्र, भोजन, औषधि आदि और बुद्ध भगवान् की पूजा के लिये फुटकर सामग्री का प्रबन्ध होता था। नवीं शताब्दी का यह ताम्रपट्ट नालंदा की खुदाई में सुरक्षित मिल गया है। कथासरित्सागर के अलंकारवती लम्बक की एक कहानी में समुद्र शूर नामक महावणिक् का जहाज़ में माल लादकर सुवर्णद्वीप की यात्रा करने का बड़ा रोचक वृत्तान्त है जिसमें समुद्रयात्रा और नौविद्या के अच्छे पारिभाषिक शब्द पाए जाते हैं। इसीमें सुवर्णद्वीप या सुमात्रा के कलशपुर नामक नगर का भी उल्लेख है। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में सुवर्णद्वीप के आचार्य धर्मकीर्ति समस्त एशिया के महा प्रसिद्ध विद्वान् थे। दीपंकर श्रीज्ञान (अतिश) नामक महापंडित भी दस वर्ष तक (१०-११-२३) सुवर्ण द्वीप में रहकर उनके पास पढ़ते रहे।

२

इसी प्रकार की यात्राओं में कटाह द्वीप का नाम भी आता है। यह कटाह द्वीप मलय प्रायद्वीप का उत्तर-पश्चिम का भाग था जिसे आजकल केडा कहते हैं। चोल-वंशी राजाओं के लेखों में इसकी संज्ञा 'कडार' है। राजेन्द्र चोलदेव प्रथम ने (१०२५ ई०) अपने सामुद्रिक दिग्विजय के वर्णन में नक्कवार (=निकोबार), तक्कोल (क्रा के स्थलडमरूमध्य के कुछ दक्षिण तकोल स्थान), इलंगाशोक (मलय द्वीप में लंकाशुक स्थान) आदि के अतिरिक्त कडार द्वीप की विजय का भी वर्णन किया है।[1] कडार के शासक संग्राम विजयोत्तुंगवर्मन् को अनेक हाथियों से भरी हुई सेना के साथ पकड़ लिया और उनको प्रभूत रत्नराशि को छीनकर नगर के विद्याधर तोरण नामक ऊंचे फाटक को भी ले लिया। राजेन्द्र चोल के पिता श्रीराजराज चोल के संस्कृत शिलालेख में कडार का संस्कृत नाम कटाह ही दिया गया है और उसमें श्रीमार विजयो

१. दक्षिण भारत के शिलालेख (साउथ इन्डिया इंस्क्रिपशंस, भाग ३, पृ० ४६८-६९।)

त्तुंग वर्मा को शैलेन्द्र वंश में उत्पन्न, श्रीविजय का अधिपति कहा गया है जिन्होंने अपना आधिपत्य कटाह द्वीप के ऊपर भी स्थापित कर लिया था। राजराज चोल का बड़ा ताम्रपट्ट इस समय लाइडन में सुरक्षित है (देखिए, एपि० इंडिका, भाग २२, पृ० २४१-२,२५७।) इस प्रकार कटाह द्वीप नाम की प्रसिद्धि ११वीं शताब्दी तक निरन्तर पाई जाती है।

अब हम उन कहानियों का उल्लेख करते हैं जिन में कटाह द्वीप की समुद्र-यात्राओं का वर्णन है। कथासरित्सागर में सोमदेव ने लम्बक १० की तरंग ५ में एक अगुरुवाही मूर्ख सेठ की कहानी इस प्रकार दी है।—

किसी धनी सेठ का एक मूर्ख लड़का था। वह एकबार वाणिज्य के लिये कटाह द्वीप को गया। उसने अपने सामान में बहुत सा अगुरु भी बेचने के लिये लादा। उसका और माल (अर भांड) तो बिक गया पर अगुरु का कोई ग्राहक न मिला। वहाँ वाले अगुरु को जानते न थे। तब उस वणिक् पुत्र ने क्या देखा कि लोग आते हैं और लकड़हारों से कोयला खरीदकर ले जाते हैं। उसने भी अपने काले अगर की लकड़ी को जलाकर कोयले बना डाले और उन्हें बेचकर मूल्य लेकर घर वापिस आया। जब वह अपनी बुद्धिमत्ता की डींग मारने लगा, तो लोग उसकी मूर्खता पर हंसने लगे।

क्षेमेंद्र-कृत बृहत्कथामंजरी के २य लंबक की देवस्मिता की कहानी में जो कटाक्ष द्वीप (श्लो० १८३) है वह कटाहद्वीप का ही रूपान्तर ज्ञात होता है। धनगुप्त नामक रत्न विक्रयी वणिक ने बर्बर देश से किसी धनिक की पुत्री देवस्मिता को प्राप्त किया था। ताम्रलिप्ता लौटकर उसके पुत्र ग्रहसेन से उसका विवाह हुआ। कालान्तर में ग्रहसेन भी कटाक्षद्वीप में व्यपार करने गया चलते समय शिव और पार्वती से उसने दो ऐसे कमल फूल प्राप्त किए जो सदाचार का उल्लंघन करने पर पर मुरझा जाते। एक अपने साथ और दूसरा देवस्मिता के पास रख कर वह विदेश गया था। वहां चार वणिक पुत्रों के सामने उसने बात खोल दी। वे चारों देवस्मिता की परीक्षा के लिये ताम्रलिप्ता आए। देवस्मिता खरी उतरी। इस भय से कि कहीं ये मेरे पति को हानि न पहुंचावें वह स्वयं भी कटाक्ष द्वीप पहुंची और वहां राजसभा में सब रहस्य प्रकट करके अपने पतिको प्राप्त किया।

३

कटाह द्वीप की समुद्रयात्रा की दो अन्य कहानियां जैन कथा-साहित्य में सुरक्षित हैं। हरिभद्रसूरि (आठवीं शताब्दी)-कृत समराइच्चकहा (समरादित्यकथा) नामक एक बहुत बड़ा कहानी ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है। उसमें एक कहानी इस प्रकार है :

भारतवर्ष में ताम्रलिप्ती पुरी में रहनेवाले कुमारदेव सेठ के घर में एक पुत्र उत्पन्न हुआ

उसका नाम अरुणदेव था। उसी समय पाटलापथ नगर में यशादित्य सेठ के घर में एक कन्या उत्पन्न हुई। उसका नाम देइनी था। जब वह बड़ी हुई तब उसका विवाह अरुणदेव के साथ कर दिया गया। विवाह के अनन्तर अरुणदेव व्यवहार के निमित्त यानपात्र (जहाज़) लादकर महा कटाहद्वीप को गया। मार्ग में कर्म की विचित्र गति से उसका जहाज़ डूब गया। तब वह समुद्र में कूदा और एक बहते हुए फलक के सहारे समुद्र के पार होकर किनारे पर आ लगा। कहानी के बहुत उतार-चढ़ाव के बाद वह पाटलिपुत्र में जा पहुंचा इत्यादि (समाराइच्चकहा पृ० ५८५)। इसमें कटाहद्वीप से संबद्ध अंश इतना ही है।

इसी ग्रन्थ की दूसरी कहानी संक्षिप्त रूपमें यह है—

जम्बूद्वीप के भारत नामक वर्ष में एक 'सुसम्म' नगर था। उसमें वैश्रवण नाम का एक सार्थवाह रहता था जो सब स्थानों का प्रधान नगरसेठ था और दीन अनाथ कृपण जनों पर कृपा करनेवाला था। उसकी श्रीदेवी नाम की स्त्री के धन नामक पुत्र हुआ उसका विवाह धनश्री नामक स्त्री से हुआ। उसी नगर में समृद्धिदत्त नामक दूसरा सार्थवाह-पुत्र था जिसने देशान्तर के व्यापार से बहुत सा धन कमाया उसे वह दीन अनाथ दुःखियों को बांटा करता था। उसके विभव को देखकर धन का मन उदास हुआ उसके सेवक नन्दकने इसका कारण पूछा तो उसने सब हाल कहा। नन्दक ने कहा।—तुम्हारे पास भी तो पुण्य से प्राप्त हुआ बहुत धन है, तुम तो इससे भी विशेष प्रभावशाली हो। इस पर धन ने कहा—पुरखों के कमाए हुए धन से क्या? कहा है कि लोक में उसीकी सच्ची बड़ाई है जो अपनी भुजाओं से पैदा किए हुए धन को दीन अनाथों में बांटता है। मैंने अपने आप तो कुछ कमाया ही नहीं। तू पिता से पूछ जिससे मैं दिसावर को जाऊं और पुरखाओं के कर्म व्यापार से धन उत्पन्न करूँ। नन्दक ने बड़े सेठ जी से आज्ञा ले ली। धन बहुत खुश हुआ और तैयारी करके घोषणा करा दी—'धन नाम का सार्थवाह का पुत्र यहां से ताम्रलिप्ती नगरी को जायगा। जो उसके साथ चलना चाहे चले। जिसे जो पाथेय या सामान चाहिए वह उसे मिलेगा।'

इस प्रकार जब वे चलने को तय्यार हुए तब उसकी स्त्री धनश्री भी साथ चलने का आग्रह करने लगी। धन ने उसको भी ले लिया। उसी समय उसकी माता भी आई और पुत्र को समझाने लगी—हे पुत्र परदेस बड़ा कठिन होता है। वहां वियोग तो मानी हुई बात है। मिलन कठिनाई से ही होता है। धनोपार्जन में भी कम क्लेश नहीं उठाना पड़ता। मन में विषाद का न होना ही धन कमाने का मूल है। यद्यपि तुम में सब गुण हैं फिर भी परदेसमें क्षमा आदि गुणों का विशेष विचार रखना और बराबर अपना कुशल समाचार (प्रवृत्ति) देते रहना।' —धन ने मां की बात सिरमाथे की और यात्रा के लिये निकला।

दो महीने बाद वह ताम्रलिप्ती पहुँचा। वहां के राजा से मिला जिसने उनका सम्मान किया। तब उसने अपना माल बेंचा पर जैसा चाहता था वैसा लाभ न हुआ। वह सोचने लगा कि बिना जोखिम उठाए लक्ष्मी से मेरी भेंट नहीं होती मैं निश्चय समुद्र पार करूंगा। इस विचार को उसने अपने सेवक और स्त्री से कहा। उन्होंने उसकी रुचि का समर्थन किया। तब धन ने परदेस को जानेवाला माल (परतीरगामी भांड) खरीदा और जहाज ढूंढने लगा।

इस बीच धनश्री ने (जो मनमें पति की ओर से मैल रखती थी) सेवक से कहा। चलो दूसरी जगह चलें। तुम्हें समुद्र पार जाने से क्या ? नन्दक स्वामिभक्त था। उसने पीछे रहना स्वीकार न किया। इसी बीच में जहाज ठीक हो गया, और माल उसपर लाद दिया गया। शुभदिन विचार कर धन भी वेलातट पर आया। पहले दीन और अनाथों को उसने धन बांटा, फिर जलनिधि की पूजा की और जहाज (यानपात्र) का भी पूजन करके परिजन के साथ उसपर चढ़ा। लंगर उठा लिए गए (उक्खित्ता नंगरा, समरा० पृ० २०२) और पाल खोलकर उन्हें हवा से भर दिया गया। कछुवे और करिमकरों से भरे हुए सागर में जहाज चलने लगा। शंखों से भरा हुआ समुद्र पाताल की तरह गहरा था। लहरों के ऊपर उछलते हुए जल-हस्ती ऐसे जान पड़ते थे मानो सागर में घुमड़ते हुए मेघरूपी हाथियों के प्रतिस्पर्धी गजेंद्र हों। कहीं वेलातट की लवली लताओं पर बैठे हुए गंधर्व-मिथुनों की शोभा दिखाई पड़ती थी। कहीं जल, हीरे, नीलम और मरकत के रंगों से रँगा हुआ जान पड़ता था। कहीं हवा पानी के छींटों को उड़ाती हुई किनारे के ताल-वनों में सरसर बह रही थी और कहीं विद्रुम-लताओं से समुद्र सुहावना लग रहा था।

इस प्रकार कई दिन बीतने पर धनश्री ने अपने पति को पहले तैयार किया हुआ विषाक्त भोजन खिला दिया। धन के शरीर में महाव्याधि फूट निकली। उसका पेट फूल आया, भुजाएं सूख गईं। मुंह फूल गया, जांघों में गाठें पड़ गईं और हाथ-पैर फूट निकले। खाना-पीना कुछ अच्छा न लगता था। धन दुःखी होकर सोचने लगा : माता ने चलते समय कहा था कि मन में विषाद न आने देना। अब दूसरा किनारा भी पास आ गया है। मैं इस नंदक को अपने माल का स्वामी बना देता हूं, न जाने कल क्या हो जाय ? यह सोचकर उसने नंदक से कहा—"तुम इस रिक्थ के अधिष्ठाता बनो, तुम ही अब नायक हो। तट आने पर जैसा उचित हो उपाय करना। यदि मेरा रोग दूर हो जाय तो सुंदर है, अन्यथा धनश्री को बंधु-बांधवों के पास पहुंचा देना।" यह सुनकर नंदक बहुत दुःखी हुआ। किंतु धन के समझाने से उसकी आज्ञा मानने के लिये तैयार हो गया।

इतने में महा कटाह नाम के द्वीप में सब पहुंच गए। नंदक भेट का सामान लेकर

वहां के राजा के दर्शन को गया। राजा ने भी उसका सम्मान किया और ठहरने का स्थान दिया। उसने अपना सामान उतरा और वैद्यों को बुलाकर चिकित्सा प्रारंभ कराई। किंतु लाभ न हुआ। तब उसने अपना भांड बेच डाला, और बदले में वहां से मिलनेवाला प्रतिभांड ले लिया। वह राजा से भेंट करने गया और उससे सम्मानित होकर अपने देश के लिये रवाना हुआ।

कई पड़ाव बीतने पर धनश्री ने सोचा कि मेरा पति बच गया, अब क्या करूं? एक पहर रात शेष रहने पर निवृत्त होने के लिये बैठे हुए सार्थवाह पुत्र को उसने पाताल के समान गंभीर समुद्र में धक्का दे दिया, और "हा आर्यपुत्र!" कहकर रोने लगी। नंदक को जब हाल मालूम हुआ तो उसने दुःखी होकर वोहित को रुकवाया और अच्छी तरह ढूंढ़ने के बाद फिर लंगर उठा लिए गए और जहाज स्वदेशाभिमुख चल पड़ा।

इधर जैसे ही सेठ समुद्र में गिरा उसके हाथ पहले भग्न हुए वोहित का एक फलक लग गया और उसकी सहायता से वह समुद्रमें तैरने लगा। नमकीन पानी के सेवन से उसका रोग भी चला गया और वह किनारे आ लगा। समुद्र के इस पार जाकर उसने पुनर्जन्म समझा।

इस प्रकार कटाह-द्वीप के सामुद्रिक-व्यापार से संबंध रखने वाली इस कहानी के द्वारा हमें तत्कालीन समुद्र-यात्राओं का एक ज्वलंत चित्र प्राप्त होता है। कहानी-कार ने लोक की इस दृढ़ धारणा की चर्चा की है कि बिना समुद्र पार किए संपत्ति प्राप्त नहीं होती। सामुद्रिक-व्यापार यद्यपि उस समय जोखिम का काम था, फिर भी अदम्य उत्साह और साहस से भरे हुए श्रेष्ठी इस प्रकार के वाणिज्य में सफलता प्राप्त करना अपने जीवन का ध्येय समझते थे।

४

ऊपर के साहित्यिक वर्णनों से प्राचीन सामुद्रिक व्यापार के संबंधमें हमें कुछ पारिभाषिक शब्द भी प्राप्त होते हैं। जहाज़ के लिये चार शब्दों का प्रयोग हुआ है, नौ, यानपात्र, प्रवहण और वोहित। जलनिधि, रत्नाकर, समुद्र सिंधुपति आदिक सागर की संज्ञाएं प्रसिद्ध ही हैं। भगवान कहकर भावपूर्वक समुद्र की पूजा की जाती थी। समुद्र पार करने के लिये 'समुद्र-तरण' और लंघन शब्द आये हैं। व्यापार के लिये 'वणिज्या' और 'व्यवहार' शब्दों का प्रयोग हुआ है। माल के लिये 'भाण्ड' शब्द है। जो माल स्वदेश से बाहर को जाता था उसके लिये 'परतीरगामी' इस सुंदर विशेषण का प्रयोग हुआ है। जहाज़ की बंदरगाह में प्रतीक्षा करने के लिये 'प्रवहण-गवेषणा' शब्द है। जहाज़ की तैयारी के लिये प्रवहण-सँजोना यह महावरा प्रयुक्त होता था। जहाज़ पर सवार होने से पूर्व कुछ दान-दक्षिणा और पूजा-पाठ करने की प्रथा थी। समुद्र और यान-पात्र दोनों की विधि से पूजा कराई जाती थी। लंगर के लिये 'नंगर' शब्द का

प्रयोग हुआ है। समरादित्यकथा से ज्ञात होता है कि ७५० ई० के लगभग यह शब्द हमारी भाषा में आ चुका था। लंगर उठाने के लिये 'उक्खित्ता नंगरा' और 'उच्चाइया नंगरा' महावरों का प्रयोग हुआ है, अर्थात् लंगर का उत्क्षेप (ऊपर फेंकना) और नंगर का स्वस्थान छुड़ाना। 'उच्चाइया' संस्कृत 'उत्त्याजिता' का प्राकृत रूप है। हिंदी की उचाना (=उठाना) धातु इसीसे निकली जान पड़ती है। अपना माल बेचकर व्यापारी विदेश से जो माल लाते थे उसके लिये 'प्रतिभांड' शब्द था। माल लादकर जहाज़ को ठीक करना इसके लिये 'सज्जित' शब्द का प्रयोग हुआ है। अपने देश या भारतवर्ष के लिये वैदेशिक व्यापारी 'निजदेश' या 'स्वदेश' का प्रयोग करते थे। परदेश में पहुंचते ही पहले उपहार लेकर व्यापारी वहां के राजा से भेंट करते थे। व्यापारियों के ठहरने के लिये विशेष आवास-स्थान होते थे। यात्राओं में जहाज़ों के टूटने और डूबने की घटनाएं भी हो जाती थीं। ऐसे यानपात्र को भिन्न और विपन्न कहा गया है। ऐसे समय यात्री अपनी रक्षा के लिये समुद्र में कूद पड़ते थे। कभी कभी लकड़ी के फलक और तैरते हुए जहाज़ के टुकड़ों के हाथ लग जाने से उनकी प्राण-रक्षा हो जाती थी। कहानियों में इस उपाय का बहुधा प्रयोग किया गया है। जहाज़ की गति के लिये 'यानपात्र का चपलभाव' महावरा आया है और जहाज़ रुकवाने के लिये 'धराविया' प्रयोग हुआ है। गुप्तोत्तर काल से लेकर मध्यकाल तक पूर्वी द्वीप समूह की यात्रा के लिये ताम्रलिप्ती का बंदरगाह प्रसिद्ध था, जिसकी पहचान मेदिनीपुर जिले के तामलुक नामक गांव से की जाती है।

आर्यशूर कृत जातकमाला के अंतर्गत सुपारगजातक में भी एक बहुत साहसपूर्ण समुद्र-यात्रा का वर्णन है, जिसमें जहाज़ डूबते-डूबते बच गया था। वहां व्यापारियों के लिये सांयात्रिक शब्द आया है, और जहाज़ों को चलाने वाली पश्चिमी हवाओं का 'पाश्चात्यवायु' नाम से उल्लेख हुआ है। संभवतः यही वे मौसमी हवाएं थीं जिनका परिज्ञान प्रथम शताब्दी ई० के लगभग व्यापारियों को हुआ था। अनुकूल वायु और अतिकूल वायु भी पारिभाषिक शब्द थे। कपड़े के पाल के लिये 'सितपट' शब्द का प्रयोग हुआ है। आत्मरक्षा के लिये परिकर बांधकर समुद्र में कूदना और गिरने के बाद बाहुविक्षेप या वारिव्यायाम करने का भी वर्णन आया है। वारि-व्यायाम शब्द अपनी भाषामें इस अर्थ के लिये महाजनक जातक के मणि-मेखला संवाद में भी प्रयुक्त हुआ है।

भारतीय नौ प्रचार विद्या, कर्णधार कर्म और नाविक तन्त्र से संबंध रखनेवाले सैकड़ों शब्दों का प्रयोग धनपाल कृत 'तिलकमंजरी' (ग्यारहवीं शताब्दी) में आया है। जिसका विस्तृत वर्णन किसी अन्य लेख में किया जायगा।

नागरी में चीनी ध्वनियों के संकेत

शान्तिभिक्षु

भारत में चीन-विषयक जानकारी प्रायः अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से ही अब तक हो पाई है। चीनी के अनेक शब्द आज हिन्दी तथा दूसरी प्रान्तीय भाषाओं में अपनाए गए हैं। यह चीनी शब्द भारत को विदेशी माध्यम से बहुत ही भद्दे रूप में मिले हैं। यह आशा की जाती है कि भविष्य में चीन और भारत का संबंध अधिकाधिक बढ़ता जायगा और उस साहित्य के अधिकाधिक नाम हमें नागरी लिपि में लिखने पड़ेंगे। आज श्यूआन्-चुआङ् को हम ह्वेनसांग, इ-चिङ् को हम इत्सिङ्ग लिखते और बोलते हैं। यह केवल विदेशी माध्यम से बने चीनी ध्वनियों के संकेत के कारण ही है। वस्तुतः नागरी में बिना विशेष चिन्हों के बढ़ाए हुए भी चीनी ध्वनियों को रोमन अक्षरों से काफी शुद्ध लिखा जा सकता है। यदि उसमें कुछ चिन्ह बना लिए जाएँ तब तो चीनी ध्वनियां बिल्कुल शुद्ध लिखी जा सकेंगी। १९१८ ई० में चीनी पण्डितों की एक समिति ने चीनी भाषा की ध्वनियों को लिखने के लिये एक संकेतलिपि प्रकाशित की थी। उस संकेत लिपि का आज चीन में खूब प्रचार है। चीनी भाषा के अभिधान ग्रन्थों में उसी संकेतलिपि से ध्वनियां लिखी जाती हैं। वहाँ की सरकार ने ही उस संकेतलिपि की एक रोमन अनुलिपि भी बनाई है। चीन की कम्यूनिस्त पार्टी ने भी एक रोमन अनुलिपि बनाई है जिसे लातिन् कहते हैं। अंग्रेज़ी माध्यम से चीनी अध्ययन करनेवालों में वेड (wade) पद्धति बहुत प्रसिद्ध है। एक फ्रेंच पद्धति भी है। यह सब पद्धतियाँ संकेतलिपि पर ही निर्भर हैं और अनेकों दोषों से पूर्ण हैं। चीनी संकेत लिपि के सीखने में मुझे अपने चीनी मित्रों श्रीमान् और श्रीमती दिवाकर उपाध्याय (उ-शिऔ-लिङ् तथा ष-सु-चेन्) से मदद मिली है। उसीके सहारे यहाँ नागरी संकेतलिपि प्रस्तुत की जा रही है। चीनी संकेत लिपि की वर्णमाला को यदि नागरी वर्णमाला के हिसाब से सजाएं तो यों होगी—

अ आ इ ई उ ऊ (=यू) ऋ (=अर्) ए, ए′ (=अइ) ऐ (=आय्) ओ, ओ′ (=अउ) औ (=आव्) अङ् आङ् अन् आन्।

क, ख, ङ। च, चॅ, च़; छ, छॅ, छ़; ञ। त, थ, न। प, फ, फ़, म। र, ल, व, श, ष, स, ह।

चीनी संकेतलिपि में इनका वर्गीकरण यों है—

संकेतलिपि की वर्णमाला

व्यञ्जन

स्थान	वर्ण	विशेष
ओष्ठ्य	प फ म	च छ ञ श को चीनी संकेतलिपि में नागरी की भाँति च छ ञ श न बोलकर चि छि ञि शि बोलते हैं। इस उच्चारण में एक रहस्य भी है। वह यह कि च छ ञ श कभी अकेले नहीं आते जब आते हैं तब इकार से या अन्य अन्तस्थों से संयुक्त होकर ही आते हैं। अन्य अक्षर नागरी की भाँति ही बोले जाते हैं।
दन्तोष्ठ्य	फ़ व	
दन्त्य	त थ न ल	
कण्ठ्य, जिह्वामूलीय	क ख ङ ह	
तालव्य	च छ ञ श	
मूर्द्धोष्म (१)	चॅ छॅ ष र	
दन्तोष्म (२)	च़ छ़ स	

स्वर

मूलस्वर	आ ओ अ ए
मिश्रस्वर (३)	ऐ (=आय्) ए (=अइ) औ (=आव्) ओ' (=अउ)
अनुनासिक	आन् अन् आङ् अङ्
वैयञ्जन (४)	ऋ (=अर्)
अन्तस्थ* (५)	इ ई उ ऊ (=यू)

* यह सबके सब वस्तुतः स्वर हैं। इनका प्रयोग चूंकि व्यञ्जन और स्वर के बीच में भी होता है जब कि अन्य स्वरों का नहीं होता इसीलिये इन्हें (अन्तः = बीच में, व्यञ्जन और स्वर के बीच में स्थ = ठहरा हुआ होने से) अन्तःस्थ कहते हैं। संस्कृत में य, र, ल, व को अन्तःस्थ इसलिये कहते हैं कि वे इ, उ, ऋ लृ स्वरों के ही व्यञ्जन हैं और इस तरह व्यञ्जनीभूतस्वर होने के कारण वे न तो स्वर ही हैं न व्यञ्जन ही प्रत्युत स्वर और व्यञ्जन के बीच की चीज़ हैं।

टिप्पणियाँ

ऊपर की वर्णमाला में २४ व्यञ्जन और १७ स्वर हैं। स्वरों में ई और व्यञ्जनों में व, ङ, और ञ का प्रयोग चीन की राष्ट्र भाषा में नहीं होता।

(१) मूर्द्धोष्म अक्षर नागरी में नहीं है। च और छ के ऊपर रेफ के ऽ च और छ को मूर्द्धोष्म बनाने के लिये लगाया गया है। इस रेफ का उच्चारण नहीं करना होगा। च और छ के मूर्द्धोष्म उच्चारण को बोलकर बतलाना तो मेरे लिये सरल है पर लिखकर शब्दों में उसे नहीं बतलाया जा सकता। जो भी हो इनका यदि मूर्द्धोष्म उच्चारण न भी बन पड़े तो र्च, र्छ को क्रमशः च, छ बोलने में बहुत हानि नहीं है।

(२) इसी प्रकार च, छ, के दन्त्योष्म उच्चारणों को अधोबिन्दु द्वारा प्रकट किया गया है। यदि इनका दन्त्योष्म उच्चारण सम्भव न हो तो सीधे च, छ बोलने में हर्ज नहीं है पर लिखने में खयाल रखने की ज़रूरत है।

(३) मिश्र स्वरों (४) ॠ और (५) में ऊ का उच्चारण जैसा कि कोष्ठकों में दिया है वैसा होगा। ॠ का प्रयोग बहुत विरल होता है।

सन्धि-नियम

चीनी भाषा के अक्षरों की ध्वनि को संकेतित करने में (१) केवल व्यञ्जनों (२) केवल स्वरों और (३) केवल अन्तस्थों का जहाँ प्रयोग होता है वहाँ ध्वनि के लिखने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। व्यञ्जनों का व्यञ्जनों से अथवा स्वरों का व्यञ्जनों से योग कभी नहीं होता फलतः व्यञ्जन के बाद व्यञ्जन और स्वर के बाद व्यञ्जन (अनुनासिक न् और ङ् को छोड़कर) कहीं नहीं होता। व्यञ्जनों के बाद प्रायः सभी स्वरों का प्रयोग हो सकता है। केवल च छ ञ और श के बाद सर्वदा अन्तस्थ अर्थात् इ उ ऊ (यू) रहा करते हैं। अन्तस्थों का योग अन्य व्यञ्जनों के साथ भी होता है। अन्तस्थों और स्वरों के मिलने से बाईस संयुक्त रूप बनते हैं जिन्हें आगे चलकर सारिणी में दिया है। उनके परस्पर मिलने में जो विकार होते हैं उनका भी वहीं पाद टिप्पणी में निर्देश है। ॠ का प्रयोग जहाँ होता है वहाँ यदि उससे पूर्व अनुनासिक स्वर होते हैं तो उनका अनुनासिक भाग लुप्त हो जाता है।

नागरी संकेतलिपि की रोमन संकेतलिपि से तुलना

नीचे नागरी संकेतलिपि तथा रोमन में विभिन्न संकेतलिपियों की सारिणी दी जा रही है। उसके तुलनात्मक अध्ययन से यह जानना सरल हो सकेगा कि रोमन अक्षर जिन ध्वनियों को संकेत करना चाहते हैं उनको कहाँ तक संकेत करने में समर्थ हैं और नागरी उनकी अपेक्षा कहाँ तक शुद्ध उच्चारण बिना अनेक चिह्नों के बढ़ाए भी देने में समर्थ है।

	नागरी पद्धति	फ्रेंच पद्धति	वेड पद्धति	रोमन पद्धति के चार रूप*				लातिन् पद्धति
स्वर	आ	a	a	a	ar	aa	ah	a
	ओ	o	o	o	or	oo	oh	o
	अ	e	eh	é	ér	éé	éh	
	ए	o	e	e	er	ee	eh	e
	ऐ (=आय्)	ai	ai	ai	air	ae	ay	ai
	ए' (=अइ)	ei	ei	ei	eir	eei	ey	ei
	औ (=आव्)	ao	ao	au	aur	ao	aw	ao
	ओ' (=अउ)	eou	ou	ou	our	oou	ow	ou
	आन्	an	an	an	arn	aan	ann	an
	अन	en	én	en	ern	een	enn	en
	आङ्	ang	ang	ang	arng	aang	ang	ang
	अङ्	eng	éng	eng	erng	eeng	eng	eng
	ऋ (=अर्)	eul	lrh	el	erl	eel	eél	r
	इ	y (i) / e, eu	i, yi / ih,u	i	yi	(y) ii	(y) ih	(j) i
	उ	(w)ou	(w)u	u	wu	(w)-uu	(w)uh	(w) u
	ऊ (=यू)	iu	(y) u	iu	yu	(y) eu	iuh	(j) y
सन्धि	इआ	ia	ia	io	yo	(y) eo	ioh	ia
	इओ	io	io	io	yo	(y) eo	ioh	(j)yo
	इए	ie	ieh	ie	ye	(i) ee	ieh	ie
	इऐ (=इआय्)	iai	iai	iai	yai	(y)eai	iay	iai

* यह चारों रूप विशेष स्वरों को द्योतित करने के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

नागरी पद्धति	फ्रेंच पद्धति	वेड पद्धति	रोमन पद्धति के चार रूप				लातिन् पद्धति
इऔ (=इआव्)	iao	iao	iau	yau	(y) eau	iaw	iao
इऔं (इअउ)	ieou	iu	iou	you	(y) eou	iow	iu
इआन्	ien	ien	ian	yan	(y) ean	iann	ian
इन्*	(y) in	(y) in	in	yn	(y) iin	(y) inn	(j) in
इआङ्	iang	iang	iang	yang	(y) eang	iang	iang
इङ्*	(y) ing	(y) ing	ing	yng	(y) iing	(y) ing	(j) ing
उआ	oua	ua	ua	wa	(w) oa	uah	ua
उओ	ouo	uo	uo	wo	uoo	uoh	uo
उऐ (=ऊआय्)	ouai	uai	uai	wai	(w) oai	uay	uai
उए (=उअइ)	ouei	wei, ui	uei	wei	(w) oei	uey	wei,ui
उआन्	ouan	uan	uan	wan	(w) oan	uann	uan
उन्*	ouen	wén,un	uen	wen	(w) oen	uenn	wen,un
उआङ्	ouang	uang	uang	wang	(w)oang	uang	uang
उङ्*	—	wéng	ueng	weng	(w)oeng	weng	
ऊए (=यूए)	iue	(y) ueh	iue	yue	(y) eue	iueh	(j) ye
ऊआन् (=यूआन्)	iuan	(y) uan	iuan	yuan	(y)euan	iuann	(j) yan
ऊन् (=यून्)	iun	(y) un	iun	yun	(y) eun	iunn	(j) yn
ऊङ् (=यूङ्)*	iong	iung	iong	yong	(y) eong	iong	(j) yng

* इ, उ और ऊ, यू के बाद अन् और अङ् जब आते हैं तो उनका केवल अनुनासिक भाग ही शेष रहता है।

	नागरी पद्धति	फ्रेञ्च पद्धति	वेड पद्धति	रोमन् पद्धति	लातिन् पद्धति
व्यञ्जन	प	p	p	b	b
	फ	p′	p′	p	p
	म	m	m	m (mh)	m
	फ़	f	f	f	f
	त	t	t	d	d
	थ	t′	t′	t	t
	न	n	n	n (nh)	n
	ल	l	l	l (lh)	l
	क	k	k	g	g
	ख	k′	k′	k	k
	(ङ)	ng	[ng]	[ng]	ng
	ह	h	h	h	x
	च	k (i)	ch (i)	j (i)	g (i)
	,,	ts (i)	ch (i)	j (i)	z (i)
	छ	kh(i)	ch′ (i)	ch (i)	k (i)
	,,	t′s (i)	ch′ (i)	ch (i)	c (i)
	श	h (i)	hs (i)	sh (i)	x (i)
	,,	s (i)	hs (i)	sh (i)	s (i)
	चे	tch	ch	j	zh
	छे	tch′	ch′	ch	ch

	नागरी पद्धति	फ्रेञ्च पद्धति	वेड पद्धति	रोमन् पद्धति	लातिन् पद्धति
व्यञ्जन	ष	ch	sh	sh	sh
	र	j	j	r (rh)	rh
	च़	ts	tz (ts)	tz	z
	छ़	ts'	tz' (ts')	ts	c
	स	s (ss)	s (ss)	s	s

कतिपय उदाहरण

ओ नान् (आनन्द शब्द की चीनी लिपि में अनुलिखित ध्वनि)।

इन्-तु (=भारत, हिन्दु शब्द की चीनी लिपि में अनुलिखित ध्वनि)।

मो-नि (मुनि शब्द की चीनी लिपि में अनुलिखित ध्वनि)।

मङ्-खो (प्रसिद्ध दार्शनिक जिसे रोमन में Mencius लिखते हैं)।

ता-मो (धर्मबोधि, प्रसिद्ध बौद्धभिक्षु जो चीन गए। जिनका भिक्षापात्र अब भी चीन में सुरक्षित रक्खा हुआ है)।

श्यूआन्-चुआङ् (प्रसिद्ध चीनभिक्षु और यात्री जिन्हें रोमन अक्षरों की भद्दी नक़ल के कारण ह्वेनसांग लिखा जाता है)।

चिए-शिआन् (शीलभद्र, नालन्दा के प्रसिद्ध बौद्ध पण्डित श्यूआन्-चुआङ् के गुरु)।

फ़ा-शिआन् (रोमन अक्षरों की भद्दी नक़ल के कारण इन्हें फ़ाह्यान लिखा जाता है)।

इ-चिङ् (रोमन अक्षरों की कृपासे नागरी में यह इत्सिंग होगए हैं)।

थै (=**थाय्**) **श्यू** ; **सुन्-ई-शिआन्** (Dr. Sun-yat-sen) ; **चिआङ्-चिए-ष** (Chiang Kai Shek) ; **खुङ्-च़** (Confucius) प्रसिद्ध चीनी दार्शनिक ; **लौ** (**लाव्**) **च़** (प्रसिद्ध चीनी दार्शनिक) ; **तौ** (**ताव्**) **तो-चिङ्** (लौ-च़ का दार्शनिक ग्रन्थ) ; **छुङ्-छिङ्** (Chung King चुङ्-किङ्ग) ; **खुन्-मिङ्** [कुन-मिङ्] ; **पें** (**पइ**) **चिङ्** [पे-किङ्ग] ; **शाङ्-है** (**हाय्**) [शंघाई] ; **खुन्-लुन्-शान्** ; **इआङ्-च़-चिआङ्** ; **हुआङ्-हो** ; **तुन्-हुआ**।

इन सामान्य उदाहरणों के अनन्तर कुछ अधिक परमोपयोगी उदाहरण देने के लिये चीनी

राजवंशों की एक तालिका दे देना अनुचित न होगा। इन राज्यवंशों के द्वारा ही चीनी ऐतिहासिक कालनिर्देश करते हैं अतः इनका जानना आवश्यक है :—

चँउ (११२३—२५६ ई० पू०)। छिन् (२५६—२०७ ई० पू०)।
हान् (२०७ ई० पू०—२२१ ई०)। सान् कुओ (२२१—२६५ ई०)।
उएं (उअइ) (२२०—२६४ ई०) षु (२२१—२६३ ई०)।
उ (२२२—२७७ई०)।
चिन् (२६५—४२० ई०)।
लिओं (लिअउ) छौं (छाव्) (४२०—५८७ ई०)।

सुङ् (४२०—४७७ ई०)।
छि (४७९—५०१ ई०)।
लिआङ् (५०२—५५७ ई०)।
छेन् (५५७—५८७ ई०)।

पे' (पइ) उएं (उअइ) (३८६—५४३ ई०)।
पे' (पइ) छि (५५०—५७७ ई०)।
पे' (पइ) चौं (चँउ) (५५७—५८१ ई०)।

सुएं (सुअइ) (५८९—६१८ई०)।
थाङ् (६१८—९०७ ई०)।
उ-तै (ताय्) (९०७—९६० ई०)।

लिआन् (९०७—९२१ ई०)। थाङ् (९२३—९३४ ई०)।
चिन् (९३७—९४४ ई०)। हान् (९४७—९४८ ई०)।
चौं' (चँउ) (९५०—९६० ई०)।

सुङ् (९६०—१३७८)।
लिऔ (लिआव्) (९०७—११६८ ई०)।
चिन् (१११५—१२३४ ई०)।
यूआन् (१२६०—१३६८ ई०)।
मिङ् (१३६८—१६४४ ई०)।
छिङ् (१६४४—१९१२ ई०)।
मिन्-कुओ (प्रजातन्त्र) (१९१२ ई० से—)।

अक्षक्रीड़ा और प्राणिद्यूत

हरिचरण वंद्योपाध्याय

अक्षक्रीड़ा और प्राणिद्यूत दोनों ही व्यसन हैं। मनु ने (७।४७-४८) १८ प्रकार के व्यसनों का उल्लेख किया है। जिनमें आठ कामज हैं और दस क्रोधज हैं। काम शब्द का अर्थ इच्छा है और कामज व्यसन का मूल लोभ है। चूंकि अक्षक्रीड़ा का भी मूल लोभ है अर्थात् पण और प्रतिपण रूप से लभ्य धन के उपभोग की इच्छा ही इसका कारण है, इसीलिये इसकी गणन कामज व्यसनों में है। यह व्यसन दुरन्त है अर्थात् इससे अन्त में दुःख होता है और जीतने वाले और हारने वाले के बीच बैर उत्पन्न करता है।

अक्षक्रीड़ा का इतिहास वेदों में भी पाया जाता है। ऋग्वेद के दसवें मंडल के ३४वें सूक्त में १० ऋचाएं हैं जिनका विषय अक्षक्रीड़ा है। वैदिक-युग में बहेरे का फल अक्ष-रूप में व्यवहृत होता था, इसके शारि-फलक (Dice-Board) 'इरिण' कहलाता था। सायण-भाष्य में इसके अर्थ के लिये 'आस्फार' शब्द का प्रयोग किया गया है। उक्त सूक्त की आठवीं ऋचा में 'त्रिपंचाशः क्रीड़ति व्रातः' कहा गया है, जिसका अर्थ है कि अक्ष के ५३ व्रात (संघ) सारि-फलक पर क्रीड़ा करते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि द्यूत की ५३ सभाएं थीं। जान पड़ता है कि वैदिक-युग में अक्ष-क्रीड़ा का विशेष रूप से प्रचार था। किन्तु सारे ऋग्वेद में ऐसी एक भी ऋचा नहीं है जिसमें द्यूत की प्रशंसा की गई हो बल्कि ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि द्यूत-कार समस्त धन हारकर ऋण-मुक्ति के लिये चोरी किया करते थे। इसीलिये अक्ष और अक्ष-कितव (जुआड़ी) की निंदा की ऋचाएं पाई जाती हैं। "कितव 'सभा में कौन धनी है मैं उसे पराजित करूंगा' ऐसा कहता हुआ सभा में प्रवेश करता है और विपक्षी के साथ खेलते, खेलते उसके मन में जीतने की इच्छा प्रबल होती है। अंगार के समान अक्ष-फलक ईंधन रहित सारि-फलक पर क्षिप्त होता है और यद्यपि उसका स्पर्श शीतल होता है तथापि द्यूतकार के चित्त को पराजय की अग्नि से भस्म करता रहता है। खेल में पराजित होने वाला जुआड़ी जब देश छोड़कर कहीं चला जाता है तो उसकी भार्या पति-वियोग की आग से जलती रहती है और माता भी पुत्र-शोक से दग्ध होती है। और जुआड़ी भी यह सोचकर मन में संतोष पाता है कि दूसरों की पत्नियां अच्छे गृहों में वास करती हैं और मेरी पत्नी असुंदर गृह में वास करती है।" इस प्रकार अक्ष और कितव की निंदा करने के बाद १३ वीं ऋचा में अक्ष-क्रीड़क ने

पश्चाताप के साथ अक्ष की स्तुति की है और शपथ करता है कि अब अक्ष के लिये धन का अपव्यय नहीं करेगा। परवर्ती ऋचा में इस प्रकार शपथ-पूर्वक द्यूत का परित्याग करने वाले के लिये उपदेश दिया गया है कि हे कितव, मेरी बात का विश्वास करो अब अक्ष--क्रीड़ा मत करो, खेती का आश्रय लो और उसीसे लब्ध धन पर भरोसा करो। कृषि से ही गायें प्राप्त होती हैं और पत्नी मिलती है। श्रुति-स्मृति के कर्त्ता, विश्व के प्रेरयिता उस दृष्टिगोचर ईश्वर ने ही इस धर्म-रहस्य का विविध भाव से उपदेश दिया है। अन्तिम ऋचा में कहा गया है कि हे अक्षगण, तुम हमारे साथ मित्रता करो, हमें सुखी करो और हमारे पास भीषण आकार में उपस्थित मत होओ। हमारे शत्रुओं में स्थान करो और उन्हें अपने कठिन बंधन में आबद्ध करो। इन ऋचाओं का अनुवाद असंपूर्ण है फिर भी इतना स्पष्ट है कि वैदिक-युग में अक्ष-क्रीड़ा भयंकर रूप धारण कर चुकी थी। उससे द्यूतकार की अवस्था शोचनीय हो जाती थी, उसका परिवार अनुतप्त होता था और सारा घरबार उत्सन्न हो जाता था। परवर्ती युग में भी इस प्रकार का दुष्परिणाम प्रायः ही घटा है।

महाभारत, पौराणिक कथाओं का महासमुद्र है। इसके सभापर्व में जो द्यूत-पर्व और अनुद्यूत-पर्व है उसमें पाशा-क्रीड़ा का दुष्परिणाम विस्तारपूर्वक दिखाया गया है। शकुनि के कपट द्यूत से पराजित होकर राज्य-भ्रष्ट पांडवगण बनवासी हुए थे। कुरुक्षेत्र के भीषण नरसंहार के रूप में यही व्यसन कारण बना था। निषध-राज नल, अक्ष-क्रीड़ा में ही पराजित होकर पत्नी समेत बन गए थे और नाना दुःख-क्लेश सहने के बाद अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के सारथी बने थे।

याज्ञवल्क्य-संहिता के व्यवहाराध्याय में द्यूत समाह्वय नाम का एक प्रकरण है। इसका विषय है द्यूत और समाह्वय। निर्जीव पाशादि से खेलने वाली क्रीड़ा को द्यूत कहते हैं। इसमें जिस द्यूत का वर्णन है उससे जाना जाता है कि द्यूत में जीते हुए पण में राजा का हिस्सा होता था और सभिक अर्थात् जुआ खेलाने वाला धूर्त कितवों से रक्षा करने के लिये प्राप्य पण दिया करता था। जो लोग कपट-पूर्वक या धोखा देने के लिये मंत्र या औषधि की सहायता से जुआ खेला करते थे उन्हें राजा श्वपद आदि चिन्हों से चिन्हित कर के राज्य से निर्वासित कर दिया करते थे। द्यूत-सभा में चोरी न हो इसके लिये राजा की ओर से एक अध्यक्ष नियुक्त हुआ करता था। मेष, महिष, कुक्कुट आदि द्वारा प्रवर्तित पण या शर्त बदकर जो क्रीड़ा हुआ करती थी उसे समाह्वय या समाह्वय नामक प्राणिद्यूत कहा करते थे (याज्ञवल्क्य २,१९९—२००)। दो मल्लों या पहलवानों की कुश्ती को भी समाह्वय कहते थे। नल राजा ने अपने भाई पुष्कर को राज्य का पण या दाव रखकर जो युद्ध-द्यूत के लिये आह्वान किया था उसे भी समाह्वय के अंतर्गत माना गया है (मनु ९. २२३—२२४)।

कविकंकण चंडी में शिव-गौरी के विवाह के बाद उनके आपस के द्यूत का वर्णन है जिसमें शिव को अपनी सिद्धि की झोली और अपना व्याघ्रचर्म भी हारना पड़ा था। मनसा-मंगल में बिहुला और लक्ष्मीन्दर के विवाह में जो पाशा खेलने का वर्णन है वह शिष्टाचार मात्र है। उसमें पण नहीं रखा जाता है। वर-वधू में कौड़ी खेलने का जो रस्म है उसमें पण नहीं रखा जाता। आश्विन की कोजागर-पूर्णिमा को द्यूत-पूर्णिमा कहा जाता है, उसमें भी पण नहीं रखा जाता। वह रात में जागने का एक साधन मात्र है। नहीं तो यदि पण रखकर द्यूत खेला जाय तो लक्ष्मी के बदले अलक्ष्मी ही आती हैं।

बंगाल में बहुत पहले प्रेमारा नाम का जो खेल प्रचलित था वह पोर्चुगीजों से मिला था। अनेक धनी-मानी इसके नशा में अपना सब कुछ खो चुके थे। भाड़े पर इसके खेलनेवाले बुलाए जाते थे। आजकल डाइस, ताज़ निशान आदि खेल जो प्रचलित हैं वे प्राचीन अक्षक्रीड़ा के ही रूपान्तर हैं और रेस खेलना, अफ़ीम के खेला, जल के खेल प्राणिद्यूत विशेष हैं। इनको भी मादकता अजीब है। बारबार हारकर भी लोग इससे विरत नहीं होते।

यद्यपि वेदों में अक्षक्रीड़ा का इतिहास पाया जाता है पर पंडितों में इस विषय में मतभेद हो है कि इस क्रीड़ा का मूल स्थान कहां है। कुछ लोगों का मत है कि मानवजाति की उत्पत्ति के साथ ही साथ यह खेल भी अवतरित हुआ है, पुराने समय में लोग शिलाखण्ड पर ही यह क्रीड़ा कर लेते थे। प्राचीन समाधि स्थानों को खोदने से जो बहुत से अक्ष प्राप्त हुए हैं उनपर से कुछ दूसरे पंडित अनुमान करते हैं कि प्राच्य महादेश ही इस खेल का मूल स्थान है। वेदों से इस दूसरे मत का समर्थन ही होता है। ग्रीस और रोम में यह क्रीड़ा बहुत प्रचलित थी। रोम के लोग तो इसके विशेष शौक़ीन थे। हाथी दाँत के बने हुए तथा स्वर्णखचित स्फटिक-निर्मित अक्ष से वे खेला करते थे। कई कई रात तक लोग अक्षक्रीड़ा के आसन पर जमे रहते थे। राजदंड का भय होने पर भी इस क्रीड़ा का उन्माद कम नहीं हुआ था। कभी कभी घर पर निमंत्रित अक्षद्यूतों से अपमानित होने पर भी लोग राजसभा में अभियोग नहीं करते थे। भित्तिचित्रों में अक्षव्यसनी गृहस्थों के अनेक प्रकार के चित्र वहां अंकित पाए गए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक युग से लेकर अब तक जिस प्रकार भारतवर्ष के सभी श्रेणी के लोगों में अक्षक्रीड़ा का प्रचलन है उसी प्रकार पश्चिमी देशों में भी रहा है। डाइस आदि के लिये जिस प्रकार की षट्‌तल गोटियां इस समय प्रचलित हैं उसी प्रकार हाथी के दांत या धातु की बनी हुई गोटियों का वर्णन वहां के पुराने साहित्य में पाया जाता है।

चीन में बौद्ध धर्म के प्रवेश की दन्तकथाएं

दिवाकर उपाध्याय (उ शिऔ-लिङ्)

बौद्ध धर्म का चीन में कब प्रवेश हुआ, इस विषय में हमें चीनी ग्रन्थों से कितने ही प्रमाण मिल सकते हैं पर उनपर भरोसा बहुत ही कम किया जा सकता है। मेरे विचार से उन्हें प्रमाण न कहकर प्रवाद या दन्तकथा कहना कहीं ज्यादा अच्छा है। मैं कालक्रम से उन प्रवादों को जो चीन में बौद्ध धर्म के प्रवेश की ओर संकेत करते हैं, एक जगह सजाकर जाँच-पड़ताल करूंगा और बाद में उन बातों की ओर सङ्केत करूंगा कि क्यों इस विषय में बहुत से प्रवाद उठ खड़े हुए। यह संभव है कि इस लेख में मैं जिन परिणामों पर पहुँचूंगा वे उतने ठोस न हो सकें फिर भी इस लेख से इतना तो समझा ही जा सकेगा कि चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश कब नहीं हुआ। और मैं इतना ही भर पाठकों को भेंट कर रहा हूं।

(१) **शिआ-यू काल** (२२९७-२१९९ ई० पू०)

चुङ्-पिङ् (४२०-४७६ ई०) के लिखे मिङ्-फ़ो-लुन् ग्रन्थ के हिसाब से बौद्ध धर्म चीन में बहुत ही पुराने समय में पहुंच चुका था। उसमें कहा गया है: "इ द्वारा लिखित षान्-हाय् (=गिरि सिन्धु) सूत्र में **थिआन्-तु** देश और मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम और करुणा करने का ज़िक्र है। इस पर कुओ-फु ने टीका करते कहा है: पुराने समय में थिआन्-चु को थिआन्-तु कहते थे जिस में कि बुद्ध ने अवतार लिया था। तथा प्रेम और करुणा का अर्थ है— महाकारुणिक तथागत की शिक्षा जिनका समय बहुत पुराना है। गिरि-सिन्धु सूत्र के बारे में कहा गया है कि वह यू-इ के समय (२२९७-२२०५ ई० पू०) की रचना है। इसलिये चुङ्-पिङ् के मतानुसार थिआन्-तु देश और मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम और करुणा के प्रमाणित करने का अर्थ तथागत की शिक्षाओं से है और उसीके आधार पर पक्के तौर पर उसका निर्णय है कि बहुत पुराने समय अर्थात् २२९७-२१९९ ई० पू० में तथागत की शिक्षाएं चीन पहुंच चुकी थीं।

पर इसमें सचाई बिल्कुल नहीं है। पहले पहल गिरि-सिन्धु सूत्र का ज़िक्र स-मा-छिआन् के इतिहास के १२३ वें अध्याय में मिलता है। उसका कथन है कि—षाङ्-षु ग्रन्थ में नवद्वीपों के पर्वत और नदियों के बारे में जो पुरानी बातें हैं उनपर कुछ कुछ विश्वास किया जा सकता है पर षान्-हाय् (=गिरि-सिन्धु)-सूत्र तथा यू-पन्-चि * ग्रन्थों में जिस प्रकार की अजीब बातें हैं

* इस स्थान पर स-मा-छिआन् के शब्दों का क्रम यों है: 'यू-पन-चि-षान्-हाय्'।

उनके कहने की हिम्मत नहीं की जा सकती। यह सचमुच एक इतिहास का रुझान है। जिनको वह नहीं जानता उनके बारे में नहीं बोलता। जिनका उसको विश्वास नहीं उनको वह दर्ज नहीं करता। उसने यहां पर दो इतिहास-ग्रन्थों का नाम लिया है पर वे ग्रन्थ कब लिखे गए और उनका लिखने वाला कौन है, इस बारे में वह बिल्कुल चुप है। पर बाद के लोगों ने स-मा-छिआन् के यू-पन्-चि-षान्-हाय् शब्दों की एक अनोखी व्याख्या कर डाली: यू = यू नामक राजा पन्-चि=मूल लेखक है षान्-हाय् = गिरि-सिन्धु सूत्र का। एवं इस व्याख्या से यू को षान्-हाय् के लेखक होने का गौरव ज़रूर मिला पर उआङ्-छुङ् (२७-९७ ई०) ने अपने ग्रन्थ लुन्-हुङ् (तर्क-समीक्षा) के तेरहवें अध्याय परमत-समीक्षा में इस बात की जांच करते हुए यों कहा है: यू और इ दोनों व्यक्तियों में से यू का काम बाढ़ को क़ाबू में लाना है और इ का काम अद्भुत बातों को लिखना है। समुद्र और पर्वतों से परे बहुत दूर जाकर उसने जो कुछ देखा सुना उन्हींको उसने षान-हाय् सूत्र में लिखा है। उआन्-छुङ् का समय स-मा-छिआन् के बहुत बाद का है पर मालूम होता है कि पुराने इतिहास के बारे में वह स-मा-छिआन् से अधिक ब्योरेवार जानता है। इसलिये उसने इतिहास में जो लोग ग़लत पढ़ते चले आ रहे थे कि 'षान्-हाय् को यू ने लिखा' उसको उसने ठीक किया और कहा कि षान्-हाय् का लेखक इ था न कि यू। चाहे यू हो या इ, दोनोंमें किसीके पीछे नहीं चला जा सकता।

चीनी पुरातत्त्वज्ञों ने खुदाई करके अक्षर खुदे कछुओं के खपटों और पशुओं की हड्डियों को ढूँढ़ निकाला है। जिसके फल स्वरूप प्रागैतिहासिक काल के विशेषज्ञों का षाङ् काल (१७८३-११३५ ई० पू०) के इतिहास के बारे में अनुसन्धान अँधेरी घाटियों और गुफ़ाओं से हटकर प्रकाश के मार्ग में आ चुका है पर शिआ काल (२२०५-१७६७ ई० पू०) का इतिहास फिर भी एक पहेली बना हुआ है, हम उसे केवल पुराण के तौर पर ही पढ़ते हैं। शिआ—काल के पहले सम्राट् हुआङ्-ती और बाढ़ पर क़ाबू पाने वाले यू की सत्ता चीन के इतिहास में एक बहुत बड़ी बात है। इंजील के प्राचीन सुसमाचार के अनुसार नूह, देवता की शक्ति से बनी चौकोनी नाव के द्वारा बाढ़ से बचाव कर पाता है पर यू मानवशक्ति से ही बाढ़ को शान्त करता है। जो कुछ भी हो यह सब पौराणिक बातें ही हैं। स्वर्गीय तिङ्-उन्-चियाङ् अच्छे भूगर्भशास्त्री थे। उन्होंने वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा जिस सिद्धान्त को प्रमाणित किया है उससे इनकी सत्ता को सिद्ध करना असम्भव ही है। इसलिये यू और इ दोनों ही चीन के इतिहास के पौराणिक उपाख्यान ही हैं। पुराने लोगों के धार्मिक कृत्यों में वे मनुष्य रूप में चित्रित देवता ही हैं। वे कभी थे या नहीं, यही एक समस्या बनी हुई फिर वे ग्रन्थ के लेखक कैसे हो गए?

षान्-हाय् सूत्र की भाषा गम्भीर और प्राञ्जल है। उसकी रचना दार्शनिक ग्रन्थ के समान है। उसकी शैली हान् राज्य के गद्य जैसी है। सचमुच ही वह बाद की रचना है। यदि मान भी लें कि यू और इ सचमुच ही कभी हुए थे तो यह तो मानना ही पड़ेगा कि उनकी सभ्यता ऐसी न थी कि इस ढंग की पोथी लिख सकते। और यह भी यदि मान लें कि यू और इ इस ढंग की पोथी लिख सकते थे तो यह कैसे माना जा सकता है कि वे आज से चार हज़ार बरस पहले से ही जानते थे कि बुद्ध होंगे और बुद्ध के जन्म से पहले ही बौद्ध धर्म चीन पहुंच चुकेगा। सचमुच यह बहुत उपहासास्पद है।

षान्-हाय् सूत्र में भारत से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत अधिक सामग्री है। इसलिये मेरी राय में उसके लिखे जाने का समय च्चाङ्-छिआन् के फ़ारस से लौटने के बाद (१२२ ई० पू०) तथा स-मा-छिआन् के इतिहास (९७ ई० पू०) से पहले है। चीन और भारत में नियमित सम्बन्ध होने से पहले यह पोथी नहीं लिखी जा सकती थी। अब हमें चुङ्-पिन् के उस उद्धरण को पढ़ना है जो कि षान्-हाय् सूत्र में है : पूर्व समुद्र के बीच और दक्षिण समुद्र के किनारे देश हैं जिनके नाम कोरिया और भारत हैं। वहां के लोग पानी में रहते हैं। वे हैं करुणावाले लोग, प्रेमवाले लोग। यह उद्धरण षान्-हाय् सूत्र के हाय्-नइ सूत्र में है। २६ ई० पू० में जब लिअउ-शिन् ने षान्-हाय् सूत्र उ-ति सम्राट् के पुस्तकालय को भेंट दिया तब उसमें सिर्फ १८ अध्याय ही थे जिनमें हाय्-नइ की गिनती नहीं है। षान्-हाय् सूत्र स्वयं ही बहुत पीछे की रचना है और हाय्-नइ सूत्र तो और भी बहुत बाद उसमें जोड़ा गया है। खैर, यह सब छोड़ भी दें तो जिसे भूगोल का साधारण ज्ञान भी नहीं है और दर्ज कर रहा है कि कोरिया और भारत एक ही जगह पर पूर्व और दक्षिण समुद्र में हैं उसपर और अधिक कहा भी जाए तो क्या !

(२) चेउ-मु-काल (१००१-९४७ ई० पू०)

सान्-कुओ (२२०-२६४ ई०) काल के शिए-छेङ् ने अपने हउ-हान् ग्रन्थ में दर्ज किया है कि बुद्ध चेउ-चुंआङ् सम्राट् के मेष नामक नवें बरस (६८८ ई० पू०) के सातवें महीने की १५ वीं तिथि को शुद्धोदन महाराज की रानी माया के गर्भ में आए और उक्त सम्राट् के १० वें व्याघ्र नामक वर्ष (६८७ ई० पू०) के चौथे महीने ८ वीं तिथि को उत्पन्न हुए क्योंकि उस वर्ष ध्रुव का लोप हो गया था जो कि महापुरुष के जन्म का लक्षण है।[१] चीन में यह पहली और पुरानी पोथी है जिसमें बुद्ध जन्म के वर्ष और मास का उल्लेख है। सचमुच चुंआङ् सम्राट् का दसवां

१. चीनी अनुश्रुति के अनुसार जब कोई महापुरुष उत्पन्न होने को होता है तब ध्रुव का लोप हो जाता है।

वर्ष व्याघ्र नहीं है और आधुनिक पण्डितों की खोज के फलस्वरूप बुद्ध का जन्म अवश्य ही उक्त तिथि के बाद का है। बाद में हम देखते हैं कि ताव् धर्म के लोग कहते हैं कि लाव्-च ने बुद्ध को शिक्षा दी और इस बात को लेकर बौद्ध और ताव् धर्मानुयायियों में वादविवाद होता है। बौद्ध और ताव्धर्मी दोनों ही अपनेको प्राचीन सिद्ध करने के लिये एक दूसरे से झगड़ते हैं।१ और जान पड़ता है इसीलिये बुद्ध और लाव्-च के जन्म वर्ष को ज्यादा से ज्यादा पुराना सिद्ध करने की कोशिश की गई है। और साथ ही साथ इन दोनों ऋषियों के जन्म की पौराणिक कथाएं लम्बी-चौड़ी और अद्भुत होती गई हैं। बौद्ध, बुद्ध का जन्म माता के पार्श्व से होना बताते हैं। और ताव् धर्मी लाव्-च के बारे में वैसी ही बात कहते हैं। यह दोनों बातें आकस्मिक ही नहीं हैं बल्कि जान बूझकर मतलब से खड़ी की गई हैं। इसी लये चेउ-षु-इ-चि२; मु-थिआन्-च-पिए-चुआन्,३ हान्-फ़ा-पइ-नइ-चुआन् सबके सब ग्रन्थ, बुद्ध के जन्मवर्ष को पीछे चेउ-चाव् सम्राट् के समय (१०५२-१००२ ई० पू०) तक ले जाते हैं। बिना किसी सन्देह के यह सबके सब ग़लत हैं पर इस प्रकार की मनगढ़न्त और झूठी बातों की तह में इतिहास छिपा है और वे उस पुराने समय में खास क़िस्म का प्रचार करने के लिये गढ़ी गई हैं। यहां अनुत्तर धर्म (=एक चीनी भिक्षु) को उदाहरण के तौर पर उद्धृत करना चाहता हूं :—

"दक्षिणी उअइ-चेङ्-कुआङ् के पहले वर्ष (५२० ई०) मिङ्-ति महाराज के राज्याभिषेक के समय सब अपराधी क्षमा कर दिए गए। उस समय बौद्ध और ताव् दोनों धर्मों के आचार्य राजमहल में बुलाए गए थे। दान के बाद महाराज ने भिक्षुओं से कहा कि आप लोग ताव् धर्म के आचार्यों से शास्त्रार्थ करें। उस समय ताव धर्म के छिङ्-छुङ् मन्दिर के महन्त चिआङ्-पिङ् और भदन्त अनुत्तरधर्म के बीच शास्त्रार्थ हुआ महाराज ने पूछा कि बुद्ध और लाव् च एक ही समय के हैं या नहीं? चिआङ्-पिङ् ने कहा: लाव्-च पच्छिम गए और एक बर्बर को शिक्षित किया, वही बुद्ध हुआ। बुद्ध इस तरह लाव्-च का शिष्य है। यह लेख लाव्-च के खाय्-थिआन् सूत्र में हैं। इसके अनुसार यह स्पष्ट ही है वे एक ही समय के हैं। अनुत्तरधर्म ने पूछा

१. लुप्त ग्रन्थ, इसके उद्धरण उअइ-षउ लिखित उअइ-षु का ग्रन्थ में हैं।

२. यह भी लुप्त ग्रन्थ है, इसके उद्धरण सुअइ राज्य में हुए फइ-छाङ्-फाङ् लिखित लि-ताय्-सान्-पाव्-चि में हैं।

३. यह भी लुप्त ग्रन्थ है इसके उद्धरण थाङ्-काव्-चुङ्-लिन्-तो के पहले वर्ष ६६४ ई० में भदन्त ताव्-श्यूआन् लिखित कुआङ्-हुङ्-मिङ्-चि में है।

कि लाव्-च् किस राजा के समय उत्पन्न हुए और कब पच्छिम गए। चिआङ्-पिन् ने कहा महाराज चेउ-तिङ् के तीसरे बरस (६०४ ई० पू०) के नवें महीने की चौदहवीं तिथि को लाव्-च् का जन्म हुआ और चिआन् महाराज के चौथे बरस (५८२ ई० पू०) में वे राजकीय पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। और चिङ् महाराज के पहले बरस (५१९ ई० पू०) बर्बर की शिक्षा देने पच्छिम गए। संक्षेप में कही यह बात बहुत साफ़ है। अनुत्तर धर्म ने कहा बुद्ध चेउ-चाव् महाराज के चौबीसवें बरस (१०२९ ई० पू०) के चौथे महीने की आठवीं तिथि को उत्पन्न हुए और मु महाराज के बाईसवें बरस (९५० ई० पू०) के दूसरे महीने की पन्द्रहवीं तिथि को निर्वाण को प्राप्त हुए। निर्वाण से ३४५ बरस बीतने पर तिङ् महाराज के ठीक तीसरे बरस (६०४ ई० पू०) लाव्-च् उत्पन्न हुए। लाव्-च् को पैदा हुए ८५ बरस बीतने पर चिङ महाराज का पहला बरस होता है। इस तरह बुद्ध-निर्वाण के ४३० बरस बीतने पर वह पच्छिम गए। बरसों का यह हिसाब एक दूसरे से इतना भिन्न है, क्या यह ग़लत नहीं है? चिआङ्-पिन् ने कहा,—"तथागत के बारे में यह कथन किस ग्रन्थ से आया है?" अनुत्तरधर्म ने कहा,—"चेउ-षु-हु-चि और हान्-फ़ा-पन्-नइ-चुआन् दोनों में साफ़ ब्योरा है।"

इस उद्धरण के पढ़ने से हमें जान पड़ता है कि पइ-उअइ राज्य में चेउ-षु-इ-चि की पोथी मौजूद थी। दुःख है कि यह पोथी अब विलुप्त हो चुकी है और उसके भीतर का हाल नहीं जाना जा सकता पर भदन्त धर्मरत्न (=फ़ा-लिन्) ने थाङ्-काव्-चु-उं-ती के पांचवें बरस (६२२ ई०) में फो-शिए-लुन् (पाखण्डखण्डनशास्त्र) नाम की पोथी लिखी है जिसमें उन्हों-ने चेउ-षु-इ-चि का एक अंश उद्धृत किहा है वह यों है: "चेउ-चाव् महाराज के चौबीसवें बरस के चौथे महीने की आठवीं तिथि को नदी, चश्मे और झीलें अकस्मात् उमड़ चलीं, कुओं का पानी भी उफना चला। घर, महल, पर्वत, समुद्र, धरती सबके सब हिल गए। उस रात को पँचरंगो प्रकाश नीचे से ऊपर की ओर तारों को छेदता हुआ प्रकट हुआ। समूचे पच्छिम की ओर नील-लोहित रंग पूरी तरह फैल गया। चाव महाराज ने ज्योतिषियों में से सु-इअउ ज्योतिषी से पूछा कि यह किस बात का लक्षण है। सु-इअउ ने कहा पच्छिम में एक महर्षि उत्पन्न हुए हैं, यह उसीका लक्षण है। एक हज़ार बरस बाद इनका नाम और इनकी शिक्षा इस भूमि पर फैल जाएगी। चाव् महाराज ने इस बात को पत्थर पर खोद देने के लिये आदमी भेजे। महाराज मुके २२ वें वानर नामक बरस (९५० ई० पू०) के दूसरे महीने की १५ वीं तिथि को सबेरे तूफान आया। घरों को उखाड़ दिया। वृक्षों को तोड़ दिया। पर्वत, समुद्र, धरती सबके सब हिल गए। मध्याह्न के बाद आकाश में काले बदल छा गए। पच्छिम की ओर बारह सफेद इन्द्रधनुष उगे और दक्खिन से उत्तर को सारी रात बने रहे। मु महाराज

ने अपने ज्योतिषी हु-नुओ से पूछा कि यह किस बात का लक्षण है। उसने उत्तर दिया पच्छिम में एक महर्षि का परिनिर्वाण हुआ है। यह उनके तिरोभाव का लक्षण है। जब मु महाराज ने यह बात सुनी तो वह बहुत प्रसन्न हुए और बोले कि मैं सदा डरता था कि वह आएगा। अब वह मर गया। मैं फिर किस बात के लिये दुःख करूँ।

इस तरह ज्योंही बुद्ध उत्पन्न हुए और ज्योंही उनका परिनिर्वाण हुआ, चीनी लोगों को तुरन्त मालूम हो गया। इसीसे यह प्रमाणित हो जाता है कि चेउ-बु-इ-चि एक मिथ्या ग्रन्थ है। अनुत्तरधर्म की आत्मकथा से पता चल जाता है कि उसने चे-बु-इ-चि को चिंआङ्-पिन का प्रत्याख्यान करने के लिये उद्धृत किया है। इसीसे हमें यह ज्ञान मिल जाता है कि उसके मूल में छल है। अनुत्तरधर्म से पहले किसीने भी चेउ-बु-इ-चि को उद्धृत नहीं किया। इतने से हम समझ सकते हैं कि यह ज़रूर हो लिअउ-छीव् के समय (४२०-५८२ ई०) की रचना है। चेउ-बु-इ-चि का लुप्त हो जाना भी बतलाता है कि वह कोई मूल्यवान् कृति न थी। कुआङ्-हुङ्-मिङ्-चि तथा श्यू-काव्-सङ्-चुंआन् के लेखक ताव्-श्यूआन् ने एक निबन्ध लिखा है जिसका नाम कान्-इङ्-चि है। उसमें कहा गया है कि छिन्-मु-कुङ् के काल (६२४ ई० पू० के लगभग) में एक बुद्ध प्रतिमा मिली थी। मु-कुङ् ने उस प्रतिमा को विकृत कर डाला था जिससे वह बीमार पड़ गया था। तब उसने इअउ-यू ज्योतिषी से पूछा था कि मेरी बीमारी का क्या कारण है। इअउ-यू ने मु-कुङ् से कहा : "चेउ-मु महाराज के समय (१००१-९४७ ई० पू०) एक ऋषि आए थे जिनका नाम भगवान् बुद्ध था। मु महाराज ने उनके उपदेश देने के लिये एक वेदिका बनवाई थी। जब मु-कुङ् ने यह सुना तब उसने भी सुगन्ध जलाकर, वन्दनाकर, प्रतिमा को ठीक किया और वेदिका बनाई।" ताव्-श्यूआन् ने जो यह कहा है कि चेउ-मु-महाराज के समय एक ऋषि आए थे वह सचमुच **लिए-च** के तीसरे भाग से नक़ल किया गया है। पर लिए-च् में केवल इतना ही लिखा है : "चेउ-मु महाराज के समय सुदूर पच्छिम के देश से एक ऋषि आए……मु महाराज उनका देवता की तरह आदर करते थे।" पर यहां यह नहीं कहा गया है कि वे ऋषि भगवान् बुद्ध थे। महाराज चेउ-मु और मु-कुङ् के बीच तथा सु-इअउ और इअउ-यू के बीच ४०० वर्ष का अन्तर है। पर नाम वही (=मु, मु, इअउ, इअउ) हैं। कथा भी वही है। सचमुच यह बड़ी अद्भुत बात है। इससे जाना जा सकता है कि छिन्-मु-कुङ् की कथा गढ़ ली गई है। और जिस आदमी ने यह कहानी गढ़ी वह है ताव्-श्यूआन्। उसने यह कथा इसलिये गढ़ी कि वह प्रतिपादित करना चाहता था कि महाराज चेउ-मु के समय (१००१-९४७ ई० पू०) बौद्ध-धर्म चीन में प्रविष्ट हो चुका था। साथ में वह यह भी प्रतिपादित करना चाहता था कि चीनी ग्रन्थों के हिसाब से बुद्ध के जीवन में ही उनके निर्वाण से पहले ही बौद्ध धर्म का चीन में प्रवेश

हो चुका था और वह यह भी प्रतिपादित करना चाहता था कि चीनी भिक्षुओं के मत के हिसाब से बौद्ध-धर्म चेउ-राज्य (११३४-२५६ ई० पू०) के आरम्भ में ही चीन में दाखिल हो चुका था। पर चीनी भिक्षुओं ने इस प्रकार का मत क्यों बना रक्खा था। कारण बहुत ही साफ़ है। भिक्षु लोग धर्म की रक्षा करना चाहते थे। और चीन में जिस प्रमुख एवं प्रधान कारण से बौद्ध धर्म का विरोध किया जा रहा था वह था वहां के लोगों में जमा हुआ यह विश्वास कि 'यदि बौद्ध धर्म यहां रहा तो राज्य बहुत दिन तक न टिकेगा।' चूंकि चेउ राज्य का काल ८०० वर्ष से अधिक है और चीनी इतिहास में यह वह राज्य है जो सबसे अधिक दिनों तक टिका। इसलिये यदि यह कहा जाए कि बुद्ध चेउ राज्य के आरम्भ में हुए और उसी समय बौद्ध धर्म चीन में प्रविष्ट हुआ तो उन विरोधियों का मुंह बंद किया जा सकता है जो कहते थे कि 'यदि बौद्ध धर्म यहां रहा तो राज्य बहुत दिनों तक न टिकेगा।' भदन्त धर्मरत्न (फ़ा-लिन्) ने थाङ्-काव्-चु-उ-तो के पाँचवें बरस (६२२ ई०) में फो-शिए-लुन् लिखा है। उसमें कहा गया है: "चेउ राज्य के अत्यन्त प्राचीन समय में बौद्ध धर्म चीन में आया। आंख के अन्धे ही कहते हैं कि बौद्ध धर्म के रहने से राज्य बहुत दिनों तक नहीं टिकतो। यह बहुत ही दयनीय बात है।" भदन्त धर्मरत्न ने फु-इ के ग्रन्थ शाङ्-फ़इ-फ़ो-सङ्-पियान् (=बुद्ध और संघ का बहिष्कार) के प्रत्याख्यान करने के लिये ही फो-शिए-लुन् लिखा है। फु-इ ने मुख्य कारण यह पेश किया है: 'यदि बौद्ध धर्म रहा तो राज्य बहुत दिनों तक न टिकेगा।' फु-इ ने यह कारण थाङ् वंश के पहले सम्राट् काव्-चु को सुझाया जो अपने राज्य को चिरजीवी बनाना चाहता था। सचमुच इस सुझाव से बौद्ध धर्म और भिक्षुओं के लिये एक बड़ा खतरा पैदा हो गया था। भला जब भिक्षुओं के वध की नौबत आ पहुंची थी, मठों के गिराए जाने का खतरा उपस्थित हो उठा था तब यह कैसे संभव था कि वे यह न कहते कि बौद्ध धर्म चेउ राज्य के आरम्भ में ही चीन में प्रविष्ट हो चुका था और यह वह राज्य है जो चीन में सबसे अधिक दिनों तक ठहरा। और ऐसा कहने के लिये यह ज़रूरी था कि बुद्ध की जन्मतिथि को अधिक से अधिक प्राचीन कहा जाता। यही है इस सारे रहस्य की परम्परा।

पर सबसे ज्यादा तरस खाने की बात यह है। 'बुद्धिमान की हज़ार सूझों में एक आध ग़लत हो ही जाती है'। भदन्त धर्मरत्न का यद्यपि यह मत है कि बौद्ध धर्म चीन में चेउ-मु महाराज के समय में प्रविष्ट हुआ पर अपने फो-शिए-लुन में उन्होंने चेउ-षु-इ-चि को उद्धृत किया है। "जब मु महाराज ने यह सुना कि बुद्ध का परिनिर्वाण हो गया तो वह बहुत प्रसन्न हुआ और बोला, मैं सदा डरता था कि वह आएगा। पर अब वह मर गया है। मैं फिर किस बात के लिये दुःख करूँ।" यह साफ़ ही प्रमाणित करता है कि मु महाराज के समय बौद्ध धर्म चीन में

नहीं प्रविष्ट हुआ था। सचमुच उनका यह उद्धरण उन्हींके विरुद्ध पड़ गया और मुझे अवसर मिल गया है कि मैं उन्हींको बात से उनके मत का खण्डन करूँ।

(३) खुङ्-च् काल (५५१-४७९ ई० पू०)

लिए-च् के चौथे अध्याय के पहले अनुच्छेद में कहा है ; "षाङ् देश के महामात्य खुङ्-च (उपनाम मु) से मिलने आए और बोले मु ! क्या तुम ऋषि हो। खुङ्-च् ने कहा मु ऋषि कैसे हो सकता है पर मु बहुश्रुत और बहुज्ञ है। षाङ् देश के महामात्य ने फिर पूछा तीन (सुअइ-रन्, फु-शि षन्-नुङ्) महाराज ऋषि थे। खुङ्-च् ने कहा तीनों महाराज सुकृती, विज्ञ और वीर थे। मु नहीं जानता कि वे ऋषि थे या नहीं। उसने फिर पूछा पांच महाराज (हुआङ्-ती, चुंजान्-श्यू, खु, इअव्, बुन्) ऋषि थे। उन्होंने उत्तर दिया पांचों महाराज सुकृती, कारुणिक और परोपकारी थे। मु नहीं जानता कि वे ऋषि थे या नहीं। उसने फिर पूछा कि तीन सम्राट् (थिआन्-हुआङ्, ति-हुआङ्, रन्-हुआङ्) ऋषि थे। खुङ्-च् ने कहा वे सुकृती और कालज्ञ थे। मु नहीं जानता कि वे ऋषि थे या नहीं। षाङ् देश के महामात्य ने अत्यन्त चकित होकर पूछा पर ऋषि कोई है, या हुआ भी है। (यह सुनकर) खुङ्-च् के चेहरे पर विचार की रेखाएं दौड़ गईं और वे कुछ क्षणों तक पशोपेश में पड़े रहे फिर बोले, पच्छिम के लोगों में एक ऋषि हैं वे शासक नहीं हैं फिर भी वहां अराजकता नहीं है। वे अपने लिये कुछ नहीं कहते पर लोग उनपर श्रद्धा करते हैं। वे सिखाने के फेर में नहीं पड़े पर लोग अपने आप सुधर चले। वे इतने महान् हैं कि उन्हें शब्दों में नहीं कहा जा सकता। मु का ख्याल है, शायद वे ऋषि हैं पर पता नहीं कि सचमुच वे ऋषि हैं या नहीं। षाङ् देश के महामात्य ने मन में सोचा खुङ्-च् ने मुझे खूब झांसा दिया है।"

थाङ् राज्य के बौद्ध और भिक्षु सदा इस अनुच्छेद को उद्धृत करते रहे हैं और कहते रहे हैं कि खुङ्-च् ने जो कहा है कि पच्छिम के लोगों में एक ऋषि हैं, उससे उनका अभिप्राय बुद्ध से है। इस तरह खुङ्-च् बुद्ध को ज़रूर जानते थे और बौद्ध धर्म उनके समय में ज़रूर ही चीन पहुँच चुका था। यहाँ अचरज की बात तो यह है कि लिअउ-छाव् (४२०-५८७ ई०) का समय जो ठीक बौद्ध और ताव् धर्मियों के बीच भयानक संघर्ष का था उस समय भी बौद्धों का जब भी अबौद्धों से वाद-विवाद हुआ या उन्होंने कोई ग्रन्थ लिखा और उसमें खुङ्-च् और बुद्ध के संबन्ध में जब भी कुछ कहा उन्होंने कभी लिए-च् को उद्धृत नहीं किया। उअइ राज्य में अनुत्तरधर्म और चिआङ्-पिन् का जो शास्त्रार्थ हुआ उसमें चिआङ्-पिन् ने पूछा था "खुङ्-च् धर्मर्षि थे वे बुद्ध को ज़रूर जानते थे पर उन्होंने बुद्ध के बारे में कुछ क्यों नहीं कहा।"

अनुत्तरधर्म ने भी अपने उत्तर में लिए-च् के उक्त परिच्छेद का ज़िक्र नहीं किया। लिअउ-सुङ् के समय चुङ्-पिन् ने मिङ्-फ़ो-लुन् लिखा। उसने उसमें खुङ्-च् और बुद्ध के सम्बन्ध की बात नहीं कही है। उसने अपने एक पत्र में जो उसने हो-छेङ्-थिआन् को लिखा था, कहा है: खुङ्-च् ने बुद्ध के बारे में कुछ नहीं कहा। तुङ्-हान् राज्य के अन्तिम (१६४—२१९ ई०) समय में मो-च् ने लि-हो-लुन लिखा उसमें इस बात का प्रसंग आया है कि इआङ्-चुङ्, चेउ-छुङ् और खुङ्-च् बौद्ध धर्म की जानकारी रखते थे या नहीं? पर इस मौके पर भी जब इस प्रश्न को सुलझाने की सामग्री लिए-च से मिल सकती थी कहीं भी मो-च् ने उसको उद्धृत नहीं किया। इससे हम जान सकते हैं कि वह एक परवर्ती रचना है। कुछ लोगों का कहना है कि चिन् राज्य (२६५—४१९ ई०) में उसकी रचना हुई पर मेरे ख्याल से वह और भी बाद की रचना है। जो भी हो यदि हम कहें कि लिए-च् ग्रन्थ तुङ्-चेङ् (७७०—२४७ ई० पू०) राज्य के समय लि-यू-खउ ने लिखा तो उसपर कोई विश्वास नहीं कर सकता। दूसरी बात यह कि खुङ्-च् का एक एक अक्षर, उनका एक एक काम, उनके शिष्योंने लिख छोड़ा है पर उस संग्रह में न तो बुद्ध के बारे में कोई बात है और न उन पच्छिम के लोगों के बारे में कुछ कहा गया है जिनका कि लिए-च् ने ज़िक्र किया है। खुङ्-च् और बुद्ध का समय एक ही है। बुद्ध उनसे छः बरस पहले उत्पन्न हुए थे और खुङ्-च का बुद्ध के महापरिनिर्वाण से एक बरस पहले ही देहावसान हो गया था। बुद्ध के जीवन में ही बौद्ध धर्म कैसे चीन पहुँच गया था और खुङ्-च बुद्ध को कैसे जानते थे? यह समझ में आने वाली बात नहीं है।

(४) इआन्-चाँव् महाराज का समय (३१२—२७९ ई० पू०)

चिन् राज्य (२६५-४१९ ई०) के उआङ्-चिआ ने अपने ग्रन्थ ष-इ-चि में लिखा है, "इआन्-चाँव् महाराज के राज्य के सातवें बरस (३०६ ई० पू०) मु-श्यू से एक आदमी कर देने के लिये आया। इस देश का दूसरा नाम षन्-तु है। उस करामाती व्यक्ति का नाम शील था। चीनी लोगों ने उसकी आयु पूछी तो उसने १०३ वर्ष बतलाई। उसके साथ पात्र और दण्ड भी था। उसने कहा कि वह अपने देश से चलकर ५ बरस में इआन् की राजधानी में पहुँचा है। उसने कहा कि वह अच्छी तरह करामातें दिखलाना जानता है। उसने अपनी उँगली के नाखून से तीन फोट ऊँचा १० मंज़िला स्तूप प्रकट किया।" चीन के कितने ही लोगों का कहना है कि शील पहले भारतीय भिक्षु थे जो धर्मप्रचार के लिये चीन आए। दण्ड, पात्र, और स्तूप की सत्ता बौद्धधर्म को प्रकट करती है, उसका विरोध कैसे किया जा सकता है। इसलिये इआन्-चाँव् महाराज के समय बुद्ध, धर्म और संघ तीनों ही चीन में थे। पर ष-इ-चि

यह नहीं कहा गया कि शील एक भिक्षु था, एक धर्मप्रचारक था। उसमें तो उसे करामाती आदमी बताया गया है जो करामातों के दिखाने में उस्ताद था। उसने नाखून से स्तूप प्रकट किया जिससे यह मालूम होता है कि वह था भी करामाती। इसका दूसरा अर्थ नहीं किया जा सकता। किंच जहां तक मुझे पता है भारत का नाम कभी भी मु-श्यू नहीं रहा है। चीन के प्राचीन ग्रन्थों में भारत को किआन्-चुं, थिआन्-तु, च्यूआन्-तु और इन्-तु आदि कहा गया है पर उसे मु-श्यू कहीं भी नहीं कहा गया। आधुनिक पण्डितों की खोज के अनुसार इआन्-चाव् का समय (३१२-२७९ ई० पू०) ठीक अशोक से पहले का है। तब बुद्ध को परिनिर्वृत हुए बहुत दिन नहीं बीते थे। भारत के भिक्षु उस समय धर्मग्रन्थ के सम्प्रदाय को दृढ़कर रहे थे। उस समय बौद्धधर्म भारत से बाहर नहीं गया था। फिर भला चीन को उस समय त्रिरत्न कैसे प्राप्त हो गए। इआन्-चाव् महाराज चेउ राज्य के अन्तिम सम्राट् नान् (३१४-२४७ ई० पू०) के नीचे एक रियासत के राजा थे। वही रियासत अब पइ-किङ् कहलाती है। चेउ राज्य से सीधे थाङ् राज्य तक करीब २००० वर्ष पइ-किङ् और उसके पास का इलाका चीनभूमि की प्रधान सीमा रही है। मंगोलों के यूआन राज्य (१२६४-१२९९ ई०) के षउ-चु महाराज ने जो कुबले खान के नाम से मशहूर हैं पहले पहल पइ-किङ् को राजधानी बनाया। उससे पहले वह कोई सांस्कृतिक केन्द्र नहीं था। तुङ्-हान् (२५-२१९ ई०) थाङ् राज्य (६१४-९०६) तक का समय बौद्ध धर्म के फूलने फलने का था। मध्य चीन के चिआङ्-सु प्रान्त, दक्षिण चीन में फु-चिआन् प्रान्त और उत्तर चीन के षान्-शि और हो नान् प्रान्तों में विहार थे, अनुवादक संस्थाएं थीं। हज़ारों हज़ारों चीनी और भारतीय भिक्षुओं ने लगातार १००० बरस तक धर्मग्रन्थों का अनुवाद किया था। पर पइ-फिङ् उस समय तक भी सुनसान था। इससे साफ़ है कि इआन-चाव् के समय बौद्धधर्म चीन नहीं पहुँचा था और मान भी लें कि वह उस समय चीन पहुँच चुका था तो यह सम्भव हो ही नहीं सकता कि वह इआन-चाव् की रियासत में पहुँच गया हो जो उस समय उजाड़ खण्ड थी। पर शील इआन्-चाव् के समय चीन पहुँचे, इस प्रवाद की तह में क्या छिपा हुआ है? इसके पीछे भी इतिहास है। ष-चि में कहा है: इआन्-चाव् नम्र और दानी था। वह सोने की वेदिका बनवाकर पण्डितों को बुलवाकर उसपर बिठाता था। फ़ङ्-षान्-षु में कहा है कि उसका अद्भुत बातों पर बहुत विश्वास था। शुअङ्-चिङ्-चुं में कहा है कि वह अतिथियों का आदर करता था और करामातियों का खुले दिल से स्वागत करता था। चीन में अनेकों कहानियां प्रचलित हैं जिनमें उसके करामातियों के बुलाने का वर्णन है। इसलिये शील के चीन आने की कहानी को उसके साथ जोड़ देना कुछ भी अचरज की बात नहीं है। उआङ्-चिआ के लिखे ष-इ-चि का समय चिन् राज्य (२५६-४१९ ई०) है पर

लिआङ् राज्य (५०२-५५६) में ही वह लुप्त हो गई थी। लिआङ् राज्य के शिआव्-इ ने दुबारा संग्रह किया था। यही पोथी आज हमारे सामने है। इसलिये मैंने जिस अनुच्छेद को उद्धृत किया है वह उआङ्-चिआ का मूलग्रन्थ है या नहीं इसे या तो उआच् चिआ जानते होंगे या शिआन्-इ। किंच चिन् राज्य के इतिहास में ष-इ-चि की आलोचना करते कहा गया है कि उसकी "सभी कथा अद्भुत और अविश्वसनीय है।" इससे यह जाना जा सकता है कि उस समय के लोग भी उसपर विश्वास नहीं करते थे।

(५) चेउ-नान् काल (३१४-२४७ ई० पू०)

चेउ-नान् महाराज का समय (३१४-२४७ ई० पू०) और भारत के महाराज अशोक का समय (२७३-२३७ ई० पू०) लगभग एक ही है। चीनी बौद्धों का मत है कि इस काल में बौद्धधर्म चीन में प्रविष्ट हुआ। चुङ्-पिन् ने (४२०-४७७ ई०) ने मिङ्-फ़ो-लुन में कहा है : "भारतीय भिक्षु भदन्त बोध्यंग कारुणिक मुनि थे। उन्होंने ष-लो-हु (३३५ ई० के लगभग) से कहा कि लिन्-च् नगर में एक प्राचीन अशोक का विहार है। वहां अब भी प्रतिमा और छत्र हैं। जो सघन बन के पुराने वृक्ष के नीचे जमीन के अन्दर २०० फीट नीचे हैं। ष-लो-हु ने आदमी भेजकर खुदवाया और उसको प्रतिमा और छत्र मुनि के कथानुसार मिल गए। इआव्-लुए के चचा जो चिन् प्रान्त के राजा थे उन्होंने हो तुङ् के फु-नान् स्थान में प्रकाश देखा। पुराने लोगों का कहना था कि वहां अशोक का विहार है। खोदकर ढूँढने पर वहां बुद्ध की धातुएं चांदी की एक पेटी से मिलीं जो कि पत्थर की पेटी में बंद थीं। इससे जाना जाता है कि चीन के छिन् और चिन् स्थानों में बौद्ध-धर्म अशोक के समय पहुँच चुका था।"

अशोक का भारत के इतिहास में अद्वितीय स्थान है। बौद्ध धर्म के इतिहास में वह प्रथम धर्म पालक राजा था। इसीलिये बौद्ध ग्रन्थों में उसकी बहुत सी अनोखी कहानियां हैं। चीन में जब बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ तो अशोक की कीर्ति भी निश्चय ही चीन में पहुंची। चीनी त्रिपिटक में हमें अशोक सम्बन्धी बहुत से सूत्र मिलते हैं। जैसे हउ-हान् राज्य के भदन्त चे-छान् द्वारा अनुदित **कुणाल सूत्र** (हुआय्-मु-इन्-यूआन्), शि-चिन् राज्य के भदन्त आन्-फ़ा द्वारा अनूदित **अशोक की जीवनी**, तुङ्-चिन् राज्य में अनूदित **औपम्य सूत्र** (फि-यू-चिङ्), लिआङ् राज्य में भदंत-संघबल द्वारा अनूदित १० भागों में **अशोक सूत्र**, फु-छिन् राज्य में धर्मानन्द द्वारा अनूदित **कुणाल सूत्र**। इससे हम जान सकते हैं कि चिन् (२६५-४२० ई०) और लिअर्छाव् (४२०-५८७ ई०) राज्य के समय चीन में अवश्य ही अशोक की कहानी खूब फैल और पनप चुकी थी। साथ ही साथ भदन्त फ़ा-शिआन् ने पश्चिम में भारतवर्ष भर में मकर

सभी तीर्थों में जाकर बन्दना की और अपनी आंखों से सब जगह अशोक के स्तूप और स्तम्भ आदि स्मारक देखे थे। इसलिये उनके यात्रा वृत्तान्त फ़ो-कुओ-चि से चीनी बौद्ध अशोक के बहुत प्रशंसक हो गए थे और अशोक द्वारा संसार में ८४००० स्तूप बनवाने की बात ज़रूर ही उनके हृदयों में घर कर गई थी। चीन के लोगों का ख़्याल था कि इन ८४००० स्तूपों में से कितने ही चीन में ज़रूर बने हैं। इसलिये उन्होंने इधर उधर चीन में खोज की। और जब उन्हें कोई प्राचीन इमारत मिली और वे उसके बारे में न जान सके कि वह कैसी इमारत है तो उन्होंने कह दिया कि वह अशोक की बनवाई हुई है। जब अशोक ने चीन में स्तूप बनवाए तब यह तो मानना ही पड़ता है कि उसके समय में बौद्ध धर्म चीन में प्रविष्ट हो चुका था। चुङ्-पिङ् अपने मिङ्-फ़ो-लुन् में जब यह कहता है कि "बौद्ध धर्म चीन के छिन् और चिन् स्थानों में अशोक के समय पहुंच चुका था" तब वह युक्तिपूर्वक वही बात कहना चाहता है जिसको कि हम ऊपर कह चुके है।

काव्-सङ्-चुंआन् के पांचवें भाग में थान्-इ की जीवनी में कहा है: "थान-इ सदा दुःखी रहता था क्योंकि उसके पास विहार था, भिक्षु थे, पर प्रतिमा नहीं थी। अशोक की बनवाई प्रतिमाएं बहुत ही दिव्य और पवित्र थीं वें चारों दिशाओं में विभक्त थीं। पर श्रद्धा न होने से नहीं मिल रहीं थीं। उसने प्रतिमा पाने के लिये तल्लीन हो प्रार्थना की। चिन्-थाय्-यूआन् के १९ वें बरस के दूसरे महीने की ८वीं तिथि को अकस्मात् एक प्रतिमा नगर के उत्तर प्रकट हुई। उसका प्रकाश आकाश में फैल गया। उस समय पइ-मा-स मठ के भिक्षु पहले उसे लेने गए पर उसे हिला न सके। बाद में थान्-इ गए और बन्दना की और दूसरे लोगों से कहा अशोक की बनवाई प्रतिमा मेरे छाङ्-शा-स विहार में आनी चाहिए। तब उसने तीन शिष्यों से कहा जाओ और ले आओ। प्रतिमा हलकी हो गई और वे ले आए। बौद्ध उस मन्दिर की और दौड़ पड़े। रथ और घोड़ों की भीड़ लग गई। बाद में कश्मीर के एक भिक्षु संघानन्द ने स-छुंआन् से आकर मन्दिर गए और बन्दना की। प्रतिमा के प्रभामण्डल में उन्होंने संस्कृत शब्द देखे और कहा यह अशोक की बनवाई प्रतिमा है। यहां कब आ पहुंची। जब उस समय लोगों ने यह बात सुनी तो उन्हें मालूम हुआ कि थान्-इ का कहना ग़लत न था।" यह कहानी थाङ् राज्य में बनी चुं-कुङ्-इ-ष और सुङ् राज्य में बनी थाय्-फिङ्-कुआङ्-चि पोथियों में भी है।

काव्-सङ्-चुंआन् पोथी में भिक्षु हुअइ-ता की जीवनी में कहा है: "भदन्त हुअइ-ता चिन् राज्य के निङ्-खाङ् महाराज की राजधानी पहुंचे। पहले से ही महाराज चिआन्-उन्ने छाङ्-कान् विहार में तिमज़िला स्तूप बनवाया था। स्तूप बनने के बाद हर रात उससे प्रकाश

निकलता था। हुअइ-ता ने नगर की चहारदीवारी पर चढ़कर देखा कि विहार की छत का रंग बहुत ही अनोखा है। तब वह वहां गया और बन्दना की तथा सबेरे शाम दोनों समय बन्दना करने जाने लगा। रात को उसने देखा कि मन्दिरके नीचे से प्रकाश आ रहा है। उसने लोगों से खोदने के लिये कहा। १० फ़ीट के क़रीब खोदने पर तीन खुदे हुए पत्थर मिले। बिचले पत्थर के नीचे लोहे की एक पेटी मिली। उसके भीतर एक चांदी की पेटी मिली। और उसके भीतर एक सोने की पेटी मिली। जिसमें तीन धातुएं, एक नाखून और केश मिला। वह केश कितने ही फ़ीट लंबा था और सिमटा हुआ एक कौड़ी के समान मालूम होता था, जो चमकता रहता था। यह चेउ-श्यूआन् महाराज के समय बनवाए अशोक के ८४००० स्तूपों में से एक था।"

इसके अतिरिक्त काव्-सङ्-चुआन् में कहा है : महाराज शिआन्-हो के समय काव्-ली जो तान्-इआङ् प्रान्त का एक पदाधिकारी था एक सोने की प्रतिमा खोद निकाली थी। प्रतिमा के वक्षस्थल पर संस्कृत भाषा में लिखा था कि यह प्रतिमा अशोक की चौथी पुत्री की बनवाई हुई है।" फ़ा-यूआन्-चु-लिन् में कहा है कि उ वंश के सुन्-हाव् महाराज को चिआन्-इए (नान्-चिङ्) नामक स्थान में एक सोने की प्रतिमा मिली जो कि अशोक की बनवाई थी। हुङ्-मिङ्-चि में कहा है : "चिन् राज्य के एक भिक्षु चन्द्र को पता था कि लो-इआइ पर्वत पर एक प्राचीन विहार का भग्नावशेष है।" इस प्रकार की कथाएं चीनी ग्रन्थों में इतनी अधिक हैं कि उनका निर्देश करना सर्वथा असम्भव है। हम यह मान सकते हैं कि यह सब धार्मिक उमङ्गों के कारण हुआ है और अशोक की धर्मपालकता के कारण चीनी बौद्धों में उनके प्रति जो आदर का भाव था उसने भी इन सब दन्त कथाओं के गढ़ने में प्रेरणा दी है।

जिन्हें स्तूप और मठ कहा जाता है वे चीन की प्राचीन इमारतों के भग्नावशेष हैं। सूखी हड्डियां (चीन में शवों के दफ़नाने की प्रथा के कारण) किसी भी जगह से पाई जा सकती हैं। रही प्रतिमाओं की बात उन्हें छिन्-ष-हुआङ् ने बनवाई थीं जो सचमुच बुद्ध की प्रतिमाएं नहीं थीं पर आज वे बुद्ध की प्रतिमाएं ही कही जाती हैं। इन सबके अतिरिक्त अशाक ने इतने ज्यादा स्तूप बनवाए थे इसका कोई पुष्ट आधार नहीं है। साथ ही भारत में अशोक के समय बुद्ध की प्रतिमाएं भारत में बननी भी नहीं शुरू हुई थीं।

(क्रमशः)

मालञ्च

(शेषांश)

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

५

पोखर के उस पारवाले बांध पर फरहद वृक्ष की ओट में चांद निकल रहा है, पानी पर घनी काली छाया फैल गई है। इस ओर वासन्ती वृक्ष की नई कोंपलें शिशु की कच्ची नींद से सद्य-जागी आंखों की तरह ईषत् लाल हैं, कच्चे स्वर्ण के रंग के उसके फूल हैं, घन-गंध भारी होकर जम उठी है—मानो सौरभ का कुहासा हो। जुगनुओं का दल जारुल वृक्ष की शाखाओं में झलक-झलक उठता है।

घाट की वेदी पर सरला स्तब्ध होकर बैठी हुई है। हवा सांस रोके है; पत्ते डोल नहीं रहे हैं। पानी मानो काली छाया के फ्रेम में बंधा पालिश किया हुआ चांदी का दर्पण हो।

पीछे से प्रश्न आया : आ सकता हूं ?

सरला ने स्निग्ध कंठ से उत्तर दिया : आओ।—रमेन पावों के निकट घाट की सीढ़ी पर आकर बैठ गया। सरला व्यस्त होकर बोली : कहां बैठ गए रमेन भैया, ऊपर आओ।

रमेन बोला : जानती हो, देवियों की वर्णना आरंभ होती है पदपल्लवों से। पार्श्व में जगह रही तो पीछे बैठूंगा। तनिक बढ़ाओ तो अपना हाथ, अभ्यर्थना शुरू करूं विलायती रीति से।

सरला का हाथ लेकर चूमकर बोला : सम्राज्ञी के योग्य अभिवादन ग्रहण करो!

इसके बाद खड़े होकर तनिक-सी अबीर लेकर सरला के भाल पर मल दी।

—यह अब क्या ?

—जानती नहीं आज होली है ? तुम्हारे डाल-डाल और पात-पात पर रंगों की माया बिखर रही है। वसंत में मनुष्य की देह में तो रंग लगता नहीं, लगता है मन में। उसी रंग को बाहर प्रकाशित करना होगा, नहीं तो, वनलक्ष्मी! अशोक-वन में तुम निर्वासित ही बनी रहोगी।

—तुम्हारे साथ बातों का खेल खेल सकूं, ऐसी उस्तादी मुझमें नहीं है।

—बातों की ज़रूरत ही कौन-सी है ? पुरुष–पक्षी ही गान करता है, तुम लोग मादा पक्षी अगर चुपचाप सुन-भर लो तो उत्तर हो गया। अब बैठने दो बगल में।

रमेन बाजू से बैठ गया। बहुत देर तक दोनों ही चुपचाप रहे। हठात् सरला ने सवाल किया : रमेन भैया, जेल किस तरह जाया जाता है, इसको सलाह दो मुझे !

—जेल जाने के मार्ग इतने बेहिसाब हैं और आजकल इतने आसान, कि जेल किस तरह न जाया जाय यही सलाह दे सकना सबसे मुश्किल हो उठा है। इस युग में गोरे की बंसुरिया ने हम गोपियों को घर में टिकने ही नहीं दिया।

—नहीं, मैं हंसी नहीं कर रही, खूब सोचकर ही समझ पा रही हूं कि मेरी मुक्ति वहीं है।

—अच्छी तरह खोलकर कहो अपने मन की बात।

—कहती हूं सभी कुछ ही। सारी बात तुम्हारी समझ में आ जाती, यदि आदितभैया का मुंह एक बार देख पाते।

—आभास से कुछ–कुछ देख पाया हूं।

—आज तीसरे पहर बरामदे में अकेली बैठी हुई थी। अमेरिका से फूल-पत्तों का एक सचित्र सूचीपत्र आया है, सो उसीको पलट रही थी। रोज़ तीसरे पहर साढ़े चार बजे के पहले चाय निबटाकर आदित् भैया मुझे पुकार लिया करते थे बगीचे के काम पर। आज देखती हूं, अन्यमनस्क यहां से वहां घूम रहे हैं ; माली लोग काम किए जा रहे हैं लेकिन उस तरफ़ खयाल भी नहीं है। एक बार ऐसा लगा जैसे मेरे बरामदे की तरफ़ आ रहे हों, फिर दुबिधा में पड़कर लौट गए। आदितभैया ऐसे सख्त, लंबे हाड़ के आदमी हैं, तेज़ चाल, तेज़ काम, सब तरफ़ सजग दृष्टि ; कड़े मालिक हैं फिर भी मुंह पर क्षमा की हंसी खिल रही है ;—आज उसी मनुष्य की वह चाल ही नहीं रही, दृष्टि ही नहीं है बाहर की ओर, मालूम नहीं कहां डूब गए हैं मन के भीतर। बहुत देर बाद धीरे-धीरे पास आए। और रोज़ आते ही हाथ की घड़ी दिखलाकर कहते : समय हो गया।—मैं भी उठ खड़ी होती। आज यह न करके धीरे-धीरे चौकी खींचकर बाजू से बैठ गए। बोले : कैट्लग देख रही हो शायद।—मेरे हाथ से सूचीपत्र लेकर सफे उल्टाने लगे। कुछ देखा हो ऐसा नहीं लगा। हठात् एक बार मेरे मुंह की तरफ़ देखा, मानों संकल्प कर लिया हो कि अब और देरी न करके कुछ-न-कुछ कहना ही चाहिए। किन्तु फिर उसी समय सफे की तरफ़ दृष्टि घुमाकर बोले : देखा सरो, कितना बड़ा नैटर्शियम है !—आवाज़ में गहरी थकान का परिचय था। उसके बाद बहुत देर कोई बात-चीत नहीं, सिर्फ सफे उल्टाने का काम ही चलता रहा। और एक बार सहसा मेरे मुंह की तरफ़ ताका, और उसीके साथ धप् से किताब बंद करके मेरी गोद में फेंककर उठ पड़े। मैंने कहा : चलोगे

नहीं बाग में ?—बोले : ना भई, बाहर जाना होगा, काम है ।—कहते ही एक झटके से जैसे अपने को तोड़कर ले गए ।

—आदितभैया तुमसे क्या कहने आए थे ; क्या अन्दाज़ है तुम्हारा ?

—कहने आए थे : पहले ही उजड़ चुका है तुम्हारा एक बाग, अबकी हुकुम आया है तुम्हारी क़िस्मत में एक और बाग उजड़ेगा ।

—अगर ऐसा ही हो, सरो, तब जेल जाने की मेरी स्वाधीनता तो गई ।

सरला म्लान हंसकर बोली : तुम्हारी वह राह क्या मेरे बंद किए बंद होगी ? सम्राट्-बहादुर खुद उसे बिल्कुल प्रशस्त रखेंगे ।

—तुम वृन्तच्युत होकर पड़ी रहोगी रास्ते पर और मैं हथकड़ियां झनझनाता हुआ सब की आंखें चौंधियाता जेल का रास्ता पकड़ूंगा—यह भी भला कभी हुआ है ? तब तो अभी से मुझे इसी उम्र में खूब भलामानुस बनना सीखना पड़ेगा ।

—क्या करोगे ?

—तुम्हारे अशुभ ग्रह के साथ युद्ध घोषित कर दूंगा । जन्म-पत्री से उसे निकाल-बाहर करूंगा । उसके बाद खूब लंबी छुट्टी मिलेगी—यहां तक कि काले-पानी-पार तक की !

—तुम्हारे पास मैं अपना कुछ भी छुपाना नहीं जानती । कुछ दिनों से एक बात मेरे निकट खूब साफ़ हो चली है, सो आज तुमसे कहूंगी, कुछ ख्याल न करना ।

—न कहने पर ही ख्याल करूंगा ।

—तब सुनो । बचपन से ही आदित् भैया के साथ एकत्र बड़ी हुई हूं । भाई-बहन की तरह नहीं, दो भाइयों की तरह । दोनों ने अपने हाथों एक-दूसरे की बगल में मिट्टी खोदी है, पेड़ काटे हैं । बड़ी चाची और मां दो-तीन दिन आगे-पीछे चल बसीं ; उस समय मेरी उम्र रही होगी छः की । बाबूजी की मृत्यु इसीके दो साल बाद हुई । बड़े-चाचा की यह खूब ही बड़ी साध थी कि मैं ही उनके बाग को अपने प्राण देकर भी बचा रखूंगी । उसी तरह उन्होंने मुझे गढ़ा भी था । किसीपर भी अविश्वास करना उन्हें नहीं आता था । जिन मित्रों को उन्होंने रुपये कर्ज दिए थे वे लोग शोध करके बगीचे को दायमुक्त कर देंगे, इसमें उन्हें तनिक भी संदेह नहीं था । सो शोध किया सिर्फ आदित् भैया ने, और किसीने नहीं । यह इतिहास शायद तुम्हें कुछ-कुछ मालूम है किन्तु तब भी आज सब बातें बिल्कुल शुरू से ही कहने का जी हो रहा है ।

—मुझे सभी कुछ बिल्कुल नया लग रहा है ।

—इसके बाद तुम्हें तो मालूम ही है, सब डूब गया । जब बाढ़ से खींच-खांचकर मुझे

ज़मीन पर जगह मिली, तब एक बार फिर मेरे भाग्य ने मुझे आदित् भैया की बग़ल में लाकर खड़ा कर दिया। वही पहले-जैसी ही उनसे मिली—दो भाई, दो मित्रों की तरह। उसके बाद से जैसे उनके आश्रय में हूं, यह सच है, वैसे ही उन्हें भी आश्रय दिए हुए हूं—यह भी सच है। परिमाण में मेरी ओर से तनिक भी न्यूनता नहीं हुई यह मैं ज़ोर देकर कहूंगी। इसी कारण अपनी ओर से संकोच करने का मुझे लेशमात्र भी प्रयोजन नहीं हुआ। इससे पहले जब हम लोग एक साथ थे, उसी समय की वयस लिए हुए ही मानो मैं फिर मिली—ठीक वही सम्बन्ध लिए हुए। और इसी तरह दिन कट भी जाते।...ज्यादा कहकर ही क्या होगा ?

—बात पूरी कर डालो।

—हठात् मुझे धक्का देकर क्यों जना दिया कि मैं अब बड़ी हो उठी हूं! जिन दिनों की ओट में काम-काज किया था उन दिनों का आवरण पल भर में ही जाने-कहां उड़ गया है। तुम्हें अवश्य सभी कुछ मालूम है रमेन भैया, मेरा कुछ भी ढका नहीं होता तुम्हारी दृष्टि से। अपने ऊपर भाभी का कोप देखकर शुरू-शुरू में बहुत आश्चर्य हुआ था। तब कुछ भी समझ न पाई थी। इतने दिन अपने ऊपर ही नज़र नहीं पड़ी थी। भाभी के विराग की अग्नि की आभा में अपने को देख पाई—अपने ही निकट पकड़ाई दे गई। मेरी बात समझ रहे हो न ?

—तुम्हारे बचपन की अतल-डूबी प्रीति हिल-डुलकर ऊपर की सतह पर उतरा आई है।

—मैं करूं तो क्या, कहो तो ? अपने ही से किस तरह भागूं!—कहते-कहते सरला ने रमेन का हाथ दबा रखा।

रमेन चुप रहा। वह फिर बोली : जितने समय यहां हूं—मेरा अन्याय बढ़ता ही जा रहा है।

—किस पर अन्याय ?

—भाभी पर।

—देखो सरला, मैं ये सब किताबी बातें नहीं मानता। किस सत्य के माप से दावे का हिसाब स्थिर करोगी ? तुम दोनोंका मिलन कितने काल का है—तब कहां थीं भाभी ?

—क्या कह रहे हो रमेन भैया! अपनी इच्छा को दुहाई देकर यह कैसी ज्यादती है ? फिर आदित् भैया की बात भी तो सोचनी होगी।

—ज़रूर होगी। तुम्हारा क्या यह खयाल है कि जिस आघात ने तुम्हें चौंका दिया है, वही आघात उन्हें नहीं लगा है ?

—रमेन है क्या ?—पीछे से सुनाई पड़ा।

—हां भैया।—कहकर रमेन उठ खड़ा हुआ।

—तुम्हारी भाभी ने तुम्हें बुलवा भेजा है, आया अभी आकर कह गई।

रमेन चला गया, सरला ने भी उसी समय उठकर जाने का उपक्रम किया।

आदित्य बोला : जाना नहीं सरो, तनिक बैठो।—आदित्य का मुंह देखकर सरला की छाती फट जाना चाहती है। वही अविश्राम-कर्म्मरत, आत्मविस्मृत, बड़े डौल का आदमी इतनी देर से जैसे लहरों की चपेट खानेवाली चकराती-टकराती हुई नाव के समान भटक रहा है।

आदित्य ने कहा : हम दोनोंने इस संसार में बिल्कुल एक होकर जीवन आरंभ किया था। हमारा मेल इतना सहज है कि इसमें कहीं किसी भी कारण से कोई भेद घट सकता है यह सोचना ही असंभव है। है न सरो ?

—अंकुर में जो एक होता है वही बढ़ने पर विभाजित हो जाता है—यह बात भी तो बिना माने नहीं रहा जा सकता, आदित् भैया !

—वह विभाजन तो बाहर है, केवल आंखों मे दीख पड़नेवाला विभाजन। अंतर में प्राणों का तो विभाजन नहीं होता। आज तुम्हें मेरे पास से दूर सरका ले जाने का धक्का आया है। मुझे यह इतना अधिक लगेगा, यह कभी सोच भी नहीं सकता था। सरो, तुम क्या जानती हो कि हम लोगों पर हठात् कैसा धक्का आया है ?

—जानती हूं भाई, तुम्हारे जानने के पूर्व से ही।

—सह सकोगी, सरो ?

—सहना ही होगा।

—यही सोचता हूं कि तुम लोगों की सहन-शक्ति क्या हम लोगों से ज्यादा होती है ?

—तुम लोग पुरुष हो, दुःख के साथ लड़ाई करते हो, नारी युग-युग से केवल सहती ही आ रही है। आंखों का पानी और धीरज—इन्हें छोड़ उसका और कोई संबल नहीं है !

—तुम्हें मुझसे कोई छीनकर ले जाए, यह मैं नहीं होने दूंगा—कभी नहीं। यह अन्याय है, यह निष्ठुर अन्याय है !—यह कहते हुए आकाश में मुट्ठी तानकर जैसे आदित्य जाने-किस अदृश्य शत्रु के साथ युद्ध करने के लिये प्रस्तुत हो गया !

सरला आदित्य का हाथ गोद में खींचकर उसपर हौले-हौले हाथ फेरने लगी ; और जैसे अपने ही से बोलती गई : न्याय-अन्याय की बात नहीं है भाई ! संबंध का बंधन जब उलझकर सरफूंद बन जाता है तब उसकी व्यथा बहुत लोगों के भीतर पकने लगती है, बहुत जगह से खिंचाव-तनाव पड़ने लगता है। भला किसको दोष दोगे ?

—तुम सहन कर सकोगी यह मैं जानता हूं। एक रोज़ की बात याद आ रही है। कितने लंबे केश थे तुम्हारे—अब भी वैसे ही हैं। मन में गर्व था तुम्हें उन केशों का—सभी तुम्हारे

उस गर्व को प्रश्रय देते थे। एक दिन हुआ तुमसे झगड़ा। दुपहर को तकिए पर सारे केश फैलाए तुम सो रही थीं। मैंने कैंची लेकर लगभग आधे हाथ केश काट दिए। तुम तत्काल जागकर खड़ी हो गईं—तुम्हारी वे सघन काली आंखें और भी काली हो उठीं। केवल इतना ही कहा तुमने : सोचा है मुझे छकाओगे?—और कहते ही मुझसे कैंची छुड़ाकर रक-रक करके गर्दन तक के सारे केश काट डाले। मौसाजी तो तुम्हें देखकर चकित हो गए, बोले : यह क्या कांड किया!—तुमने शांत मुख से अनायास ही कहा : बड़ी गरमी लगती थी।—उन्होंने भी तनिक हंसकर सहज ही मान लिया। कुछ भी पूछा नहीं, भर्त्सना नहीं की, केवल कैंची लेकर केशों को बराबर छांट दिया। तुम्हारे ही तो बड़े-चाचा थे!

सरलाने हंसकर कहा : तुम्हारी बुद्धि की भी बलिहारी है! तुम क्या यह समझते हो कि यह मेरी क्षमा का परिचय है? तनिक भी नहीं। उस दिन जितना तुमने मुझे छकाया, उससे कहीं अधिक मैंने तुम्हें पीड़ित किया। ठीक कह रही हूं या नहीं बतलाना तो?

—बिल्कुल ठीक। उन कटे केशों को देखकर मुझे सिर्फ रोना ही बाक़ी रहा था। उसके दूसरे दिन मारे शर्म के तुम्हें मुंह भी नहीं दिखा पाया। अपने पढ़ने के कमरे में चुपचाप बैठा दुबका था। तुम कमरे में आते ही बिना कुछ कहे-सुने बाग़ के काम-काज में मुझे फिर खींच ले गईं, जैसे कुछ हुआ ही नहीं हो। और भी एक दिन की बात याद आती है, वही जिस दिन फागुन महीने में हठात् असमय-तूफ़ान मेरे सोने के कमरे का छप्पर उड़ा ले गया था और तब तुम आकर—

—छोड़ो उस बात को, और कहने की ज़रूरत नहीं आदित भैया!—कहकर सरला ने दीर्घ निःश्वास फेंकी : वे सब दिन अब नहीं लौटेंगे।—यह कहते हुए वह चटपट उठ खड़ी हुई।

आदित्य ने व्याकुल होकर सरला का हाथ दबाकर कहा : नहीं, जाना मत, अभी जाना मत, कभी जाने का समय आएगा, तब—

कहते-कहते आदित्य उत्तेजित होकर बोल उठा : कभी भी क्यों आएगा जाने का समय! कौन-सा अपराध हुआ है? ईर्ष्या! आज दस वर्ष संसार यात्रा में मेरी परीक्षा हुई—उसीका यह परिणाम! क्या लेकर ईर्ष्या? तब तो फिर उन तेईस बरसों का इतिहास मिटा डालना होगा—जब से तुम्हारे साथ मेरी पहली पहचान हुई थी?

—तेईस बरस की बात नहीं कह सकती भाई, किन्तु तेईस बरस की इस अंतिम वेला में क्या तुम सचमुच ही कह सकते हो कि ईर्ष्या का कोई कारण नहीं घटित हुआ? सच्ची बात तो कहनी ही होगी, अपनेको भुला रखने से क्या लाभ? मेरे और तुम्हारे बीच कोई भी बात तनिक भी अस्पष्ट न रहे!

आदित्य कुछ देर स्तब्ध बैठा रहा, फिर बोल उठा : बात और अधिक अस्पष्ट रह ही कहां गई। भीतर ही भीतर मैं समझ गया हूं कि तुम्हारे बिना मेरा जगत् व्यर्थ हो जाएगा। जीवन की प्रथम वेला में तुम्हें जिनसे पाया, उन्हें छोड़ और कोई तुम्हें मुझसे छीन नहीं सकेगा।

—बोलो मत आदित् भैया, दुःख और मत बढ़ाओ। तनिक स्थिर होकर सोचने दो।

—यह सोचना लेकर तो पीछे को ओर जाया नहीं जा सकता। मौसाजी की गोद के आसपास हम दोनोंने जो जीवन आरंभ किया था, वह तो बिल्कुल बिना सोचे-विचारे था। आज क्या हमारे उन दिनों को खुरपी-द्वारा उखाड़कर फेंक सकोगी ? तुम्हारी बात नहीं कह सकता सरो! किन्तु मेरी तो साध्य नहीं।

—पैरों पड़ती हूं, मुझे दुर्बल न करो।—दुर्गम मत करो उद्धार का रास्ता!

आदित्य ने सरला का हाथ अपने हाथों में दबाकर कहा : उद्धार की राह नहीं, राह मैं रखूंगा नहीं, प्यार करता हूं तुम्हें! यह बात आज इतने सहज भाव से, सत्य भाव से कह पा रहा हूं, कि इससे मेरी छाती उमड़ी आ रही है। जो फूल तेईस बरस मुकुल में छुपा हुआ था वही आज दैवकृपा से खिल गया है। मैं कहता हूं, उसे दबाकर रखना भीरुता होगी, अधर्म होगा!

—चुप, चुप, और मत कहो। आज रात-भर के लिये मुझे माफ़ करो, माफ़ करो मुझे!

—सरो, मैं ही कृपापात्र हूं, अंत तक मैं ही तुम्हारी क्षमा के योग्य हूं। मैं क्यों अंधा था ? मैंने क्यों नहीं पहचाना तुम्हें! क्यों भूल करके ब्याह करने गया ? तुमने तो नहीं किया, कितने पात्र इस इच्छा से तुम्हारे पास आए—सो तो मुझे मालूम है।

—बड़े चाचा ने मुझे अपने बाग़ के काम पर उत्सर्ग कर दिया था, नहीं तो शायद—

—नहीं नहीं, तुम्हारे मन की गहराई में तुम्हारा सत्य उज्ज्वल था। अनजाने भी तुमने उससे अपने-आपको बांध रखा था। मुझे तुमने क्यों सचेत नहीं कर दिया ? हमारा पथ क्यों अलग हो गया ?

—छोड़ो, छोड़ो उसे, जिसे मानना ही पड़ेगा उसे न मानने के लिये किसके साथ झगड़ रहे हो ? क्या होगा झूठमूठ छटपटाने से ? कल दिन में जैसे होगा, कोई उपाय स्थिर कर लिया जायगा।

—अच्छा चुप हुआ जाता हूं। किन्तु ऐसी चांदनी रात में मेरी ओरसे तुम्हारे कानों कुछ कह सके—ऐसे किसीको छोड़ जाऊंगा तुम्हारे निकट!

बाग़ में काम करते समय आदित्य की कमर में एक झोली बंधी रहती है, कुछ-न-कुछ संग्रह करने की ज़रूरत होती ही रहती है। उसी झोली से उसने एक गुच्छे में गुंथे हुए पांच

नागकेशर के फूल निकाले ; कहा : मुझे मालूम है तुम्हें नागकेशर प्रिय है। तुम्हारे कंधे के उस आंचल में खोंस दूं ? यह लाया हूं सेफ्टीपिन।

सरला ने आपत्ति नहीं की। आदित्य ने खूब समय लगाकर धीरे-धीरे फूल खोंस दिया। सरला उठ खड़ी हुई। दोनों हाथ पकड़कर आदित्य उसके मुंह की तरफ़ ताकता रहा, जिस तरह ताके हुए है आकाश का चांद। कहा : कैसी आश्चर्यजनक हो तुम सरो, कैसी अद्भुत !

सरला हात छीनकर भागकर चली गई। आदित्य ने अनुसरण नहीं किया, जब तक दिखलाई पड़ी, चुपचाप खड़े देखा किया। फिर बैठ गया घाट की उसी वेदी पर। नौकर ने आकर खबर दी : खाना तैयार है।—आदित्य बोला : आज मैं नहीं खाऊंगा।

६

रमेन ने द्वार के पास आकर पूछा : मुझे बुलवाया है क्या भाभी ?—नीरजा ने रुंधे गले को साफ़ करके उत्तर दिया : आओ।

घर की सारी रोशनी बुझी हुई है। खिड़कियां खुली हैं, चांदनी आकर बिखर गई है बिछौने पर, नीरजा के मुख पर और आदित्य के दिए हुए—सिरहाने के पास—उसी लैवर्नम फूल के गुच्छे पर। बाक़ी सभी कुछ अस्पष्ट है। तकिए से टिककर नीरजा आधी बैठी हुई अवस्था में है। देख रही है खिड़के की से बाहर की ओर। उस तरफ़ आर्किड्-घर के उसपार सुपारी-वृक्षों की क़तार दिखलाई पड़ रही है। अभी-अभी हवा कुछ जागी है, पत्ते डोले उठे हैं, आम के बौर की महक आ रही है। कहीं बहुत दूर से क्षीणस्वर आ रहा है ढोल का और गान का, गाड़ीवानों के मुहल्ले में होली जमी है। फ़र्श पर पड़ी हुई है मलाई-बरफ़ी और थोड़ी-सी अबीर—दरवान उपहार दे गया है। रोगी के विश्राम-भंग के भय से आज सारा घर निस्तब्ध है। किसी एक पेड़ से और भी किसी एक पेड़ की ओर 'पी-कहां' का उत्तर-प्रत्युत्तर चल रहा है—कोई भी हार मानने को प्रस्तुत नहीं है। रमेन मोढ़ा खींचकर बिछौने के पास बैठ गया। कहीं रुलाई न फूट पड़े इसी भय से बहुत देर तक नीरजा कुछ भी नहीं बोली। उसके ओंठ फड़क रहे हैं, कंठ के निकट ही वेदना का तूफ़ान जैसे ऐंठ-ऐंठ कर खिंच रहा है। थोड़ी ही देर में उसने संभाल लिया, लैवर्नम गुच्छ के दो झरे हुए फूल उसकी मुट्ठी के भीतर ही कुचल गए। फिर बिना कुछ बोले रमेन के हाथों एक चिट्ठी थमा दी। चिट्ठी आदित्य की लिखी हुई थी। इबारत इस प्रकार थी :

"इतने दिनों के परिचय के बाद आज सहसा देखा गया कि मेरी निष्ठा पर संदेह करना

तुम्हें संभव हुआ। इसे लेकर बहस करना मुझे लज्जाजनक मालूम होता है। तुम्हारे मन की इस वर्त्तमान अवस्था में मेरी सभी बातें, सभी काम तुम्हें विपरीत अनुभव होंगे। वही अकारण पीड़न तुम्हारे दुर्बल शरीर को प्रति पल आहत करेगा। मेरा दूर ही रहना अच्छा, जब तक कि तुम्हारा चित्त स्वस्थ न हो जाए। यह भी समझ गया कि सरला को यहां से बिदा कर दूं, यही तुम्हारी इच्छा है। शायद करना पड़ेगा—सोचकर देखा, उसके सिवा और कोई रास्ता नहीं। तब भी इतना कह रक्खूं कि मेरी शिक्षा-दीक्षा-उन्नति सभी कुछ सरला के बड़े चाचा के प्रसाद से ही हुई है, मेरे जीवन में उन्होंने ही सार्थकता का पथ दिखलाया था। उन्हींके स्नेह की धन सरला सर्वस्वान्त निःसहाय है। आज उसे अगर बहा दूं तो अधर्म होगा। तुम्हारे प्रति प्रेम की खातिर भी ऐसा नहीं कर पाऊंगा।

"खूब सोचकर मैंने स्थिर किया है, अपने रोज़गार में एक नया विभाग खोलूंगा, फल-सब्ज़ी आदि के बीज तैयार करने का विभाग। मानिकतल्ले में घर-समेत ज़मीन मिल जाएगी। वहीं इसी काम पर सरला को लगा दूंगा। इसे आरंभ कर सकने योग्य नक़द रुपये मेरे हाथ में नहीं हैं। अपना यह बाग़ और मकान गिरवी रखकर रुपये उठाने होंगे। इस प्रस्ताव पर नाराज़ न होना यही मेरा एकान्त अनुरोध है। स्मरण रखना, सरला के बड़े चाचा ने हमारे इस बाग़ के लिये मुझे बिना-सूद मूलधन उधार दिया था, सुना है उसका भी कुछ अंश उन्हें खुद कर्ज लेकर पूरा करना पड़ा था। केवल इतना ही नहीं, काम शुरू करने योग्य बीज, क़लम, दुर्लभ फूलों के रोपे, आर्किड्, घास काटने की मशीन और अन्यान्य अनेक यंत्र उन्होंने दान किए थे। इतना बड़ा सुयोग यदि वे न देते तो आज तीस रुपये के किराए के घर में रहकर ज़िंदगी भर क्लर्की करनी होती, तुम्हारे साथ विवाह भी नहीं घटता भाग्य में। तुम्हारे साथ बातचीत होने के बाद से बार-बार यही प्रश्न मेरे मनमें उठ रहा है कि मैंने सरला को आश्रय दिया है? यह सीधी-सी बात भूल ही गया था, तुम्हींने आज याद दिला दी। अब तुम्हें भी उसे याद रखना होगा। यही कभी मत सोचना कि सरला मेरा गलग्रह है। उनलोगों का ऋण कभी चुका नहीं पाऊंगा; मुझ पर उसके दावे का भी कभी अंत नहीं होगा। तुम्हारे साथ कभी उसकी भेंट न हो यह चेष्टा मुझे भूलेगी नहीं। किंतु मेरे साथ उसका संबंध विच्छिन्न होनेवाला नहीं है, यह बात जिस तरह आज समझ पाया हूं, पहले कभी नहीं समझ पाया। सारी बातें कह नहीं सका, मेरा दुःख आज कहने के अतीत हो उठा है। यदि अनुमान से समझ सको तब तो समझो, नहीं तो जीवन में यही पहली वेदना है जो तुम्हारे निकट अव्यक्त रही।"—

रमेन ने दो बार चिठ्ठी पढ़ डाली। पढ़कर चुप रह गया। नीरजा व्याकुल स्वर से बोली : कुछ कहो, बाबू !

रमेन ने तब भी कोई उत्तर नहीं दिया।

नीरजा बिछौने पर लोट गई, तकिए पर सिर ठोक-ठोक कर कहने लगी : अन्याय किया है, मैंने अन्याय किया है। किन्तु तुम लोग कोई क्या समझ नहीं सकते कि किसने मेरा दिमाग़ खराब कर दिया है ?

—यह क्या कर रही हो भाभी ! शांत होओ, तुम्हारा शरीर टूट जाएगा।

—इसी टूटे शरीर ने ही तो मेरा भाग्य तोड़ा है—उसके लिये ममता क्योंकर ? उन पर मेरा यह अविश्वास—यह कहां से आ दिखा ? यह जो अक्षम जीवन है, इसे लेकर मुझे अपने-आप पर ही अविश्वास है। उनकी वह नीरू आज है कहां जिसे वे कभी कहते 'मालिनी' तो कभी 'वनलक्ष्मी' ! आज किसने छीन लिया उसका उपवन ? मेरा क्या एक ही नाम था ? काम निबटाकर लौटते हुए उन्हें जिस दिन देरी होती, मैं बैठी ही रहती उनका भोजन संजोए तब मुझे पुकारा करते 'अन्नपूर्णा' कहकर। सांझ के समय बैठते पोखर के घाट पर, छोटी-सी चांदी की रिक़ाबी में बेले के फूलों की राशि पर मैं उनके लिये पान सजा देती, तो हंसकर कहते 'ताम्बूलकरङ्कवाहिनी'। तब संसार के सभी परामर्श उन्होंने मुझीसे लिए हैं ; मुझे नाम दिया था 'गृहसचिव' या फिर कभी 'होम सेक्रेटरी।' मैं जैसे भरीपूरी नदी थी—समुद्र में आ मिली थी, अपनी नाना शाखाएं मैंने नाना दिशाओं में विस्तारित कर दी थीं। आज घड़ी भर में ही सभी शाखाओं का जल सूख गया—पथरीला तल बाहर निकल आया।

—भाभी, तुम फिर स्वस्थ हो जाओगी, अपना आसन फिर अधिकृत करोगी—पूर्णशक्ति लेकर।

—मिथ्या आशा मत दिलाओ बाबू ! डाक्टर क्या कहता है सो मेरे कानों तक पहुंचता है। इसीलिये तो इतने दिनों के सुख की गिरस्ती को इस तरह चिमटकर पकड़ रखने के लिये मेरी निराशा की यह कंगाली है।

—ज़रूरत क्या है, भाभी ! इतने दिन जो तुम अपनी गिरस्ती में अपने को निःशेष ढालती आई हो इससे बड़ी बात भला और कुछ हो सकती है ? जिस तरह दिया उसी तरह पाया भी—इतना पाना भी किस नारी को मिलता है ? यदि डाक्टर की बात सच ही हो, यदि जाने का दिन आ ही पहुंचे, तो जिसे ख़ूब विराट् भाव से पाया है, उसे ख़ूब विराट् भाव से ही छोड़ जाओ। इतने दीर्घ दिन जिस गौरव में काटे हैं, उसी गौरव को छोटा क्योंकर करोगी ? जाते हुए इस घर में अपनी अंतिम स्मृति को नवीन महिमा से मंडित कर जाना।

छाती फटी जाती है, बाबू, छाती फटी जाती है। अपने इतने दिनों के आनंद को पीछे छोड़कर मुंह पर हंसी लिए हुए ही चली जा सकती थी किन्तु किसी भी जगह क्या तनिक सी भी संधि न होगी जिसमें मेरे लिये विरह का एक दीया, टिमटिमाता हुआ ही सही, जलता रहेगा ? जब यह बात सोचती हूं तो मरने की भी इच्छा नहीं होती। वह सरला सब कुछ एक दम बेबाक दखल कर लेगी, क्या विधाता का यही निर्णय है ?

—सच्ची बात ही कहूंगा भाभी, नाराज़ न होना। तुम्हारी बात अच्छी तरह समझ ही नहीं पा रहा। जो स्वयं नहीं भोग सकतीं वही प्रसन्न मन से दान भी नहीं कर सकतीं—उसे, जिसे इतने दिन इतना कुछ दिया है ? अपने प्यार पर इतनी बड़ी खरौंट छोड़ जाओगी। अपनी गिरस्ती में अपनी ही श्रद्धा का दीपक तुम आज आप ही चूरचूर करने जा रही हो ? उसकी पीड़ा को तुम तो बरकाकर चली जाओगी लेकिन वह हम लोगों के अंतर में तो सदा कचोटा करेगी। विनती करके कहता हूं, अपने सारे जीवन के दाक्षिण्य को अंतिम क्षण में कृपण मत कर जाना !

नीरजा फफक-फफककर रो उठी। रमेन चुपचाप बैठा रहा, सान्त्वना देने की चेष्टा भी नहीं की। रुलाई का वेग थमने पर नीरजा बिछौने पर उठकर बैठ गई। बोली : एक भीख मांगती हूं बाबू !

—हुकुम दो, भाभी।

—सुनो, कहती हूं। जब आंखों के पानी में हृदय भीतर ही भीतर डूबने-उतराने लगता है, तब परमहंसदेव की उस तसवीर की ओर ताकती रहती हूं। किंतु उनकी वाणी तो हृदय तक नहीं पहुंचती। मेरा मन बुरी तरह क्षुद्र है। जैसे भी हो मुझे किसी गुरु का पता दो ; नहीं तो बंधन नहीं कटेंगे ; आसक्ति में ही फंसी रह जाऊंगी। जिस गिरस्ती में सुख का जीवन काटा, मरकर उसी जगह युगयुगांतर तक दुःख की हवा में रोते-बिसूरते भटकना होगा—इस से बचा लो मुझे, बचा लो !

—तुम्हें तो मालूम है भाभी, शास्त्र में जिसे पाखंडी कहा जाता है मैं वही हूं। कुछ भी मानता-वानता नहीं। प्रभास मित्र बहुत खींचातानी करके एक बार अपने गुरु के पास ले गया उलझ जाने के पहले ही वहां से दी एक दौड़। जेलखाने की भी म्याद होती है लेकिन यह बंधन बेम्यादी है।

—बाबू, तुम्हारा मन पक्का है, तुम नहीं समझ पाओगे मेरी विपद। अच्छी तरह जानती हूं कि जितना ही घबराती हूं उतना ही डूबती जाती हूं अगाध जल में — संभल ही नहीं पा रही।

—भाभी, एक बात कहता हूं, सुनो। जब तक तुम यह समझोगी कि कोई तुम्हारा धन छीने लिये जा रहा है, तब तक छाती का पंजर आग में जलता रहेगा। शांति नहीं मिलेगी। किन्तु स्थिर होकर बैठकर कहो तो भला एक बार : दे डाला मैंने! जो सब से अधिक दुर्मूल्य है वही दे डाला उन्हें—जिन्हें सबसे अधिक प्यार करती हूं!—सब भार पल-भर में ही उतर जाएगा। मन भर उठेगा आनंद से। गुरु की कोई ज़रूरत नहीं। केवल कहो तो अभी : दे दिया, दे दिया, कुछ भी बाक़ी नहीं रखा, अपना सब कुछ दे डाला। निर्मुक्त होकर, निर्मल होकर जाने के लिये प्रस्तुत हो गई हूं मैं, दुःख की कोई गांठ संसार में बांधकर नहीं छोड़ गई!

—आहा, कहो, कहो बाबू, बार-बार मुझे सुनाओ! उन्हें आज तक जो कुछ दे पाई हूं उसीमें आनंद पाया है, आज जो नहीं दे पा रही उसीसे इस तरह चोट खा रही हूं। दूंगी, दूंगी, सब कुछ अपना दे दूंगी—अब और देरी नहीं, अभी, इसी समय। तुम उन्हें बुला लाओ।

—आज नहीं भाभी, कुछ दिन मन को इसमें बांध लो, सहज हो ले तुम्हारा संकल्प।

—नहीं नहीं, और नहीं सहा जा रहा। जब से कह गए हैं, इस घर को छोड़कर जापानी घर में जाकर रहेंगे, तब से यह शय्या मेरे लिये चिताशय्या हो उठी है। अगर न लौटे तो यह रात कटेगी नहीं—छाती फट जागी—मर जाऊंगी। अभी बुला लाओ सरला को। मैं इस सेल को उखाड़ दूंगी अपनी छाती से, डरूंगी नहीं, खूब निश्चयपूर्वक कह रही हूं तुमसे।

—अभी समय नहीं आया भाभी ; आज रहने दो।

—कहीं बीत न जाए समय, यही डर है! अभी बुला लाओ।—परमहंसदेव के चित्र की ओर देखकर दोनों हाथ जोड़कर बोली : शक्ति दो ठाकुर, शक्ति दो, मुक्ति दो मतिहीन अधम नारी को। मेरा यह दुःख मेरे ही भगवान् को छले हुए है, पूजा-अर्चा सब डूब गई है मेरी। बाबू, एक बात कहती हूं, रोकना मत।

—क्या, कहो?

—एक बार मुझे पूजा-घर तक जाने दो—सिर्फ दस मिनट के लिये। इससे मुझे शक्ति मिलेगी—तनिक भी भय बाक़ी नहीं रहेगा।

—अच्छा जाओ, नहीं रोकूंगा।

—आया!

—क्या है बिटिया!

—मुझे पूजा-घर ले चल।

—सो कैसी बात है! डाक्टर साहब—

—डाक्टर यम को नहीं छल सकता और मेरे ठाकुर को छलेगा?

—आया, तुम ले जाओ उन्हें, डरो मत, अच्छा ही होगा।

आया का सहारा लेकर जब नीरजा चली गई तो उसी समय आदित्य कमरे में आया। पूछा : यह क्या, नीरू नहीं है कमरे में?

—अभी आती हैं, पूजा-घर तक गई हैं।

—पूजा-घर? सो तो पास नहीं है। डाक्टर की मनाही जो है।

—सुनो न भैया! डाक्टर की दवा से ज्यादा लाभ होगा। एक बार केवल फूलों की अंजलि देकर प्रणाम करके ही चली आएंगी।

जब आदित्य ने नीरजा को चिट्ठी लिखकर भेज दी थी तब वह इतने स्पष्ट भाव से नहीं जानता था कि अदृष्ट ने उसके जीवन पट पर जो लिपि अदृश्य स्याही से लिख छोड़ी है, बाहर का ताप लगकर वह हठात् इतनी उज्ज्वल हो उठेगी। पहले वह सरला से कहने आया था कि अब और उपाय नहीं है, न्यारे होना ही पड़ेगा।—वही बात कहने की वेला उसके मुंह से उससे उल्टी बात निकली। इसके बाद चांदनी रात में घाट पर बैठे-बैठे उसने बार-बार यही कहा है : जीवन के सत्य का देरी से ही आविष्कार किया है, किन्तु इसीलिये उसे अस्वीकार तो नहीं कर सकेगा। उसका तो कोई कुसूर नहीं, लज्जा करने लायक भी कुछ नहीं है। अन्याय तभी होगा जब सत्य को छुपाने जाए। छुपाएगा नहीं—यह संकल्प स्थिर है; फलाफल जो हो सो हो। यह बात आदित्य खूब भली प्रकार ही समझ गया है कि यदि उसके जीवन के केन्द्र से—कर्म के क्षेत्र से—आज सरला को दूर हटा दे तो उस एकाकीपन में, उस नीरसता में उसका सभी कुछ नष्ट हो जाएगा, उसका कर्म तक बंद हो जाएगा।

—रमेन, तुम हमारी सभी बातें जानते हो, मुझे मालूम है।

—हां जानता हूं।

—आज सब लेना-देना चुका दूंगा, पर्दा उठा फेंकूंगा।

—तुम अकेले ही तो हो नहीं भैया। अपने कंधे के बोझ को इस तरह झाड़-फटकार कर फेंक देने ही से तो काम नहीं चलता। उस ओर भाभी हैं। गृहस्थी की ग्रंथि बड़ी जटिल होती है।

—तुम्हारी भाभी के तथा अपने बीच मिथ्या को टिकाकर खड़ा नहीं रख सकूंगा। बाल्यकाल से सरला के साथ मेरा जो सम्बन्ध है उसमें कोई अपराध नहीं, इस बात को तो मानते हो?

—निःसन्देह मानता हूं।

—उसी सहज सम्बंध के तल में गभीर प्यार ढका हुआ था, कभी जान नहीं पाया, यह क्या हम लोगों का दोष है ?

—कौन कहता है दोष है ?

—आज उसी बात को यदि छुपा रखूं तभी मिथ्याचरण का अपराध होगा। मैं सिर ऊंचा करके ही कहूंगा।

—छुपाओगे ही क्यों और समारोहपूर्वक प्रकाशित ही भला क्यों करने जाओगे ? भाभी के लिये जो कुछ जानने का था सो उन्होंने स्वयं ही जान लिया है। और थोड़े दिन बाद तो इस परम दुःख की जटा अपने-आप ही ढीली होकर खुल जाएगी। तब इसे लेकर तुम मिथ्या खींचा-तानी मत करो। भाभी जो कुछ कहना चाहती हैं उसे सुनो। उसके उत्तर में तुम्हें भी जो कुछ कहना उचित है सो अपने आप ही सहज हो जाएगा।

नीरजा को कमरे में आते देख रमेन बाहर निकल गया।

नीरजा कमरे में प्रवेश करके आदित्य को देखते ही भूमि पर लोटकर उसके पावों में मस्तक रखकर अश्रुगद्गद कंठ से बोली : क्षमा करो, क्षमा करो मुझे, मैंने अपराध किया है। इतने दिन बाद मुझे त्यागो मत—मुझे दूर मत फेंको।

आदित्य ने दोनों हाथों से उसे उठाकर हृदय से लगाए धीरे-धीरे बिछौने पर लिटा दिया। कहा : नीरू, तुम्हारी व्यथा क्या मैं समझता नहीं ?—नीरजा की रुलाई थमना नहीं चाहती। आदित्य धीरे धीरे उसके सिर पर हाथ फेरने लगा। नीरजा ने हाथ खींचकर अपनी छाती पर दबाकर रखा, कहा : मुझसे सच बताना, मुझे माफ़ कर दिया है ? तुम यदि प्रसन्न न हुए तो मरने पर भी मुझे सुख नहीं मिलेगा।

—तुम तो जानती हो नीरू, बीच-बीच में मत-विरोध होता ही रहा है हमारे बीच, किन्तु क्या कभी उसे लेकर मन का मेल टूटा है ?

—इससे पहले तो कभी किसी दिन भी घर छोड़कर तुम नहीं गए। इस बार ही क्यों गए। इतने निष्ठुर तुम कैसे हो गए ?

—मुझसे अन्याय हुआ नीरू, मुझे माफ़ करना ही होगा।

—क्या कहते हो कुछ ठीक नहीं। तुम्हारे ही निकट मेरी सारी सज़ा, सारा पुरस्कार है। अभिमान करके तुम्हारा विचार करने जाकर ही तो मेरी ऐसी दशा हुई थी।—बाबू से सरला को बुला लाने के लिये कहा था, अब तक क्यों नहीं लाए ?

सरला को बुलवाने की बात सुनते ही आदित्य के मन में धक्-से आघात लगा। इस

समस्या को कम-से-कम आज भर के लिये यदि वह दूर टरका सके तो निश्चिन्त हो। इसीसे वह बोला : रात काफ़ी हो गई है, अभी रहने दो।—इसी समय नीरजा बोल उठी : वह सुनो, मुझे लगता है वे लोग द्वार के बाहर खड़े राह देख रहे हैं। बाबू, भीतर आ जाओ तुम लोग।

सरला को लिये हुए रमेन कमरे में आया। नीरजा शय्या छोड़कर उठ खड़ी हुई। सरला ने पाँव छूकर नीरजा को प्रणाम किया। नीरजा बोली : आओ मेरी छोटी-सी बहन, मेरे पास आओ।—कहते हुए सरला का हाथ पकड़कर उसे बिछौने पर बिठाया। फिर तकिए के नीचे से गहने का केस खींचकर एक मुक्ता की माला सरला के गले में पहना दी। कहा : एक दिन इच्छा थी कि जब चिता में मेरा दाह हो, उस समय यह माला मेरे गले में रहे। किंतु उससे यही अच्छा है। मेरी ओर से तुम्हीं गले में पहने रहो—अंतिम दिन तक। विशेष-विशेष दिन यह माला कितनी बार पहनी है सो तुम्हारे भैया जानते हैं। तुम्हारे गले में रहने से वे दिन उन्हें याद आ जाया करेंगे।

—अयोग्य हूं मैं दीदी, अयोग्य हूं, मुझे क्यों लज्जित कर रही हो?

नीरजा ने समझा था आज उसके सर्वदानयज्ञ का यह भी एक अंग है। किन्तु उसके अंतरतर मन की ज्वाला ने ही जो इस दान के भीतर से भी दीप्त होकर प्रकाश पाया—यह बात वह स्वयं भी स्पष्ट नहीं समझ पाई। इस व्यवहार ने सरला को कहां तक दुखाया इसे आदित्य ने समझा। वह बोला : वह माला तुम मुझे दो न सरला। उसका मूल्य जितना मेरे निकट है उतना और किसी के निकट नहीं हो सकता। उसे मैं और किसी को नहीं दे पाऊंगा।—नीरजा बोली : मेरे भाग्य! इतने पर भी शायद समझा नहीं सको। सरला, सुना था इस बाग से तुम्हारे चले जाने की बात हुई थी। यह मैं किसी भी तरह नहीं होने दूंगी। तुम्हें मैं अपनी गिरस्ती के सब कुछ के साथ ही बांध रखूंगी—वह हार इसीका चिह्न है। अपना यही बंधन तुम्हारे हाथों सौंपा था जिससे निश्चिन्त होकर मर सकूं।

—भूल कर रही हो दीदी, मुझे बांधने की इच्छा मत करना, भला नहीं होगा उससे!

—यह कैसी बात है?

—मैं सच बात ही कहूंगी। इतने दिन मेरा विश्वास कर सकती थीं। किन्तु आज मुझपर विश्वास मत करना—यह मैं तुम सभीके सामने कह रही हूं। भाग्य ने जिस दान से मुझे वंचित कर रखा, किसीको वंचित करके वह दान मैं नहीं लूंगी। यह रहा तुम्हारे पैरों में मेरा प्रणाम। मैं चल दी। अपराध मेरा नहीं; अपराध है मेरे उन ठाकुर का जिनकी पूजा सरल विश्वास के साथ रोज़ दोनों बेला करती आई हूं। वह पूजा भी आज मेरी समाप्त हुई!

इतना कहकर सरला द्रुतपद कमरे से बाहर हो गई। आदित्य अपने को रोके नहीं रख सका, वह भी चला गया।

—बाबू, यह क्या हो गया बाबू ? कहो बाबू, कुछ तो कहो।

—इसीलिये मैंने कहा था, आज रात मत बुलाओ।

—क्यों, मन मुक्त करके मैंने तो सभी कुछ दे डाला। उसने क्या यह भी नहीं समझा ?

—समझा क्यों नहीं। समझ लिया कि तुम्हारा मन नहीं खुला। सुर नहीं बोला।

—किसी तरह भी विशुद्ध नहीं हुआ मेरा मन। इतनी मार खाकर भी ! कौन विशुद्ध कर देगा ? हे संन्यासी, मुझे बचालो न। बाबू, मेरा कौन है, मैं किसके पास जाऊंगी ?

—मैं हूं भाभी। तुम्हारा भार मैं लूंगा। तुम अभी तनिक सो जाओ।

—सोऊंगी क्योंकर ? इस घर से यदि वे फिर चले जाएं तब फिर बिना-मरे मुझे नींद नहीं आएगी।

—चले वे जा नहीं सकेंगे, वह उनकी इच्छा के भी बाहर है, शक्ति के भी। यह लो नींद की दवा, तुम्हें सुलाकर ही मैं जाऊंगा।

—जाओ बाबू, तुम लोग जाओ। वे दोनों कहां चले गए जाकर देखो, नहीं तो मैं खुद ही जाऊंगी ; फिर शरीर टूटे तो टूटे !

—अच्छा, अच्छा, मैं जाता हूं।

७

आदित्य को साथ चला आया देखकर सरला ने कहा : क्यों आए ? अच्छा नहीं किया। लौट जाओ। अपने साथ तुम्हें इस तरह बंधने नहीं दूंगी।

—तुम दोगी या नहीं सो तो बात है नहीं, बंध तो गया ही हूं। वह अच्छा हो या बुरा, उसमें हमारा हाथ नहीं है।

—ये सब बातें पीछे होंगी, लौटकर रोगी को शान्त करो।

—हमारे बाप की जो और भी एक शाखा बढ़नेवाली है उसकी बात—

—आज रहने दो। मुझे दो-चार दिन सोचने का समय दो ; अभी तो सोचने की शक्ति नहीं है।

रमेन ने आकर कहा : जाओ, भैया, भाभी को दवा पिलाकर नींद सुला दो, देरी मत करो। किसी भी तरह कोई बातचीत मत करने देना उन्हें, रात काफ़ी हो गई है।

आदित्य के चले जाने पर सरला बोली : कल श्रद्धानन्द पार्क में तुमलोगों की एक सभा होनेवाली है न ?

—है।

—तुम जाओगे नहीं ?

—बात तो थी जाने की। किन्तु इस बार जाना नहीं होता।

—क्यों ?

—सो तुमसे कहकर क्या होगा ?

—तुम्हें डरपोक कहकर सब तुम्हारी निन्दा करेंगे।

—जो मुझे नहीं चाहते, वे मेरी निंदा करेंगे इसमें शक ही क्या है ?

—तब मेरी बात सुनो, मैं तुम्हें मुक्ति दूंगी। सभा में तुम्हें जाना ही होगा।

—कुछ और साफ़ करके कहो।

—मैं भी जाऊंगी सभा में, झंडा हाथ में लिए हुए।

—समझा।

—पुलिस बाधा देगी इसे मानने के लिये तैयार हूं, लेकिन तुम्हारे बाधा देने पर नहीं मानूंगी।

—अच्छा, नहीं दूंगा बाधा।

—तब यही बात ठहरी ?

—हां।

—हम दोनों एक साथ चलेंगे—कल सांझ पांच बजे।

—हां चलेंगे, लेकिन उसके बाद वे दुर्जनगण हमें एक साथ नहीं रहने देंगे।

इसी समय आदित्य आ पहुंचा। सरला ने पूछा : यह क्या, बिल्कुल अभी ही चले आए ?

—दो एक बात कहते-कहते ही नीरजा थककर सो गई, मैं धीरे-धीरे चला आया।

रमेन बोला : मुझे काम है, चलता हूं। सरला हंसती हुई बोली : निवास ठीक कर रखना, भूलना मत।

कोई भय नहीं। परिचित जगह है।—कहकर रमेन चला गया।

८

सरला बैठी हुई थी ; उठकर खड़ी हो गई ; बोली : जो सब बातें कहने की नहीं वे आज मुझसे न कहो, तुम्हारे पैरों पड़ती हूं।

—डरो मत, कुछ नहीं कहूंगा।

—अच्छा, तब मैं ही कुछ कहना चाहती हूं, सुनो, बोलो बात रखोगे ?

—अरक्षणीय न होने पर अवश्य रखूंगा सो तुम जानती हो।

—यह समझना बाक़ी नहीं रहा कि मेरा निकट रहना अब बिल्कुल ही नहीं चल सकता। ऐसे समय दीदी की सेवा कर पाती तो खुश होती, किंतु उसे मेरा भाग्य सहन नहीं कर सकेगा। मुझे गैरहाज़िर रहना ही होगा। ज़रा ठहरो, बात पूरी कर लेने दो। तुमने तो सुन ही लिया है, डाक्टरों का कहना है कि अब उनके अधिक दिन बाक़ी नहीं हैं। इसी बीच उनके मन का काँटा तुम्हें उखाड़ ही देना होगा। इन कुछ दिनों में उनके जीवन पर मेरी छाया किसी भी तरह पड़ने मत देना।

—मेरे मन से यदि अपने-आप छाया पड़े तो क्या कर सकता हूं।

—नहीं नहीं, अपने संबंध में ऐसी अश्रद्धा की बात मत बोलो। साधारण बंगाली लड़के की तरह गीली मिट्टी का बना पिलपिला मन है क्या तुम्हारा ? कभी नहीं ; मैं तुम्हें जानती हूं।—फिर आदित्य का हाथ अपने हाथों लेकर बोली : मेरी ओर से यह व्रत तुम लो। दीदी के जीवनांत काल के ये अंतिम कुछदिन, भरपूर कर दो इन्हें अपने दाक्षिण्य से। एकबारगी भुला दो उनके मन से यह बात कि उनके सौभाग्य के पूर्ण घर को तोड़ने के लिये मैं कभी उनके जीवन में आई थी।

आदित्य चुप खड़ा रहा।

—वादा करो भाई !

—करूंगा किन्तु तुम्हें भी ऐसा वादा करना होगा। कहो, बात रखोगी।

—तुममें और मुझमें एक अंतर है, ऐसा कि यदि मैं तुमसे कोई प्रतिज्ञा कराऊं तो वह साध्य है, किन्तु यदि तुम मुझसे प्रतिज्ञा कराओ तो वह कदाचित् असंभव होगी।

—नहीं, नहीं होगी।

—अच्छा, कहो।

—जिस बात को मन-ही-मन कहता हूं उसे तुम्हारे निकट मुंह से कहना अपराध नहीं। तुम जो कहती हो उसे स्वीकार करता हूं और बिना त्रुटि के उसका पालन करना भी संभव होगा यदि इतनी बात निश्चित जान लूं कि एक दिन तुम मेरी समस्त शून्यता को पूर्ण करोगी। चुप क्यों रह गईं ?

—क्योंकि जानती नहीं हूं भाई, कि प्रतिज्ञा-पालन में किस दिन कौन-सा विघ्न आ पड़ेगा।

—विघ्न क्या तुम्हारे अंतर में है ?—यही बताओ पहले।

—क्यों मुझे दुःख देते हो ? तुम क्या नहीं जानते कि ऐसी भी बातें होती हैं जिन्हें भाषा में व्यक्त करने पर उनका उजाला बुझ जाता है ?

—अच्छा यही सुन लिया ; यही सुनकर काम पर चल देता हूं।

—अब लौटकर पीछे नहीं देखोगे ?

— नहीं। किन्तु अव्यक्त प्रतिज्ञा की सील-मुहर करने की इच्छा हो रही है तुम्हारे मुख पर।

—जो सहज है, उसे लेकर ज़ोर मत करो। अभी रहने दो।

—अच्छा। तब एक बात पूछूं, अब तुम क्या करोगी ? कहां रहोगी ?

—वह भार रमेन भैया ने ले लिया है।

—रमेन तुम्हें आश्रय देगा ! उस हतभाग्य के यहां चूल्हा-चक्की भी है ?

—डरो मत तुम। पक्का आश्रय उनकी अपनी संपत्ति नहीं है, किंतु कोई बाधा नहीं पड़ेगी।

—मैं जान तो सकूंगा ?

—ज़रूर जान सकोगे, बात दिए जाती हूं। किन्तु इस बीच मुझे देखने के लिये तनिक भी व्यस्त नहीं हो सकोगे, प्रतिज्ञा करो।

—तुम्हारा मन भी व्यस्त नहीं होगा ?

—यदि हुआ तो अंतर्यामी के सिवाय और कोई नहीं जान पाएगा।

—अच्छा, किन्तु जाने की वेला भिक्षा-पात्र एकदम शून्य रखकर ही विदा होगी ?

पुरुष की आंखें छलक उठीं। सरला ने पास आकर चुपचाप मुख ऊपर उठा रखा।

९

—रोशनी।

—क्या है बिटिया ?

—कल से सरला को नहीं देख रही ?

—सो क्या कहती हो ! जानती नहीं, सरकार बहादुर ने—

—क्यों, क्या किया था उसने ?

—दरवान को मिलाकर बड़े लाट की मेम साहब के कमरे में घुसी थी।

—क्या करने ?

—जिस बाक्स में महारानी की सील-मुहर रहती है उसीको चुराने। अच्छा जीवट है

—इससे फ़ायदा क्या होता ?

—सुनो भला ! उसको पा गए तब तो सब हो गया। लाट साहब को फांसी दे सकती थी। उसी मुहर की छाप से ही तो इतना बड़ा राज चलता है।

—और देवर बाबू ?

—सेंध लगाने का औज़ार निकला है उनकी पगड़ी के भीतर से। उन्हें हरिणवाड़ी में डाल दिया है। पचास बरस गिट्टी तोड़ेंगे। अच्छा, बिटिया, एक बात पूछूं, घर से जाते समय सरला दीदी अपनी जाफ़रानी रंग की साड़ी दे गई। बोली : अपनी बहू को देना।—मेरी आंखें भीज आईं। उसे कम दुःख तो नहीं दिया ! यह साड़ी अगर रखे रहूं तो कंपनी बहादुर पकड़ेगी तो नहीं ?

—कोई डर नहीं है। लेकिन जल्दी जा, बाहर के कमरे में अखबार पड़ा है, ले तो आ।

नीरजा ने अखबार पढ़ा। बहुत अचरज हुआ, आदित्य ने इतनी बड़ी खबर भी उसे नहीं सुनाई। यह क्या अश्रद्धा करके ? जेल जाकर इस लड़की ने बाज़ी मार ली। यदि शरीर रहता तो मैं क्या नहीं जा सकती थी ? हंसते-हंसते फांसी पर चढ़ सकती थी।

—रोशनी, अपनी सरला दीदी का काण्ड देख लिया ? सरे बाजार भले घर की लड़की होकर—

आया बोली : याद करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं ; चोरों बटमारों का डेरा ! छिः छिः !

—यही सब बहादुरी करते जबर्दस्ती जूझना आता है उसे। बेहयाई की हद कर दी। बाग़ से शुरू करके जेलख़ाने तक। मरते-मरते भी दिमाग़ ठंडा नहीं होता।

आया को जाफ़रानी साड़ी की याद आ गई। बोली : लेकिन बिटिया, दीदी का दिल दरिया है !

बात नीरजा के मर्म में जा लगी ; वह जैसे हठात् धक्का खाकर जाग उठी। बोली : तूने ठीक कहा, रोशनी, ठीक कहा। मैं भूल गई थी। शरीर ख़राब रहने से ही मन ख़राब हो जाता है। पहले से जैसे नीचे उतर गई हूं। छि: छिः, अपने को मारने की इच्छा होती है। सरला चोखी लड़की है, झूठ बात उसे छू नहीं गई। ऐसी लड़की देखने नहीं मिलती। मुझसे कहीं अच्छी है। तू जा, फ़ौरन अपने गणेश सरकार को बुला ला।

आया गई, तो नीरजा पेंसिल लेकर एक चिट्ठी लिखने बैठी। गणेश आया। नीरजा बोली : चिट्ठी पहुंचा सकोगे जेल में सरला दीदी के पास ?—गणेश को अपने कृतित्व का अभिमान था। बोला : पहुंचा दूंगा, अलबत् कुछ खर्च बैठेगा। लेकिन लिखा क्या है, मांजी, सो एक दफ़ा सुनूं क्योंकि पुलिस के हाथों जाएगी चिट्ठी।—नीरजा ने पढ़कर सुनाया :

धन्य है तुम्हारी महानता। अब की जब तुम जेलखाने से वापस आओगी, तब देखोगी कि तुम्हारे पथ के साथ मेरा पथ एक हो गया है।—गणेश बोला : वही जो पथ की बात लिखी है न, वही ज़रा सुनने में कैसी-कैसी लगती है। अपने वकील साहब को दिखलाकर ठीक करा लिया जाएगा।

गणेश चल गया। नीरजा ने मन-ही-मन रमेन को प्रणाम करके कहा : बाबू, तुम्हीं मेरे गुरु हो।

१०

एक प्याले में औषध लिए हुए आदित्य कमरे में आया। नीरजा बोली : यह अब क्या ले आए ?

आदित्य ने उत्तर दिया : डाक्टर कह गया है घंटे-घंटे पर दवा खिलानी होगी।

—दवा खिलाने के लिये शायद मुहल्ले भर में कोई और आदमी नहीं जुड़ा ? न हो, दिन भर के लिये एक नर्स रख दो न, अगर मन इतना ही उद्विग्न होता है।

—सेवा के बहाने यदि तुम्हारे पास आने का सुयोग मिले तो छोड़ूंगा ही क्योंकर ?

—सो उसकी अपेक्षा अगर सुयोग निकालकर बाग के काम पर जाओ तो कहीं ज्यादा खुश होऊंगी। मैं यहां पड़ी हुई हूं और बाग वहां दिन-दिन चौपट हुआ जा रहा है।

—होने दो चौपट ! पहले अच्छी हो जाओ, फिर हम दोनों मिलकर पहले की तरह काम-काज में जुट जाएंगे।

—सरला चली गई है, तुम अकेले पड़ गए हो, काम में मन नहीं लगता। किंतु और चारा क्या है ? इसीलिये नुक़सानी मत होने देना।

—मैं नुक़सान की बात नहीं सोच रहा, नीरू। बाग़वानी मेरा रोज़गार है—यह बात इतने दिन तुम्हींने तो भुला रखी थी। कामकाज में इसीलिये सुख पाता था। अब मन नहीं लगता।

—इस तरह खेद क्यों कर रहे हो ? अभी उस दिन तक तो बड़े मजे में काम करते रहे हो। कुछ दिनों के लिये यदि बाधा हो पड़े तो उसे लेकर इतने व्याकुल मत होना।

—क्या पंखा चला दूं ?

—देखो ज्यादती मत करो तुम ; ये सब काम तुम्हारे करने के नहीं है। ये मुझे

और भी बेचैन कर देते हैं। अगर किसी तरह दिन ही काटना हो तो तुम लोगों का होर्टीकल्चरिस्ट-क्लब तो है।

—तुम्हें जो रंगीन लिली बहुत प्यारी है वह बगीचे में बहुत खोजने पर भी एक भी नहीं मिली। इस बार अच्छी बारिश न होने से पौधों में तेज नहीं है।

—क्या फुजूल कह रहे हो। इससे तो अच्छा तुम हला माली को बुला दो, मैं लेटे-लेटे ही बगीचे का काम करूंगी। तुम क्या यह कहना चाहते हो कि मैंने खाट पकड़ रखी है तो मेरा बाग़ भी खाट पकड़ लेगा? सुनो मेरी बात। सूखे हुए सीज़न-फूलों के पौधों को उखाड़कर वहां की मिट्टी तैयार करा लो। मेरे ज़ीने के नीचे की कोठरी में सरसों की खली के बोरे पड़े हैं। हला के पास उसकी ताली है।

—अच्छा? उसने तो किसी दिन मुझसे इसके बारे में सांस तक नहीं ली।

—वह क्यों लेने चला। उसे क्या तुम लोगों ने कम दिक किया है? कच्चा साहब जिस तरह प्रवीण किरानी की परवा नहीं करता, वैसा ही कहो और क्या!

—हला माली के बारे में अगर सच बात कहने चलूं तो वह अप्रिय हो उठेगी।

—अच्छा, मैं इसी बिछौने पर पड़े-पड़े ही उससे काम कराऊंगी, देखना दो दिन में ही बगीचे का चेहरा फिरता है कि नहीं। बगीचे के नक़्शे में पेंसिल के निशान लगाकर सारा इन्तज़ाम कराऊंगी।

—इसमें मेरा कोई हाथ नहीं होगा।

—नहीं, जाने के पहले इस बाग़ पर समूची अपनी छाप छोड़ जाऊंगी। कहे रखती हूं, रास्ते के किनारे के वे बाटल्-पाम मैं एक नहीं रखूंगी। वहां झाऊ की कतार रोप दूंगी। इस तरह सिर मत हिलाओ। हो जाय तब देखना। तुम्हारा वह लान मैं नहीं रहने दूंगी, वहां संगमर्मर की एक वेदी बंधवा दूंगी।

—वेदी क्या उस जगह खुलेगी?

—चुपचाप देखते रहो, खुलेगी। तुम कुछ भी नहीं कर सकोगे। कुछ दिनों के लिये यह बाग़ सिर्फ मेरा होगा, संपूर्ण मेरा। फिर इसके बाद में उसे तुम्हें दे जाऊंगी। तुम समझते थे कि मेरी ताक़त गई। दिखला दूंगी कि क्या कर सकती हूं। और तीन जन माली मुझे चाहिए और छ-एक मज़दूर। याद है तुमने एक दिन कहा था कि बाग़ को सजाने की शिक्षा मुझे नहीं मिली। मिली कि नहीं, इसकी परीक्षा दे जाऊंगी। तुम्हें यह याद रखना ही पड़ेगा कि यह मेरा बाग़ है, मेरा ही है, इसपर से मेरा स्वत्व किसी भी तरह नहीं टलेगा।

—अच्छी बात है। तो मैं क्या करूंगा?

—तुम अपनी दूकान संभालो ; वहां तुम्हारा आफ़िस का काम भी तो कम नहीं है।

—तुम्हारी देखभाल करूं, सो भी निषिद्ध है ?

—हां, हमेशा मेरे पास ही रहो—वह मैं अब कहां रही। अब तो सिर्फ किसीकी याद भर दिला सकती हूं मैं, सो उससे क्या फ़ायदा ?

—अच्छी बात है। जब तुम्हें मेरा निकट रहना सहन होगा तभी आऊंगा। मुझे बुलवा भेजना। आज डलिया में तुम्हारे लिये गंधराज लाया हूं, रखे जाता हूं तुम्हारी शय्या पर, कुछ खयाल मत करना।—कहकर आदित्य उठ खड़ा हुआ।

नीरजा हाथ पकड़कर बोली : नहीं, जाना नहीं तनिक बैठो।—फूलदानी का एक फूल दिखलाकर बोली : जानते हो इस फूल का नाम ?

आदित्य को मालूम है कि किस उत्तर से उसे खुशी होगी, इसीसे झूठ बोल दिया : नहीं, नहीं जानता।

—मैं जानती हूं। कहूं ?—पैटूनिया। तुम समझते हो मुझे कुछ नहीं आता—मूर्ख हूं मैं।

आदित्य ने हंसकर कहा : तुम सहधर्मिणी हो, यदि मूर्ख हुईं तो कम से कम समान समान मूर्ख होना। हमारे जीवन में मूर्खता का कारोबार साझे से चल रहा है।

—वही कारोबार मेरे भाग्य में इसबार चुकने आया। वह जो दरवान वहां बैठे-बैठे आराम से सुरती मल रहा है, वह ड्यढ़ी पर ही होगा, केवल कुछ दिनों बाद मैं नहीं रहूंगी। वह जो बैलगाड़ी पत्थर का कोयला उंड़ेलकर खाली लौट रही है, उसका आनाजाना रोज़ ही चलता रहेगा, किंतु चलेगा नहीं मेरा यह हृदय-यंत्र !—सहसा आदित्य का हाथ ज़ोर से दबकर बोली : बिल्कुल ही नहीं रहूंगी, कुछ भी नहीं रहेगा ? बताओ मुझे, तुमने तो बहुत पोथी पढ़ी हैं, मुझसे सच-सच कहो न ?

—जिनकी पोथी पढ़ी हैं उनकी विद्या की दौड़ जहां तक है वहीं तक मेरी भी है। यम के द्वार के पास आकर थम गया हूं, और नहीं बढ़ा।

—कहो न, खुद तुम्हें क्या मालूम होता है ! ज़रा भी कुछ नहीं रहेगा—इतना-सा भी नहीं ?

—अभी हूं, यदि यही संभव है, तो उस समय भी हूंगा, यह भी संभव होगा !

—जरूर संभव होगा। वह बाग संभव हो और मैं ही असंभव हो जाऊं—ऐसा हो ही नहीं सकता, किसी भी तरह नहीं। सांझ के समय इसी तरह झुटपुटे में कौए अपने घर लौटेंगे, इसी तरह सुपारीवृक्ष की शाखाएं डोलती होंगी—ठीक मेरी ही दृष्टि के सामने। उस दिन तुम

याद रखना कि मैं हूं, मैं हूं, समूचे बाग़ में व्याप्त मैं हूं। हवा जब तुम्हारे केशों को उड़ाए तब याद करना कि उसमें मेरी अंगुलियों का परस है। बोलो, याद करोगे ?

आदित्य को कहना पड़ा : करूंगा।—किन्तु ऐसे सुर में नहीं कह पाया जिससे उसका विश्वास प्रमाणित हो सके।

नीरजा बेचैन होकर बोल उठी : जो लोग तुम्हारी पोथियां लिखते हैं, बड़े पंडित बनते हैं, किंतु कुछ भी नहीं जानते वे लोग। मुझे निश्चित मालूम है कि मैं यहीं रहूंगी, मैं तुम्हारे ही निकट रहूंगी, बिल्कुल सुस्पष्ट देख पा रही हूं। यही तुमसे कहे जाती हूं, वचन हारे जाती हूं कि तुम्हारे बगीचे के पेड़-पौधे सभी कुछ की देख भाल मैं करूंगी, जिस तरह पहले करती थी उससे कहीं अच्छी तरह करूंगी। किसीकी भी ज़रूरत नहीं होगी—किसीकी भी नहीं।

नीरजा बिस्तर पर लेटी हुई थी ; उठकर तकिए से टिककर बैठ गई, बोली मुझपर दया करो, दया करो। तुम्हें इतना प्यार करती हूं इसे ही याद करके मुझ पर दया करो। इतने दिन जिस ममता से तुमने मुझे अपने घर में जगह दी, उस दिन भी ऐसे ही देना। ऋतु-ऋतु में जो-जो फूल खिलेंगे, उन्हें मन ही मन चुनकर मेरे हाथों देना। यदि तुम निष्ठुर हो पड़े तब तो मैं यहां नहीं रह पाऊंगी। मेरा बाग़ अगर मुझसे तुम छीन लो तो किस शून्य में—हवा के साथ—मैं उतराती भटकूंगी!

नीरजा की दोनों आंखों से आंसू झरने लगे। आदित्य मोढ़ा छोड़कर बिछौने पर जा बैठा। नीरजा का मुंह छाती से लगाकर धीरे-धीरे सिर पर हाथ फेरने लगा। कहा : नीरू, शरीर नष्ट न करो।

—जाए मेरा यह शरीर! मैं और कुछ नहीं चाहती, केवल तुम्हें चाहती हूं इस सभी कुछ के साथ। सुनो, एक बार कहती हूं, नाराज़ न होना मुझपर, नाराज़ न होना......कहते-कहते गला रुंध आया। फिर किंचित् शांत होकर बोली : सरला पर अन्याय किया है। तुम्हारे पैर छूकर कहती हूं, अब और अन्याय नहीं करूंगी। जो हो गया उसके लिये मुझे माफ़ करो किंतु मुझे प्यार करो, प्यार करो मुझे तुम! जो कहो मैं सब करूंगी।

आदित्य बोला : शरीर के साथ-साथ मन भी अस्वस्थ था नीरू, इसीलिये झूठमूठ तुमने अपनेको पीड़ित किया।

—सुनो, मैं कहूं। कल रात से बारबार प्रण किया है कि अब की भेंट होने पर उसे अपनी ही छोटी बहन की तरह निर्मल चित्त से छाती से लगाऊंगी। इस अंतिम प्रतिज्ञा की रक्षा में तुम मेरी सहायता करो। बोलो, मैं तुम्हारे प्रेम से वंचित नहीं होऊंगी, तब मैं सभी को अपना-प्यार देकर जा सकूंगी।

इस बात कोई उत्तर नहीं दिया आदित्य ने, केवल बार-बार उसका मुख और माथा चूम लिया। नीरजा की आंखें ढुलक आईं। दम भर बाद उसने पूछा : सरला कब छूटेगी, दिन गिन रही हूं। डर लगता है, कहीं उसके पहले ही न मर जाऊं।—कहीं उसे बतला न पाऊं कि मेरा मन बिल्कुल साफ़ हो गया है। अब दीपक जला दो। मुझे पढ़कर सुनाओ अक्षय बड़ाल की 'एषा'।—तकिये के नीचे से नीरजा ने किताब निकालकर बढ़ा दी। आदित्य पढ़कर सुनाने लगा।

सुनते-सुनते जैसे ही तनिक आंखें झिपी थीं कि आया ने कमरे में आकर कहा : चिट्ठी। नींद की झीनी पड़ता को सहसा छिन्न करके नीरजा चौंक उठी, छाती धड़कने लगी। किसी मित्र ने आदित्य को समाचार दिया है कि जेल में स्थानाभाव के कारण जिन कुछेक कैदियों को म्याद चुकने से पहले ही छोड़ दिया जायगा उनमें सरला भी एक है। आदित्य का मन उछल पड़ा। प्राणपण शक्ति से हृदय का उल्लास दबाए रहा। नीरजा ने पूछा : किसकी चिट्ठी है, क्या खबर है ?

पढ़ते हुए कहीं गला कांप न उठे, इस भय से आदित्य ने चिट्ठी नीरजा के हाथों में ही थमा दी। नीरजा ने आदित्य के मुंह की ओर देखा। मुंह में बात नहीं थी लेकिन बात की ज़रूरत भी नहीं थी। कुछ देर नीरजा के मुंह से भी बात नहीं निकली। फिर खूब ज़ोर से बोली : तब तो और देरी नहीं है। आज ही आएगी। उसे मेरे पास लाओगे ?

—यह क्या! क्या हुआ नीरू! नर्स! डाक्टर हैं ?

—बाहर हैं।

—फ़ौरन बुला लाओ। यह तो हैं डाक्टर! अभी-अभी खूब सहज शरीर से बातचीत कर रही थी, बोलते-बोलते बेहोश हो गई।

डाक्टर नाड़ी थामे हुए चुप हो गया।

थोड़ी ही देर में रोगी ने आंखें खोलते ही कहा : डाक्टर, मुझे बचाना ही होगा। सरला को बिना देखे नहीं जा सकूंगी, उससे अच्छा नहीं होगा। उसे असीस दूंगी—अंतिम असीस!

आंखें फिर मुंद आईं। हाथ की मुट्ठी सख्त हो गई; बोल उठी : बाबू, अपनी बात रखूंगी, कृपण की तरह नहीं मरूंगी!

कभी चेतना क्षीण होने से दुनिया धुंधली हो आती है तो कभी फिर प्रदीप की तरह जीवन-शिखा जल उठती है। पति से रह-रहकर पूछती है : कब आएगी सरला ?

रह-रहकर पुकार उठती है; रोशनी!

—बिटिया !

—बाबू को अभी बुला दे।—फिर एकबार स्वयं ही बोल उठी : मेरा क्या होगा, बाबू ! दे दूंगी, दे दूंगी, दे दूंगी।

तब रात नौ बजे थे।

नीरजा के कमरे के कोने में हलकी रोशनी में मोमबत्ती जल रही है। हवा में दोलन-चंपे की खुशबू बसी हुई है। खुली खिड़की से दिखाई दे रही है बगीचे के वृक्षों का पुंजीभूत कालिमा और उसीके ऊपर आकाश में 'कालपुरुष' का नक्षत्र-पुञ्ज। रोगी की नींद की आशंका से सरला को द्वार के बाहर खड़े करके आदित्य धीरे-धीरे नीरजा के बिछौने के पास आया।

देखा, होंठ कांप रहे हैं मानों निःशब्द कुछ जप रही हो। सुधि और बेसुधी से जड़ित विह्वल मुख है। कानों के निकट तक सिर झुकाकर आदित्य ने धीरे से कहा : सरला आई है। तनिक सी आंखें खोलकर नीरजा बोली : तुम जाओ !—एक बार पुकार उठी : बाबू ! कहीं से कोई उत्तर नहीं सुनाई दिया।

सरला ने आकर प्रणाम करने के लिये जैसे ही पांव छुए, वैसे ही मानों विद्युत् के आघात से नीरजा का समस्त शरीर आक्षिप्त हो उठा। पांव द्रुत गति से अपने आप ही खिंच गए। टूटे गले से नीरजा बोली : नहीं हुआ, नहीं हुआ, मैं नहीं दे सकूंगी, नहीं दे सकूंगी।

बोलते-बोलते देह में अस्वाभाविक शक्ति आ गई—आंखों की तारिका फैलकर जलने लगी। खूब दबाकर पकड़ रखा सरला का हाथ, कण्ठस्वर तीक्ष्ण हो आया, बोली : तुझे जगह नहीं मिलेगी, राक्षसी, जगह नहीं मिलेगी। मैं रहूंगी, रहूंगी, रहूंगी।

और सहसा ढीली शेमीज़ पहनी हुई वह पाण्डुवर्ण शीर्णमूर्ति बिछौना त्यागकर उठ खड़ी हुई। अद्भुत कंठ से बोली : भाग, भाग अभी, नहीं तो दिन दिन शेल बेधूंगी तेरी छाती में, तेरा खून सोख लूंगी।—कहते-कहते फ़र्श पर ढेर हो गई।

गले की आवाज़ सुनकर आदित्य दौड़ता हुआ कमरे में आया। प्राणों की सारी शक्ति समाप्त करके नीरजा की अंतिम बात तब तक स्तब्ध हो चुकी थी।

[अनु०—मो० बा०

आदि काव्य

देवराज

व्याधे को क्रौञ्च-मिथुन में से एक का वध करते देख कवि के हृदय में, अनुश्रुति के अनुसार, जो करुणा उमड़ आई थी उसने भारतीय साहित्य के पहले श्लोक को जन्म दिया। आदि काव्य के मूल में भी कवि की यही करुणा-वृत्ति है। कैकेयी द्वारा राम और अयोध्या का तथा रावण द्वारा राम और सीता का बरबस विच्छिन्न किया जाना, यही रामायण का मुख्य विषय है। राम कथा में वियोजित व्यक्तियों—अयोध्या और सीता—का मरण नहीं होता, इसीलिए महाकाव्य सम्भव हुआ है। दशरथ की मृत्यु इसमें अपवाद कही जा सकती है, किन्तु अयोध्या काण्ड में कवि की करुण अनुभूति की मुख्य व्यञ्जना उससे पहले है। शाप की कथा दशरथ की मृत्यु को गौण घटना बना देती है। दशरथ के लिये रोती हुई कौशल्या राम को नहीं भूलतीं, कोई दूसरा भी नहीं भूलता।

क्रौञ्च के मारे जाने पर कवि वाल्मीकि के मुख से एक श्लोक निकल पड़ा। कवि को आश्चर्य हुआ ; उन्होंने अपने शिष्य से कहा—'अक्षरों और मात्राओं के नियम वाला, वीणा जैसी लय से युक्त, मेरे शोकार्त हृदय से निकला हुआ यह श्लोक व्यर्थ न हो।' आदि कवि की यह भावना मानव-हृदय के उस चिरन्तन पक्षपात को प्रकट करती है जिसमें कविता उद्भूत और परिपालित होती है। जीवन और जगत् के प्रति अपनी रागात्मक प्रतिक्रिया को मनुष्य अमर बनाकर रखना चाहता है। अपने शोकोद्गार पर कवि को आश्चर्य हुआ था, इसलिये कि उनकी शोक-भावना का कोई दीखने योग्य उपयोग नहीं था। बाह्य जगत् और दूसरे मनुष्यों के व्यापारों को देख कर कभी-कभी हमारे हृदय में सुख, दुख, हर्ष, उद्वेग, आदि की ऐसी भावनाएँ उमड़ पड़ती हैं जिनका कोई प्रत्यक्ष हानि-लाभ नहीं होता। प्रभात में सूर्योदय और फूलों के विकसित होने के दृश्य से जब हम आह्लादित होते हैं तब हम यह सोचने को नहीं रुकते कि इस आह्लाद या उल्लास से हमें कोई लाभ होगा। अपनी आह्लाद-भावना को दूसरों पर प्रकट करने से भी कोई लाभ नहीं है। फिर भी, न जाने क्यों, इस प्रकार के अनुभवों को दूसरों पर प्रकट करके हम सन्तुष्ट होते हैं। मानव-हृदय की यह निरुपयोगी वृत्तियां ही काव्य-साहित्य का शाश्वत विषय हैं। वस्तुतः इन निरुपयोगी भावनाओं या वेदनाओं के अनुभव-काल में ही मनुष्य यथार्थ में मनुष्य होता है। जिस समय हम जीविका और धन के चक्कर में इधर-उधर घूमते और लड़ते-झगड़ते फिरते हैं उस समय हम पशुओं से विशेष भिन्न नहीं होते। किन्तु मोटी

बुद्धि के लोगों के लिये जो उपयोगी है वही मूल्यवान् है। आदि कवि को भी इसका पूरा निश्चय नहीं था कि उनको उपयोग-शून्य शोक-भावना और उसकी अभिव्यक्ति का कोई मूल्य है। इसीलिए स्वयं ब्रह्मा जी को आकर कवि के शोकोद्गार की महत्त्व-घोषणा करनी पड़ी। साहित्य की उत्पत्ति के विषय में इससे अधिक रोचक इतिहास की कल्पना असम्भव थी।

काव्य-साहित्य में जिन हृदयगत भावनाओं की व्यञ्जना होती है वे विशिष्ट परिस्थितियों के आघात से उठती हैं; रस की अनुभूति के लिये आलम्बन और उद्दीपन की अपेक्षा होती है। आदि कवि के समय तक, काव्य-परम्परा के अभाव से, विराट अनुभव जगत में से आलम्बनों और उद्दीपनों का कृत्रिम छटाव नहीं हो पाया था। इसीलिये हम वाल्मीकि के काव्य में विश्व-जगत को उसकी सम्पूर्णता में पाते हैं। आदि कवि की दृष्टि छोटे शिशु के समान कौतूहलमयी है; उनकी कविता में मानवता जैसे बाह्य जगत् और उसकी उपस्थिति में उठनेवाली भावनाओं से नया-नया परिचय प्राप्त कर रही है। कवि का हृदय आकाश की तरह मुक्त है; उसमें तरह तरह के सम्वेदनों, रूपों-रंगों और आकृतियों के झोंकों के लिये पर्याप्त स्थान है। आदि कवि का अनुभव-जगत् एक प्रजातन्त्र राष्ट्र है, जिसमें वन, नदी, पर्वत, पशुओं, पक्षियों और मनुष्यों के लिये समान स्थान है—वहां अभी तक मानव-हृदय के प्राधान्य की चेतना नहीं जगी है।

प्रकृति के विशाल साम्राज्य से कवि का अखण्ड परिचय है। नदियों के कछारों, वनों के दुर्गम अभ्यन्तरों, और पर्वतों के दुर्लंध्य शिखरों पर; हेमन्त में और शिशिर में, वसन्त और वर्षा में, ग्रीष्म और शरद में; कवि की कल्पना स्वच्छन्द भ्रमण करती है हिमालय से समुद्र तक लम्बी यात्रा करनेवाली गंगा का कौन सा रूप, कौन सी छवि है जिसे वाल्मीकि नहीं जानते? 'जल के आघात से गंगा जी उग्र अट्टहास-सा करतीं हैं; निर्मल फेनों में वे हँसतीं हैं कहीं उनका जल वेणी के आकार का लगता है, कहीं भँवर उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं। गंगा का प्रवाह कहीं स्थिर और गम्भीर है, कहीं वेगवान और चञ्चल। उसमें कहीं श्रुति-मधुर गम्भीर शब्द होता है और कहीं भयोत्पादक कोलाहल।..................उसमें निर्मल कमल खिले हुए हैं। तीर में कहीं पानी भरा है और कहीं स्वच्छ रेत फैला हुआ है। गंगा के तट पर हंस, सारस, चक्रवाक आदि तरह-तरह के पक्षी बोलते और क्रीड़ा करते रहते हैं। कहीं तीर के वृक्ष उसे माला सी पहना रहे हैं, कहीं उत्पल फूले हैं; कहीं कमल-वन हैं, कहीं कुमुद-षण्ड हैं; तरह-तरह के फूलों की धूल से गंगा उन्मद हो रही हैं। उसके किनारे के वन तरह-तरह के हाथियों के शब्द के प्रतिध्वनित रहते हैं। इस नैसर्गिक सम्पत्ति के अतिरिक्त वाल्मीकि की गंगा देवताओं, दानवों, गन्धर्वों, और अप्सराओं द्वारा नित्य सेवित रहती हैं। उनकी पम्पा पुष्करिणी (झील) "पद्मोत्पलझषाकुला" है। 'वैदूर्य मणि के समान निर्मल उसका जल है;

वहाँ के ऊँचे पेड़ शिखर-वाले पर्वतों से मालूम पड़ते हैं। पम्पा का जल शीतल है और उस पर तरह-तरह के फूल बिखरे हुए हैं। तरह-तरह के सर्प, पशु और पक्षी पम्पा को घेरे रहते हैं। प्रकृति-जगत का वर्णन करती हुई वाल्मीकि की लेखनी कभी नहीं रुकती? उनके कल्पना-नेत्रों की दर्शन-शक्ति अपार है। 'लक्ष्मण! देखो यह पुष्पित वन उसी प्रकार फूल बरसा रहा है जैसे बादल जल बरसाते हैं। वायु के वेगों से कँपाए हुए वृक्ष मेरे ऊपर पुष्प वर्षा कर रहे हैं। जो फूल गिर गए हैं, जो गिर रहे हैं और जो पेड़ों में लग रहे हैं उन सबसे वायु क्रीड़ा कर रही है। फूलों से लदी हुई वृक्षों की शाखाओं को इतस्ततः विक्षिप्त करने वाले चञ्चल वायु के साथ भौंरे जा रहे हैं। मत्त कोकिलाएँ बोल रहीं हैं, मानो पवन वृक्षों को नाचने की शिक्षा दे रहा है। पर्वत की कन्दराओं से निकलता हुआ अनिल (वायु) जाता हुआ सा मालूम पड़ता है।' पञ्चभूतात्मक प्रकृति में ऐसी कौन सी वस्तु, कौन सा दृश्य है जिसको वाल्मीकि ने नहीं देखा है? वन और उपवन की ऐसी कोई लता, कोई पुष्प, कोई पेड़ या पौधा नहीं है जिसके नाम, रूप-रंग, और गन्ध से आदि कवि परिचित नहीं। 'पम्पा, के तीर पर मीठी गन्ध वाले मालती, मल्लिका, कमल और करवीर फूल रहे हैं। केतकी, सिन्दुवार, वासन्ती, मातुलिङ्ग, कुन्द, गुल्म, मधूक, वञ्जुल, वकुल, चम्पक, तिलक, नागवृक्ष,…………अंकोल, कुरण्ठ, आम, पाटल, कोविदार, शिंशपा, शिरीष, शाल्मली, किंशुक, हिन्ताल, नक्तमाल, चन्दन, आदि असंख्यों पुष्पित वृक्ष पुष्पित लताओं द्वारा आलिंगन किए गए शोभित हो रहे हैं।'

कवि ने इसी प्रकार पंचवटी, दण्डकारण्य, अरिष्ट पर्वत आदि का विशद वर्णन किया है। आदि कवि की पशु-जगत में भी काफी अभिरुचि है। जिस मृग को देख कर सीता मोहित हो गईं थीं और जो उनके हरे जाने का कारण हुआ वह 'कहीं सफेद था कहीं काला; लाल कमल के समान उसका मुख था और नीलोत्पल के समान कान; इन्द्रनीलमणि जैसा उसका उदर और मधूक पुष्प के समान उसके पार्श्व थे; उसकी गर्दन कुछ उठी हुई थी, उसके खुर वैदूर्य मणि जैसे थे, उसकी उठी हुई पूँछ इन्द्रधनुष के रंग की लगती थी।………सीता को लुभाने के लिए वह हरी-हरी घास और वृक्षों के कोमल पत्रों को खाता फिर रहा था।' सुन्दर और युद्धकाण्ड में कवि ने वानरों की गतियों और स्वभाव का मनोहर वर्णन किया है। लंका में पहुँचकर हनुमान जी बहुत समय तक सीता जी को ढूंढते रहे, किन्तु वे उन्हें कहीं दिखाई न पड़ीं। काफ़ी देर बाद वे रावण के शयनागार के सम्मुख पहुँचे और वहाँ सुन्दरी मन्दोदरी को देखकर उन्हें भ्रम हुआ, कि यह सीता है उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा।—

आस्फोटयमास चुचुम्ब पुच्छम् ननन्द चिक्रीड़ जगौ जगाम।
स्तम्भानरोहन् निपपात भूमौ निदर्शयन् स्वां प्रकृतिं कपीनाम्॥

वे पूँछ को पटकने और चूमने लगे, खुश होने लगे, खेलने लगे, गाने लगे, इधर उधर घूमने लगे तथा खम्भों पर चढ़ने और उतरने लगे। इस प्रकार वे अपनी वानर-प्रकृति दिखाने लगे। सीता की खबर लेकर आए हुए हनुमान जी ने समुद्र के तट पर प्रतीक्षा करने वाले बानरों को जब यह बताया कि उन्होंने सीता को देख लिया है तो वे सब बड़े प्रसन्न हुए। उनमें से कुछ वानर अव्यक्त शब्द करने लगे, कुछ गरजने लगे ; किलकिल शब्द करने लगे, और कुछ अपनी पूँछ उठाकर हर्ष प्रकट करने लगे ; कुछ अपनी लम्बी चौड़ी पूँछ हिलाने लगे, और कुछ पर्वत-शिखरों पर कूद कर हनुमान जी को छूने लगे।

प्राकृतिक जगत में ही नहीं मानव-जगत में भी ऐसा कोई दृश्यमान पदार्थ नहीं है जिससे वाल्मीकि परिचित न हों। विधाता ने मनुष्य को जिस भौतिक रंगभूमि में सृष्ट किया है और स्वयम् मनुष्य ने जिस भौतिक वातावरण का निर्माण किया है उस सबको वाल्मीकि अच्छी तरह जानते हैं। आदि कवि के समय तक मानव-मस्तिष्क अधिक जटिल नहीं हो पाया था ; उसकी इच्छाएँ और वेदनाएँ स्पष्ट थीं और प्रायः मनुष्य के भौतिक आवरण में उनके हेतु का पता लगाया जा सकता था। अतएव उस काल के कवि के लिए मानव-हृदय और मानव-मस्तिष्क की कुञ्जी मनुष्य के सामाजिक और भौतिक अधिष्ठान में मिल सकती थी—उसे पाने के लिये मनोविज्ञान की गहराइयों में पैठने की आवश्यकता न थी। आदि कवि इस कुञ्जी को पूरी तरह हस्तगत कर चुके थे। मानव निर्मित अयोध्या के आकार-प्रकार से वे उतने ही परिचित हैं जितने कि प्रकृति-निर्मित नदी-पर्वतों और बनों से। 'कोशल नाम के धन-धान्य-सम्पन्न सुन्दर जनपद में अयोध्या नाम की लोक-प्रसिद्ध नगरी थी। बारह योजन लम्बी जिसमें विस्तृत ठीक बँटी हुई सड़कें थीं। उसके राज-मार्ग में फूल बिखरे रहते थे, प्रतिदिन जल का छिड़काव होता था। अयोध्या के द्वार पर कपाट और तोरण थे, उसके भीतर सुन्दर बाजार लगे थे ; उसमें तरह तरह के यन्त्र और शस्त्र थे और विद्वान शिल्पी रहते थे। उस नगरी में सैकड़ों सूत और मागध (स्तुति करने वाले) थे, ऊँची अट्टालिकाएँ थीं जिन पर झंडियाँ लगी हुई थीं, शतघ्नियाँ थी, वेश्याएँ थी, नाटक-मण्डलियां थी ; उद्यान थे, आम के वन थे और शाल के वृक्षों की चारदीवारी थी। किला था ; गहरी खाई थी ; वह घोड़ों, हाथियों, बैलों, ऊँटों और गधों से भरी थी। वहाँ राजा के सामन्त रहते थे और नाना देशों के व्यापारी आते थे ; पर्वतों जैसे रत्न-जटित प्रासाद और अनेकों गुप्त गृह, सब रत्नों से परिपूर्ण, चावल, धान और ईखों से भरी हुई ; दुन्दभी, मृदंग, वीणा आदि से नित्य निनादित ; उसके वनों में मत्त सिंह, व्याघ्र और वराह थे ; और नगर भाग में छै अंगा सहित वेदों को जानने वाले विद्वान् तथा सत्यवादी महात्मा !' वाल्मीकि अपने वर्णन में केवल उन वस्तुओं की ही गणना नहीं करते जो सुन्दर हैं, अथवा जो हृदय को आकर्षित करती हैं।

उनकी अयोध्या कालिदास को अलकापुरी नहीं हैं जिसमें केवल हृदय को मोहनेवाली ही सामग्री हो, इसके विपरीत वह नाना आवश्यकताओं वाले मनुष्य के निवास योग्य स्थान है। वाल्मीकि सर्वत्र इसी तरह के सम्पूर्ण चित्र देने की चेष्टा करते हैं।

आदि कवि को नामों से विशेष प्रेम है। वे यह कह कर नहीं छोड़ देंगे कि किसी वनस्थली में तरह-तरह के वृक्ष हैं ; कौन कौन है यह बताना भी आवश्यक समझते हैं। बहुत सी और विविध वस्तुओं के दर्जनों नाम गिनाकर वे अपने चित्रों को विराटता की झलक दे देते है। पञ्चवटी में खरदूषण की जिस सेना ने आकर राम को घेर लिया मुद्गर, पट्टिश, शूल, फर्से, खड्ग, चक्र, तोमर, शक्ति, परिघ, धनुष, गदा, तलवार, मुसल, बज्र आदि असंख्य अस्त्र थे। इनसे भी सन्तुष्ट न हो कर वे बाद को असंख्य शाल, ताल, आदि वृक्षों, शिलाओं आदि की वर्षा करते हुए लड़ने लगे। 'धनुषों से, अलंकारों से, रथों से और अग्नि के रंग वाले कवचों से माँस-भक्षी राक्षसों की वह सेना सूर्योदय के समय के नील मेघ समूह के समान मालूम होती थी।'

युद्धकाण्ड में दोनों पक्षों के योद्धाओं का वर्णन है। शुक और सारण नाम के रावण के सचिवों ने राम की सेना देखने के बाद रावण को राम के सेनाध्यक्षों अथवा यूथपों के नाम और पराक्रम बतलाया। ऐसा प्रतीत होता है कि आदि कवि को नामों की कल्पना या सृष्टि करने में थोड़ा सा भी आयास नहीं होता। सुषेण, कुमुद, नील, नल, गज, गवाक्ष, गवय, शाल, मैन्द, द्विविद, क्रथन सन्नादन, रम्भ, केसरी, आदि नाम कानों को बड़े यथार्थ और विश्वासजनक लगते हैं। कवि इन विचित्र नामों का प्रयोग बड़े अधिकार से करता है। अकम्पन, अतिकाय, महोदर, पिशाच निकुम्भ नरान्तक आदि केवल नाम ही नहीं वास्तविक व्यक्ति हैं ; कवि के मानस-चक्षुओं के सामने वे सचमुच अतिकाय, और अकम्पन बनकर क्रियाशील होते हैं। प्रहस्त के विरुद्ध लड़ते हुए जब वानर अधिक पराक्रम करने लगे तब नरान्तक, कुम्भ, हनु और ऊँचे महानाद का क्रुद्ध होना स्वाभाविक था ; वे वानर सेना को मारने लगे। तब द्विविद ने एक पर्वत-शृंग उखाड़कर नरान्तक पर प्रहार किया। जाम्बवन्त ने कुपित होकर एक बड़ी शिला महानाद के वक्षःस्थल पर फेंकी। पराक्रमी कुम्भ, हनु, तार नाम के वानर से लड़ने लगा ; उस वानर ने उसे एक बड़े वृक्ष से मार डाला। प्रहस्त इसे कैसे सहन कर सकता था ? धनुष हाथ में लेकर रथ पर चढ़ा हुआ वह बनचारी वानरों का भयंकर कदन (विनाश) करने लगा।

आदि कवि मुख्यतः बाह्य जगत के द्रष्टा हैं। यह नहीं कि उन्होंने मानव-हृदय की उपेक्षा की है ; उनका हृदय सम्वेदनों और भावनाओं के लिये बाह्य जगत को कुछ अधिक अपेक्षा रखता है। वाल्मीकि का मनुष्य 'सेण्टीमेण्टल' नहीं है, वह छोटी-छोटी बातों के लिये विचलित नहीं होता। वाल्मीकि के पात्र क्षुद्र वस्तुओं के लिये या साधारण परिस्थितियों में नहीं रोते।

कवि उनके रोने, हँसने अथवा प्रभावित होने का प्रचुर एवं विस्तृत कारण उपस्थित कर देता है। वाल्मीकि का मनुष्य आत्मनिष्ठ प्राणी नहीं है, वह सामाजिक और भौतिक वातावरण में रहने वाला है। उसके हृदय का उद्वेग प्रायः सदैव बाह्य जगत के आघात का परिणाम होता है। आदि काव्य में मानव-हृदय को हलचल सदैव सामाजिक और भौतिक हलचलों की समानान्तर होती हैं; मानो मानव-हृदय के दर्पण में बाह्य जगत् अपना ही भावात्मक परिणाम या प्रतिबिम्ब देखता है।

कवि को जहां कहीं भी हृदय के गम्भीर आलोड़न को दिखाना होता है वहां वे उनके भौतिक हेतुओं और चिह्नों का विस्तार से वर्णन करते हैं। यह हेतु और चिह्न प्रायः बाह्य जगत में होनेवाली महत्त्वपूर्ण घटनाएं होती हैं। कैकेयी की वर प्राप्ति के बाद सुमन्त राम को बुलाने जाते हैं। पाठक सोचते हैं कि राम अब आए, अब आए; पर ऐसा नहीं। वाल्मीकि सुमन्त के पहुंचने पर एवम् राम के निकलने और आने का वर्णन अनेक सर्गों में करेंगे। इस वर्णन द्वारा वे पाठकों के हृदय पर यह अंकित कर देंगे कि वन को जाने की आज्ञा से पहले अभिषेक की आशा लगाए राम कैसे ठाट-बाट से रह रहे थे। सुमन्त ने जाकर राम का गृह देखा 'कैलास पर्वत के समान ऊँचा, इन्द्र-गृह की सी कान्ति वाला; उसमें बड़ा फाटक था और भीतर सैकड़ों वेदियां; वहां सोने की प्रतिमाएं लगी थीं तथा मणि और मूंगे का तोरण था; वह शरद के मेघ के समान स्वच्छ और कान्तिमान् था; मणि-मालाओं से अलंकृत, मोतियों से भरा हुआ, चन्दन और अगर से सुगन्धित, सारसों और मोरों से मुखरित, नाना पक्षियों से भरा हुआ वह घर हृदय और नेत्रों को अपनी कान्ति से तृप्त करता था।......सुमन्त उसमें बिना रोक टोक के प्रवेश कर गए, जैसे मकर बहुत से रत्नों वाले समुद्र में प्रवेश करता है।' अन्तःपुर में राम सीता के साथ उसी प्रकार शोभित थे जैसे चन्द्रमा चित्रा के साथ होता है। सुमन्त ने राम से कहा कि—'आपके पिता आपको देखना चाहते हैं।' सुमन्त को देखकर राम बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा कि अपनी प्रिय पत्नीके साथ बैठे हुए महाराज ने जब सुमन्त जैसे शुभचिन्तक को दूत बनाकर भेजा है तो वे अवश्य ही मुझे आज ही युवराज पद देंगे। वे शीघ्रता से घर से निकल कर चले जैसे पर्वत की गुफा में से सिंह निकलता है। दरवाजे पर उन्होंने हाथ जोड़े हुए लक्ष्मण को देखा। तदनन्तर राम मणियों और सुवर्ण से विभूषित, अपनी कान्ति से नेत्रों को हरने वाले, मेघ जैसे शब्द वाले सुन्दर रथ पर बैठे जिसमें हथिनी के शिशुओं के समान आशुगामी अश्व जुड़े थे। छत्र और चंवर लिए लक्ष्मण उनके पीछे बैठे। सैकड़ों हज़ारों मनुष्य उनके पीछे चले। खड्ग और धनुषधारी अंग रक्षक सिपाही उनके साथ जा रहे थे। बन्दी स्तुतियां गा रहे थे। मार्ग में अट्टालिकाओं की खिड़कियों से झांकने वाली सैकड़ों

स्त्रियां उनपर फूलों की वर्षा करने लगीं। कुछ स्त्रियां सुन्दर वचनों से राम का अभिनन्दन करती हुई उन्हें राज्याभिषेक के निमित्त बधाइयां देने लगीं। कुछ माता कौशल्या और भार्या सीता के भाग्य की बड़ाई करने लगीं।

इस प्रकार ऐश्वर्य स्तुतियों और आशीर्वादों के बीच में चलकर कैकेयी के घर में राम ने यह सुना कि उन्हें वनवास की आज्ञा हुई है। वैषम्य अथवा भाग्यपरिवर्तन का इतना मर्मभेदी चित्र विश्व-साहित्य में कम मिलेगा।

महाकाव्य-रचना के लिये राम-कथा का चुनाव कवि की प्रतिभा के बहुत ही अनुरूप हुआ है। राम के जीवन जैसी गहरी विषमताएं अथवा विराट उथल-पुथल अन्यत्र कहां मिलेंगे? जिसके हृदय में सुख-दुख की अनुभूति की थोड़ी भी क्षमता है वह राम-कथा से द्रवित बिना हुए नहीं रह सकता। आग की चिनगारी की उपेक्षा की जा सकती है, धधकती हुई ज्वाला की नहीं। एक सम्राट् का पुत्र, जिसका अभिषेक होने को है, अपनी कोमलांगी पत्नी के साथ निर्वासित होने का आदेश पाता है; संसार में इस से बड़ा स्थिति-वैषम्य और क्या होगा?

वाल्मीकि सामूहिक चेतना के चित्रण में सिद्धहस्त हैं। इस तथ्य का एक पहलू यह है कि वे जन-समूह के लिये लिखते हैं। कहा जाता है कि प्राचीन काल में राम-कथा जन-समाज के सामने गाई जाती थी। साधारण जनता छोटी बातों से प्रभावित नहीं होती, वह कम संवेदनशील होती है। वाल्मीकि जिन आवेगों को जगाते हैं उनकी उपेक्षा साधरण से साधारण भावुकता का व्यक्ति भी नहीं कर सकता। दूसरे, आदि कवि वैयक्तिक की अपेक्षा सामूहिक सुख-दुख की अभिव्यक्ति ज्यादा अच्छी कर सकते हैं। राम का निर्वासन एक सामूहिक दुर्घटना है। राम तो उसके कष्ट को महसूस भी नहीं करते। व्यक्तियों में उससे सब से ज्यादा प्रभावित होते हैं दशरथ और सुमन्त। किन्तु निर्वासन की महत्ता इसमें है कि वह संपूर्ण अयोध्या को शोकसागर में निमग्न कर देता है। अयोध्या के व्यापक क्रन्दन में होकर राम गुजरते हैं, और सिसकती हुई अयोध्या को छोड़ कर वे वन को प्रस्थित होते हैं।

रोती और विलखती हुई अयोध्या को कवि की लेखनी ने पूर्णरूप से जीवित बना दिया है। अयोध्या के सारे नर-नारी, राजा और प्रजा, वृद्ध और बालक, यहां तक कि उसके पशु-पक्षी भी राम के देश-निकाले पर क्रन्दन करते हैं। 'राम के राजभवन से निकलते ही स्त्रियां कुररियों की तरह चीख उठीं। दशरथ के जिस घर में पहले मुरज, पणव आदि बाजे बजते थे वह अब विलाप और रुदन के स्वर से परिपूर्ण हो गया। राम रथ में बैठ कर चले; वह सम्पूर्ण नगरी, बालकों और वृद्धों सहित, उसी प्रकार राम के पीछे दौड़ी जैसे प्यासा जल के पीछे दौड़ता है। लोग चीख-चीख कर सारथि से कहते हैं कि 'घोड़ों की रासों को खींचो और धीरे धीरे रथ

चलाओ, हम राम का मुख देख लें जिसका दर्शन अब दुर्लभ हो जायगा।' 'मैं अपने प्यारे पुत्र को देखूंगा' यह कहते हुए राजा दशरथ दीन स्त्रियों से घिरे हुए बाहर निकले। उनके आगे स्त्रियां आर्तस्वर से रो रहीं थीं, जैसे यूथपति हाथी के बाँधे जाने पर हथिनियां शब्द कर रहीं हों। स्वयम् दशरथ ग्रह-ग्रस्त चन्द्रमा से प्रतीत हो रहे थे। उधर रामचन्द्र जी सुमन्त से कह रहे थे कि जल्दी-जल्दी रथ चलाओ, इधर लोग चिल्ला रहे थे कि रथ को रोको। 'राजा दशरथ आवाज़ लगा रहे थे कि रुको, और राम कह रहे थे कि चलो; सुमन्त की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें।' राम ने सुमन्त से कहा कि तुम राजा से कह देना कि तुमने उनकी रुकने की आज्ञा सुनी नहीं। राम के पीछे आते हुए दशरथ से अमात्यों ने कहा 'महाराज! जिसका जल्दी लौट आना वाञ्छनीय हो उसे बहुत दूर तक पहुंचाने नहीं जाना चाहिए।'

राम के अयोध्या से निकलते ही अन्तःपुर की स्त्रियां उच्च स्वर में रोने लगीं जिसे सुनकर दशरथ अत्यन्त दुखी हुए। हाथियों ने मुंह का ग्रास छोड़ दिया, गायों ने बछड़ों को दूध पिलाना बन्द कर दिया............नक्षत्र श्रीहीन हो गए, ग्रहों का तेज जाता रहा; दिशाएं जैसे अन्धकार से भर गईं।' किसी का आहार विहार में मन नहीं लगता था, शोक संतप्त अयोध्यावासी दीर्घ निश्वास भरते थे। अयोध्या की हवा शीतल नहीं थी, न चन्द्रमा सौम्यदर्शन; था; वहाँ कोई प्रसन्न नहीं दीखता था, सब शोकाकुल थे, सब की आँखों में आँसू थे।

राम के निर्वासन के बाद अयोध्या उजड़ी सी दीखने लगी। वहाँ कोई आनन्द नहीं मनाता था, कोई प्रसन्न नहीं होता था; व्यापारी दूकानों में माल नहीं सजाते थे; सम्पत्ति नष्ट होने पर कोई शोक नहीं करता था और धन प्राप्ति से किसीको खुशी नहीं होती थी। पहले पुत्र को पाकर भी माता आनन्द नहीं मनाती थी। भरत ने लौटकर देखा कि अयोध्या नगरी अरण्य जैसी भासित हो रही है। वहाँ हाथी, घोड़े और गाड़ियाँ चलना बन्द हो गया था और बाग बगीचे सूने पड़े थे। वहाँ पहले की तरह पक्षी नहीं बोल रहे थे और चन्दन, अगुरु आदि से सुगन्धित पवन नहीं बह रही थी। वहाँ बाजे बजना बन्द हो गए थे और एक विचित्र प्रकार की निस्तब्धता छाई हुई थी। अयोध्या पुरी नितान्त श्रीहीन और दीन दीख रही थी।

रावण द्वारा हरी गईं, राम से दूर अशोकवाटिका में वियोग की घड़ियाँ काटती हुई सीता का भी कवि ने मार्मिक वर्णन किया है। किन्तु उस वर्णन में भी सीता के हृदय की अपेक्षा उनके विरह-मलिन शरीर और उनकी त्रासपूर्ण परिस्थिति का ही अधिक विशद वर्णन है। सीता की दीन-मलिन छवि का चित्र देने के लिये कवि ने दर्जनों उत्प्रेक्षाएं कर डाली हैं। वे शुक्लपक्ष के आदि की चन्द्रलेखा-सी, धुएं से ढकी अग्नि शिखा-सी, अपने झुण्ड से अलग हुई शिकारी कुत्तों से घिरी हुई हरिणी-सी, अश्रुपूर्ण मुखवाली, अनशन से कृश, गिरी हुई ऋद्धि-सी, नष्ट हुई

आशा-सी, भयंकर अपवाद से कलुषित कीर्ति-सी प्रतीत हो रही थीं। हनुमान जी उन्हें कठिनता से पहचान सके। जब रावण उन्हें समझाकर हार गया तब उसने राक्षसियों को आदेश दिया कि वे सीता को तरह-तरह के भय दिखलावें। निशाचरियों के इस भय-प्रदर्शन का कवि ने लम्बा वर्णन दिया है। उनके विकृत वेष और सीता जी का अंग भंग करने तथा उन्हें खा लेने की धमकियों से वे कदली की तरह कांपती हुई गिर पड़ीं। इस सम्पूर्ण वर्णन में कवि ने हमारी करुणा जगाने के लिये सीता के भौतिक क्लेशों का विवरण दिया है। आदि काव्य में हम हृत सीता के सूक्ष्म मानसिक सन्तापों का वर्णन कम पाते हैं।

वाल्मीकि सीता की अपेक्षा अयोध्या की व्यथा को ज्यादा अच्छा व्यक्त कर सके हैं, यह इस बात का निदर्शन है कि वे मनुष्य के सुख-दुख की अभिव्यक्ति उन्हें विराट भौतिक परिवर्तनों से सम्बद्ध करके अधिक सफलता से कर सकते हैं। कवि की दृष्टि में मानव-हृदय के यही विकार महत्त्वपूर्ण हैं जो बड़े बड़े सामाजिक और भौतिक परिवर्तनों के प्रतिध्वनि-स्वरूप हैं। आदि काव्य में मनुष्य की चेतना के कम सम्वेदनशील स्तर ही व्यञ्जित हो पाए हैं। रामायण में वही व्यक्ति, वही भावना महत्त्वपूर्ण है जो दीखने योग्य बड़े परिवर्तनों का कारण बन जाती है। कैकेयी का स्थान रामायण के प्रधान पात्रों में है, उसीकी प्रेरणा से दशरथ राम को निर्वासित करने को विवश हो जाते हैं। दशरथ के कैकेयी के वशीभूत होने का कारण उस रानी का सौन्दर्य था। इस सौन्दर्य की शक्ति का कवि को अच्छी तरह आभास है। मन्थरा पर यह जोर से प्रकट करके कि वह भरत को राज्य और राम को वनवास दिलाएगी, कैकेयी सब गहने छोड़कर बिना बिछौ भूमि पर स्वर्ग से गिरी किन्नरी के समान लेट गई। उसके फेंके हुए आभूषण पृथ्वी को उसी प्रकार सुशोभित कर रहे थे जैसे आकाश को नक्षत्र। वृद्ध दशरथ ने प्राणों से भी प्यारी कैकेयी को पृथ्वी पर पड़े हुए देखा—वह काटी हुई लता सी, गिरी हुई देवता सी, तिरस्कृत किन्नरी-सी, स्वर्ग-भ्रष्ट अप्सरा-सी.........प्रतीत हो रही थी। स्त्रियों के वर्णन में वाल्मीकि प्रायः अनेक उपमाओं द्वारा उनकी शारीरिक कान्ति और आकर्षण का वर्णन कर देते हैं। हनुमान द्वारा देखी गई रावण के अन्तःपुर की स्त्रियों का वर्णन इसी प्रकार का है। सीता के सौन्दर्य-वर्णन में भी शारीरिक वर्णन की प्रधानता है।

हमने कहा कि आदि कवि को उन भावनाओं और व्यक्तियों का वर्णन करना अच्छा लगता है जो किसी न किसी भांति विराट सामाजिक और भौतिक परिवर्तनों से सम्बद्ध हैं, स्वयम् इन परिवर्तनों और घटनाओं में भी कवि की काफ़ी अभिरुचि दिखाई पड़ती है। करुण-रस के बाद जिस रस का आदि कवि अधिक सफल परिपाक कर सके हैं वह अद्भुत रस है। सारी रामायण आश्चर्यमय और रोमहर्षण घटनाओं तथा वृत्तान्तों से भरी पड़ी है। अयोध्याकाण्ड के बाद

कवि का मुख्य विषय आश्चर्य और कुतूहल की सृष्टि बन जाता है। राम को पद पद पर राक्षसों का सामना करना पड़ता है, और राक्षस मायावी हैं। विराध कबन्ध के वर्णन पाठकों के हृदय में विस्मयपूर्ण विनोद भदेते हैं। जैसे कवि अयोध्याकाण्ड में जगाई गई मर्मान्तिक करुणावृत्ति को दबाने या भुलाने की चेष्टा कर रहा हो। युद्ध काण्ड में राम-कथा का यह अद्भुत रस एक अपूर्व ढंग से वीररस में मिल जाता है।

वाल्मीकि के अद्भुत वर्णनों का रस लेते समय आधुनिक पाठक को अपना यथार्थ का आग्रह कम कर देना पड़ता है। वास्तव में काव्य और विज्ञान अथवा दर्शन के यथार्थ में भेद है। विज्ञान और दर्शन की दृष्टि से यथार्थ वह है जिसकी अवाधित सत्ता है ; काव्य का यथार्थ वह है जो हमारे हृदय और कल्पना को स्पर्श करता है।

काव्य साहित्य में वास्तविक अयथार्थ वह है जो कवि अथवा उसके पात्रों में से किसीमें गहरी रागात्मक प्रतिक्रिया नहीं जगाता। इस दृष्टि से देखने पर वाल्मीकि के शस्त्रास्त्र, उनके कुम्भ, निकुम्भ, रावण और कुम्भकर्ण तथा उनके विचित्र युद्धायोजन अपदार्थ नहीं हैं। मेघनाद जब समूची रामसेना को नागास्त्र से मूर्छित कर देता है तब उसके बचे हुए नेताओं और देवताओं में भी हाहाकार फैल जाता है। इसीलिए रावण-पुत्र के उस अस्त्र को यथार्थ मानना पड़ता है। दूसरे प्रकार लक्ष्मण के लगी हुई शक्ति भी यथार्थ है और केतु की तरह उत्थित हुआ कुम्भकर्ण, जिसे देख कर राम कहते हैं कि मैंने ऐसा अद्भुत जन्तु कभी नहीं देखा, वानरों से कह दो कि यह एक विचित्र मन्त्र है, जिससे वे निर्भय हो जायं, भी यथार्थ है।

रामायण में एक बहुत ही अद्भुत दृश्य की सृष्टि तब हुई है जब कुपित राम अपनी प्रार्थना में विफल हो कर समुद्र को सुखा डालने का संकल्प करते हैं। जैसे ही राम ने धनुष पर ब्रह्मास्त्र रक्खा कि पृथ्वी और आकाश मानो फटने लगे और पर्वत काँपने लगे,.........दिशाएं प्रकाशित हो गईं, सरोवर और सरिताएं क्षुब्ध हो उठीं। पेड़ टेढ़े होकर सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों से टकरा गए और सूर्य के उदित होने पर भी विश्व अन्धकार से ढक गया। आकाश में सैकड़ों उल्काएं चमकने लगीं......अत्यन्त तेज आंधी चलकर वृक्षों को उखाड़ने और बादलों को विकीर्ण करने लगी। वायु के वेग से पर्वतों की बहुत सी चोटियां टूट पड़ीं और आकाश से बिजलियां बरसने लगीं। जो प्राणी दिखाई और जो दिखाई नहीं देते थे वे सब बड़ा भयानक शब्द करने लगे। ऊँची लहरों वाला समुद्र का जल अनेक जलचर प्राणियों के साथ बड़े वेग से तीर को डांक कर एक योजन इधर उधर फैल गया।......और तब रत्नों की मालाएं पहने, पद्म-पलाश जैसे नेत्रवाला, सिर पर सब ऋतुओं के पुष्पों की दिव्य माला धारण किए गंगा, सिन्धु आदि नदियों और दीप्त मुखवाले महासर्पों के साथ अपने जल में से निकल कर राम को प्रसन्न करने के लिए समुद्र आया'।

यथार्थ और अयथार्थ सम्बन्धी कल्पित पक्षपातों से अपनी बुद्धि को मुक्त करके यदि हम वाल्मीकि के इन वर्णनों को पढ़ें तो कोई कारण नहीं है कि हमें उनमें वास्तविक काव्यानुभूति न हो। वास्तव में जो चीज़ रामायण के पढ़ने वाले को कभी कभी थका देती है वह उसका अलौकिक तत्त्व नहीं बल्कि अनावश्यक वर्णन विस्तार है। एक ही प्रकार की लड़ाइयों, अस्त्र-प्रयोगों और आश्चर्यों के वर्णन से काफी धैर्यवाला पाठक भी ऊब जाता है। कभी कभी तो वाल्मीकि एक ही घटना को अनेक परिस्थितियों में कई बार उल्लेख कर डालते हैं। हनुमान के सीता को ढूँढ़ने और लंका जलाने आदि का वर्णन यों ही बहुत लम्बा है, उसके बाद जब हनुमान अपने कृत्यों को साथियों के सम्मुख विस्तार से सुनाने लगते हैं तो सचमुच पाठकों को धीरज रखना कठिन हो जाता है।

कवि ने वर्णना-शक्ति की भाँति अपनी सादृश्य-ग्राहिणी अथवा अलंकार-विधायिनी प्रतिभा का भी दुरुपयोग किया है। आदि काव्य में जगह जगह उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का अतिव्यय पाया जाता है। उपमा अथवा अलंकारों (प्रायः सब महत्त्वपूर्ण अलंकार सादृश्य-मूलक हैं) का प्रयोग हृदय-गत भाव को अधिक स्पष्ट अथवा मूर्त बनाने के लिये होता है न कि स्वयम् अपने लिये ; वाल्मीकि इस सिद्धान्त को नहीं मानते। कहा जाता है कि अपनी एक उपमा—इन्दुमती को दीपशिखा कहने—के कारण कालिदास का नाम दीपशिखा कालिदास पड़ गया। किम्बदन्ती इस तथ्य को प्रकट करती है कि अलंकारों के प्रयोग में भी उनकी संख्या की अपेक्षा भावव्यञ्जकता अधिक महत्त्वपूर्ण है। आलोचकों का मत है कि उपमाएँ कालिदास की कृतियों में आदि काव्य की उपमाओं का शतांश भी नहीं है। यह भी नहीं कि वाल्मीकि सुन्दर उपमाएँ नहीं देते, कहीं कहीं उनकी उपमाएँ कालिदास की उपरोक्त उपमा के समान अतीव सुन्दर होती हैं, किन्तु उनकी मिश्रित व्यञ्जकतावाली बहुत सी उपमाओं के जमघट में ऐसी उपमाओं का सौन्दर्य छिप जाता है। कैकेयी पर एक उपमा देखिए—'मंथरा का प्रस्ताव सुनकर वह हर्ष से भरी शरद की चन्द्रलेखा के समान पर्यंक से उठ बैठी। इसी पर्यंकशायिनी कैकेयी को अन्यत्र कवि ने वेदी में स्थित अग्निशिखा कहा है। किन्तु यह उपमाएं हमें इस लिये बहुत अधिक आकर्षिक नहीं करतीं कि उनके आगे-पीछे काफ़ी व्यर्थ पदावली और निरर्थक अलंकार रहते हैं।

प्रकृति-जगत में अद्भुतता की दृष्टि से अन्तरिक्ष के चित्रपट पर दीखने वाली व्यक्तियों और घटनाओं का प्रधान स्थान है। मानव-जगत का वर्णन करते हुए आदि कवि बहुधा द्युलोक सम्बन्धिनी उपमाओं का आश्रय लेते हैं। बिना राम के विलाप करते हुए राजा दशरथ घर में उसी प्रकार घुसे जैसे सूर्य बादलों में प्रवेश करता है—सूर्य के समान ही वे घर आते पूर्णतया श्रीहीन हो गए। रोती हुई कौशल्या को समझाते हुए, सुमित्रा ने कहा—तुम सोच मत करो,

वन से लौटकर राम जब तुम्हारा अभिवादन करेंगे तो तुम वर्षा की मेघमाला की भांति आनन्दाश्रु विसर्जन करोगी , तुम अपने आनन्द के आँसुओं से नमस्कार करते हुए पुत्र को उसी प्रकार नहलाओगी जैसे मेघराजि पर्वत का सिंचन करती हैं।' अत्यन्त चमकीले आभरणों, रथों, कवचों और धनुष आदि अस्त्रों से खरदूषण आदि की सेना ऐसी लग रही थी जैसे सूर्योदय के समय नीला मेघसमूह। युद्ध में राम के शरीर से जगह जगह रक्त निकलने लगा ; उस समय वे ऐसे मालूम पड़ते थे जैसे सन्ध्याकालीन मेघों से घिरा हुआ सूर्य। मायामृग की जीभ जम्भाई लेते समय मुख से निकली हुई ऐसी लगती थी मानो बादल में से बिजली निकल रही है। राम और लक्ष्मण से रहित सीता को, सूर्य और चन्द्रहीन सन्ध्या की भांति रावण ने देखा। बिना रामचन्द्र के सीता का मुख उसी प्रकार शोभित नहीं हो रहा था जैसे दिन में उगा हुआ चन्द्रमा। रावण के साथ आकाश में जाती हुई सीता जो कि अपने तेज से प्रकाशित थीं, उल्का के समान मालूम होती थीं। अग्नि के समान चमकदार उनके शरीर से गिरते हुए आभूषण टूटते हुए तारों से मालूम पड़ रहे थे। उनके स्तनों के बीच से गिरा हुआ चन्द्रमा की कान्तिवाला हार गगनच्युत गंगा की तरह दिखाई दिया।

हनुमान जी जब सीता को खोजने के लिये समुद्र पार कर रहे थे तब उनके शरीर की बहुत सी पुष्पित लताएं आदि लिपटी हुई साथ जा रही थीं ; उस समय वे बिजलियों से विभूषित उठते हुए मेघ के समान मालूम हो रहे थे। रावण पुत्र त्रिशिरा रथ पर अपने कान्तिमान धनुष को लिए हुए उस मेघ के समान शोभित होने लगा जिसमें उल्का और बिजली हो, ज्वला हो और इन्द्रधनुष हो।

जैसा कि हमने कहा वाल्मीकि मुख्यतः बाह्य जगत के द्रष्टा हैं। उनके काव्य में दृश्य जगत का जैसा विविध और विराट चित्र खींचा गया है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। कवि के समय में पुराण-इतिहास और यथार्थ के बीच भेदक रेखा नहीं खींची गई थी, इसीलिये उनकी कृति में दोनों का स्वच्छन्द सम्मिश्रण है। राम-कथा अपने मूल रूप में शौर्य के कृत्यों और प्रयत्नों की कथा है ; उसके पात्रों की महत्ता उनकी कर्मण्यता में है। मानव-हृदय और और उसके आवेगों का स्वतः कुछ मूल्य है इस की चेतना वाल्मीकि में नही है। रामायण के प्रारम्भ में ही रामचन्द्र में पाए जाने वाले महनीय गुणों की गणना की गई है ; वे गुणवान हैं, वीर्यवान हैं ; धर्मज्ञ हैं, कृतज्ञ हैं, चरित्रवान हैं, विद्वान हैं, समर्थ हैं, प्रियदर्शन हैं, उन्होंने क्रोध को जीत लिया है, और युद्ध में जब उन्हें क्रोध आता है तब उनसे देवता भी डरते हैं। इन गुणों में कुछ तो नैतिक हैं और कुछ का सम्बन्ध शक्ति से है वाल्मीकि के राम मनुष्य होते हुए भी साधारण मनुष्यों से बहुत ऊपर हैं। वाल्मीकि की दृष्टि में राम की महत्ता खास तौर

से उनकी मनुष्यता, उनकी सहृदयता में नहीं, अपितु उनके लोकोत्तर चरित्र और शक्ति में है। सम्पूर्ण रामायण में मनुष्य का महत्त्व आंकने का कवि के पास यही मापदण्ड है। हम यह नहीं कहते कि यह मापदण्ड ठीक नहीं है, किन्तु एक बात स्पष्ट है—वह विशिष्ट रूप में साहित्यिक मापदण्ड नहीं है। राम की जगह यदि कोई दूसरा नायक होता जिसका जीवन साधारण मनुष्य के सुख-दुखों और भाग्य-परिवर्तनों का बना हुआ होता तो सम्भवतः वह वाल्मीकि की लेखनी को आकर्षित नहीं करता। वाल्मीकि का काव्य प्रजातन्त्र के भक्तों को अधिक पसन्द आनेवाली चीज नहीं है।

किन्तु फिर भी, लोकोत्तर होते हुए भी, वाल्मीकि के राम मनुष्य हैं, राग-द्वेष से परे सन्त या ईश्वर नहीं। राज्य-प्राप्ति की सम्भावना से वे प्रसन्न होते हैं, और वन में तथा लंका में अप्रत्याशित संकटों के आने पर वे जगह-जगह कैकेयी का उपालम्भ भी कर डालते हैं। एक जगह तो राम की निचले स्तर की मनुष्यता की अभिव्यक्ति असह्य हो उठती है—जब वे कहते हैं कि मुझे इसका दुःख नहीं है कि सीता दूर है और हर ली गई है ; मुझे यही सोच है कि उनकी अवस्था अथवा यौवन ढला जा रहा है।

बड़े बड़े अनुष्ठानों और व्यापारों—शक्ति की अभिव्यक्ति—से सम्बद्ध होने के अतिरिक्त भी मानव व्यक्तित्व का कुछ महत्त्व है, इसकी झलक भी आदि काव्य में कहीं कहीं मिल जाती है। सीता जी के हर जाने पर विलाप करते हुए राम सहसा कुपित होकर लक्ष्मण से कहते हैं—'अवश्य ही देवता लोग मुझे निर्वीर्य समझते हैं।......यदि उन्होंने मुझे सीता सकुशल वापिस न दी तो मैं त्रैलोक्य का क्षय कर दूंगा। तुम इस समय मेरे पराक्रम से जगत को आकुल और मर्यादा-हीन हुआ देखोगे।' सीता के लिये राम का जगत को ध्वंस कर देने का यह संकल्प सीता के व्यक्तित्व के महत्त्व को प्रकट करता है। इसी प्रकार लंका में सीता को पहचान कर उनके रूप आदि की प्रशंसा करते हुए हनुमान जी कहते हैं—ऐसी सीता के बिना जीवित रहकर राम ने सचमुच ही बड़ा दुष्कर कार्य किया है। 'इनके लिए यदि राम समुद्र पर्यन्त पृथ्वी को पलट दें तो भी मेरी समझ में उचित ही होगा। त्रैलक्य का राज्य सीता की एक कला के बराबर भी नहीं है।' विश्व-जगत में साहित्य की दृष्टि से मनुष्य का संवेदनशील और भावुक हृदय ही—वह हृदय जो प्रेम और सहानुभूति के लिए आकुल रहता है—एक मात्र मूल्यवान् पदार्थ है, इस तथ्य का आदि काव्य में आभास मात्र ही मिल सकता है। वाल्मीकि की काव्य-साधना में वास्तविक कला-चेतना की प्रसव-वेदना पाई जाती है।

आदि काव्य के विस्तृत और व्यापक प्रभाव का प्रमुख कारण उसका करुण कथानक और नैतिक आकर्षण है। संसार के साहित्य में राम-कथा के समान हृदय और कल्पना को स्पर्श करने

वाली कोई दूसरी कहानी गढ़ी गई है, इसमें सन्देह है। राम के जीवन की पृष्ठ-भूमि से पारिवारिक जीवन का जो अभूतपूर्व आदर्श विकसित हुआ है उसने भारतीय गृह-जीवन के पथ को युग-युग में आलोकित किया है ; उसने गृहस्थों को कष्ट सहकर भी सौहार्द-पूर्वक रहने का अमूल्य पाठ पढ़ाया है। आज व्यक्तिवाद के युग में गरीबी तथा अशिक्षा से विकृत हुआ कौटुम्बिक जीवन का यह आदर्श हमें खटकने लगा है। इससे राम-कथा की प्रतिष्ठा कम होने का भय है, किन्तु फिर भी वाल्मीकि की ओजस्विनी लेखनी से ग्रथित रामकाव्य, जिसका तुलसी के मानस में पुनरुज्जीवन हुआ है, चिरकाल तक मानव-जाति के सम्मुख पिता-पुत्र, भाई-भाई और पति-पत्नी के निर्मल प्रेम के सौन्दर्य और महत्त्व की घोषणा करता रहेगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। 'जब तक हिमालय आदि पर्वत हैं, जब तक गंगा आदि नदियां हैं, तब तक रामायण की कथा लोक में प्रचलित रहेगी।' ब्रह्मदेव की यह आशीर्वादात्मक भविष्यवाणी इतिहास और काल के अनेकों युगों से सत्य सिद्ध होती आ रही है।

पुस्तक-परिचय

भारत और चीन (इण्डिया ऐण्ड चाइना) एक हज़ार वर्ष तक के चीन और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध पर डा० प्रबोधचन्द्र बागची एम. ए. डाक्टर एस लिटरेचर (पेरिस), कलकत्ता युनीवर्सिटी के अध्यापक द्वारा लिखित, और चाइना प्रेस लिमिटेड, प्रिंसेप स्ट्रीट, कलकत्ता पि० २७ द्वारा प्रकाशित अँगरेज़ी पुस्तक।
पृ० सं० २४४, मूल्य ५), छपाई साधारण।

चीन और भारत के सम्बन्ध में भारतीयों की जानकारी ज्यों ज्यों बढ़ती जारही है त्यों त्यों इस विषय के साहित्य में भी नई नई कृतियाँ सामने आती जा रही हैं। डा० बागची भारतीयों में एकमात्र ऐसे पंडित है जो चीनी भाषा के जानकार हैं और सचमुच उनसे ऐसे विषय पर उत्तम ग्रन्थ लिखे जाने की आशा की जा सकती है। प्रस्तुत पुस्तक में चीन और भारत के एक हज़ार वर्षतक के अविच्छिन्न सम्बन्ध पर बहुत सी जानकारी संग्रह की गई है। ग्रन्थ में लेखक ने मूल चीनी ग्रन्थों से सहायता नहीं ली है और सारा ग्रन्थ फ्रेंच पंडितों—लेवी और पिल्ट आदि के शोधपर ही निर्भर है, यद्यपि डा० बागची ने कहीं कहीं कुछ निजी सम्मतियां भी दी हैं। परन्तु आज हम लेवी आदि की अपेक्षा उनकी सम्मति और उनकी निगाह को विशेष रूप से जानना चाहते हैं।

प्राचीन समय में किन्हीं दो देशों के सांस्कृतिक सम्बन्ध को जानने से पहले उस देश के यातायात के मार्ग को जानना बहुत ज़रूरी है। डा० बागची ने पहले अध्याय में ही इसपर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला है। उन्होंने चार मार्गों का ज़िक्र किया है—पहला मध्य एशिया के रास्ते से, दूसरा तिब्बत के रास्ते से, तीसरा दक्षिण पश्चिम चीन (युन्-नान् प्रान्त) के रास्ते से और चौथा समुद्र द्वारा। इन चारों मार्गों में दक्षिण पश्चिम चीन से भारत का सम्बन्ध हुआ है या नहीं इसपर साफ़ तौर पर तब तक कुछ नहीं कहा जा सकता जब तक तद्विषयक सारे प्रमाणों को अच्छी तरह न परख लिया जाए। • शेष तीनों से निःसन्देह ही भारत और चीन में यातायात होता रहा है। दूसरे और तीसरे अध्यायों में क्रम से भारत में चीन और चीन में भारत से आने जानेवाले पण्डितों का जिक्र है। यह दोनों अध्याय बहुत सुन्दर हुए हैं। कितनी ही बातों का विश्लेषण बहुत सुचारुरूप से किया गया है। शुआन्-चुआङ्, फ़ा-शिआन् और इ-चिङ् आदि के भारत आने में क्या क्या प्रयोजन था? भारत के तथा पश्चिम के पण्डितों ने अब तक जो बतलाया है वह यही है कि वे लोग बौद्ध तीर्थों की यात्रा के लिये आए थे। पर डा० बागची के हिसाब से उनके भारत आने का उक्त कारण बहुत ही गौण है। शुआन्-चुआङ् वस्तुतः योगाचार शास्त्रों को सीखने आए थे। फा-शिआन् और इ-चिङ् विनय विषयक शोध करने के लिये आए थे। वस्तुतः यही ठीक है। चीनी भिक्षु संघ में जब पहली बार विनय-विषयक मत उत्पन्न हुआ तो भदंत फ़ा-शिआन् आए और जब दूसरी बार तब इ-चिङ् आए। भारतीय पण्डितों के चीन जाने का ब्यौरा बहुत अच्छी तरह से कालक्रम से दिया गया है। इस ग्रन्थ का चौथा

अध्याय बड़ा ही मूल्यवान् है। इसमें बुद्धगया से मिलनेवाले चीनी भाषा के उपलब्ध पांचों अभिलेखों का अनुवाद है जिनसे कितनी ही ऐतिहासिक बातों पर प्रकाश पर पड़ता है। अनुवाद में कुछ भूले ज़रूर हो गई हैं। यहां दो का उल्लेख कर देना ज़रूरी है। पहले अभिलेख में **षाङ्-षङ्-चिङ** का अनुवाद उत्तरजन्म सूत्र (=Sutras relating to the higher birth) कर दिया है पर वस्तुतः यह ठीक नहीं है क्यों कि षाङ्-षङ्-चिङ् वस्तुतः कुआन्-मि-लो-षाङ्-षङ् तउ-ल्यू का संक्षिप्त रूप है जिसका अर्थ है: **तुषित लोक में अवलोकित और मैत्रेय का अनुत्तर जन्म**। दूसरे अभिलेख में **खो-यून्** जो कि चीनी भिक्षु का नाम है उसे **यून्-षु** कर दिया गया है। शायद नाम के अन्तर्गत **खो** को उन्होंने पृथक् शब्द समझ लिया और **षु** जो पृथक शब्द था उसे नाम के साथ जोड़ दिया है।

पुस्तक में और कितनी ही बातें है जिनपर यहां काफ़ी कहा जा सकता है पर उनके कहने का लोभ यहाँ संवरण करना पड़ेगा फिर भी पोथी के अन्तिम दो अध्यायों के बारे में बिना कहे नहीं रहा जा सकता। वस्तुतः यह दोनों अध्याय पोथी के मर्मस्थल हैं और इसमें भारत और चीन में जो विभिन्न विद्याओं का आदान प्रदान हुआ है उन पर काफ़ी प्रकाश डाला गया है तथा कितनी ही बातों की परस्पर तुलना की गई है। सचमुच ही यह नया प्रयास है और इस पर अभी बहुत कुछ शोध करना शेष है। पर यहां कितनी ही महत्त्वपूर्ण बातों के बारे में कुछ नहीं कहा गया है। आशा है दूसरे संस्करण में डा० बागची उनपर भी अवश्य प्रकाश डालेंगे। अङ्गुलिनिर्देश के तौर पर उनमें से एक आध बातों की और इशारा कर देना बहुत ज़रूरी है। उच्चारण विज्ञान (शिक्षा), साहित्य (कविता, कथा अर्थात् उपन्यास, नाटक), क्रीड़ाविनोद, नृत्य, अभिनय शृंगार आदि विषयों में भारत का चीन पर बहुत प्रभाव पड़ा है और इस पोथी में उसकी चर्चा होनी बहुत ज़रूरी थी पर वह नहीं हुई है यद्यपि वैद्यक, ज्योतिष आदि को लेकर कुछ न कुछ ज़रूर कहा गया है।

यहां एक और महत्त्वपूर्ण बात की ओर इशारा कर देना है। चीनी ध्वनियों का अनुलेखन इस पोथी में फ्रेंच पद्धति से हुआ है और जो फ्रेंच-उच्चारण विज्ञान से परिचित नहीं हैं वे उन शब्दों को कभी ठीक ठीक नहीं बोल सकते। जैसे श को (H) के द्वारा, च को क (K) के द्वारा। जो कोरी अंगरेज़ी जानतें है वे ठीक न पढ़ सकेंगे। बहुत अच्छा होता कि वेड पद्धति से या रोमन पद्धति से काम लिया जाता।

पोथी में उपयुक्त सामग्री सचमुच बहुत जानकारी बढ़ानेवाली है और पोथी चीनी मित्रों को यह कहकर भेंट की गई है यह "उपहार बहुत ही छोटा है।" सचमुच उपहार छोटा नहीं, बहुत बड़ा है उसका हम हृदय से स्वागत करते हैं।

यहां प्रकाशक के बारे में कुछ ज़रूर कहना है। पोथी का गेट-अप अच्छा नहीं है पोथी के नाम का ठीक अनुवाद नहीं किया गया है। साथ ही समर्पण के शब्द जो कि मूल चीनी से अनुवाद करके डा० बागची ने रखे हैं प्रकाशक ने उन मूलशब्दों को न रखकर नया अनुवाद किया है जो कि सुन्दर नहीं हुआ। शब्द सूची में कितने ही शब्दों के चीनी अक्षर नहीं दिए गए हैं और चीनी अक्षरों के आकार भी कहीं कहीं अशुद्ध हो गए हैं।

—उ० शिऔ-लिङ्

अर्धकथानक—कविवर बनारसीदास विरचित ; पं० नाथुराम जी प्रेमी द्वारा संपादित और हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय बंबई द्वारा प्रकाशित। मूल्य १॥) ; छपाई सुंदर।

आज से लगभग तीन सौ वर्ष पहले कविवर बनारसी दास ने दोहा चौपाइयों में अपना आत्मचरित लिखा था। उसी आत्मचरित का नाम अर्धकथानक है। नाना दृष्टियों से यह पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिंदी में यह सब से पहला आत्मचरित है और संपादक का अनुमान है कि हिंदी के सिवा अन्य भारतीय भाषाओं में भी इतनी पुरानी आत्मकथा नहीं है। संपादक का यह अनुमान कहां तक ठीक है यह कहना कठिन है परन्तु यदि बात ठीक न भी हो तो भी इस पुस्तक का महत्त्व लेशमात्र कम नहीं होता। पुस्तक के आरंभ में तीन भूमिकाएं तीन विद्वानों ने तीन भिन्न दृष्टियों से लिखी हैं। पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने अपनी अनन्यसाधारण शैली में पुस्तक के महत्त्व को समझाया है। चतुर्वेदी जी के मत से "आत्मचित्रण में दो ही प्रकार के व्यक्ति विशेष सफलता प्राप्त कर सकते हैं, या तो बच्चों की तरह भोले भाले आदमी जो अपनी सरल निरभिमानता से यथार्थ बातें लिख सकते हैं अथवा कोई फक्कड़ जिन्हें लोकलज्जा से कोई भय नहीं।" कविवर बनारसी दास दूसरी श्रेणी के व्यक्ति थे। सो इस "फक्कड़-शिरोमणि ने तीन सौ वर्ष पहले आत्मचरित लिखकर हिंदी के वर्तमान और भावी फक्कड़ों को मानों न्यौता दे दिया है।" इसके बाद संपादक की अपनी लिखी हुई अध्ययन पूर्ण भूमिका है जिसमें कवि की भाषा, जाति, उनके द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय, उस संप्रदाय की परवर्ती आलोचनाएं, कवि के संबंध में किंवदन्तियां, उनके रचित ग्रंथ आदि पर विचार किया गया है। अन्तिम भूमिका सुप्रसिद्ध भाषातत्त्वज्ञ श्री प्रो० हीरालाल जी जैन की लिखी हुई है। इसमें आपने अर्द्धकथानक की भाषा पर विचार किया है। आपके मत का निष्कर्ष यह है कि "बनारसीदास जी ने अर्धकथानक की भाषा में ब्रजभाषा की भूमिका लेकर उसपर मुग़ल काल के बढ़ते हुए प्रभाववाली खड़ी बोली की पुट दी है और इसे ही उन्होंने 'मध्यदेश की बोली' कहा है जिससे ज्ञात होता है कि यह मिश्रित भाषा उस समय मध्यदेश में काफ़ी प्रचलित हो चुकी थी। इस प्रकार अर्धकथानक भाषा की दृष्टि से खड़ी बोली के आदिम काल का एक अच्छा उदाहरण है।" मुख्य मुख्य घटनाओं की कालक्रम से सूची, शब्दकोष, नाम सूची, विशेष विशेष स्थानों का परिचय, विशेष जैन व्यक्तियों का परिचय, जैनपुर का इतिहास, श्रीमाल जाति, प्लेग का प्रकोप आदि कई विषयों पर संपादक ने विचार करके पुस्तक को बहुत ही बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया है।

अर्धकथानक में कवि ने अपने जीवन की घटनाएं बहुत संक्षेप में लिखी हैं पर लिखने का ढंग कुछ ऐसा सजीव है कि थोड़े से शब्दों में उस युग की संपूर्ण मूर्ति अत्यन्त जीवन्त रूप में सामने खड़ी हो जाती है। अकबर की मृत्यु के समाचार से नगर में जो आतंक फैल गया वह मध्ययुग की मनोवृत्ति का बड़ा जीता जागता चित्र है। 'बादशाह की मृत्यु का समाचार पाते ही नगर में आतंक छा गया; हल्ला हो गया कि कहीं दंगा हो गया है, फाटक धड़ाधड़ बंद होने लगे, दूकानें बंद हो गईं, लोगों ने अपने गहने, पैसे और जवाहरात धरती में गाड़ दिए, घर घर शास्त्र खरीदे जाने लगे, पुरुषों ने मोटे कपड़े और कंबल धारण किए, स्त्रियों ने भी मोटे कपड़े पहने, धनी दरिद्र का भेद लोप हो गया—सारा नगर आतंक से ग्रस्त हो गया। कुछ दिन बाद जब

चिट्ठी आई कि जहांगीर गद्दी पर बैठ गए हैं तो अराजकता का आतंक दूर हुआ। आज से तीन सौ वर्ष पहले एक दिन कविवर बनारसीदास अगहन की ठंडी रात में वर्षा और शीत के मारे इटावे के बाजार में दीर्घकाल तक भटकते रहे, किसीने उन्हें और उनके साथियों को शरण नहीं दी। अंतमें एक दयावती महिला को दया आई उसने शरण देनी चाही परंतु उसका शौहर लाठी तानकर खड़ा हो गया—नारि एक बैठन कह्यो, पुरुष उठौ ले बांस।—बनारसीदास इस व्यवहार पर कोई टिप्पणी, किए, बिना, आगे बढ़े। चौकीदारों की झोंपड़ी में गए वहां भी शरण नहीं मिली। और आगे बढ़े, वहां किसी होशियार ने दया दिखाकर शरण दी और स्वयं सरक गये। बनारसीदास को इस दया का रहस्य तब मालूम हुआ जब झोपड़ी का वास्तविक मालिक डंडा लेकर हाज़िर हुआ। इस प्रकार बड़ी ही हल्की कूंची से दो चार फुहारे लगाकर ही कवि ने चित्रों को अत्यन्त सजीव कर दिया है। किसी योगी के दिए हुए शिव रूपी शंख की पूजा करने का ऐसा मनोरंजक वर्णन किया गया है कि पढ़ते ही बनता है। कवि की सरस विनोदी वृत्ति ने चित्रों को सजीव बनाने में कमाल का काम किया है—

संखरूप सिवदेव, महासंख बानारसी।
दोऊ मिले अबेव, साहिब सेवक एक से।

तत्कालीन समाज के अध्ययन के लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। हम इस सुसंपादित ग्रंथ के प्रकाशन के लिये प्रेमीजी को बधाई देते हैं।

तार सप्तक (कविता संग्रह)—संग्रह कर्ता-'अज्ञेय'; प्रकाशक, 'प्रतीक' दिल्ली; मूल्य २॥)।

प्रस्तुत संग्रह अपने ढंग का अनोखा प्रयास है। इस में गजानन मुक्तिबोध, नेमिचंद्र, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय, इन सात मित्र-कवियों की कविताएं और उनके अपनी रचनाओं के विषय में वक्तव्य छपे हैं। हिंदी कविता में जो कई प्रकार की विचार-धाराएं प्रवाहित हो रही हैं उनके अध्ययन की दृष्टि से यह संग्रह उपयोगी है। संग्रहकर्ता कवि श्री अज्ञेय ने पुस्तक के अन्त में अपनी कविता के संबंध में लिखते समय जो अनुरोध किया है वह सभी कवियों के आत्म-वक्तव्य के विषय में प्रयोज्य है—"मेरी बात आप अनुग्रहपूर्वक सुन तो लीजिए पर मानिए मत—मानिए उसीको, विश्वास उसीका कीजिए, जो आपको मेरी कविता में मिले।"—तथापि कवियों के अपने दिए हुए वक्तव्य प्रयोजनीय हैं। वे अपने आपको समझने के प्रयास हैं। पुस्तक में संग्रह की हुई सभी कविताएं उत्तम कोटि की नहीं हैं। परन्तु कवियों के वक्तव्य निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं। गजानन मुक्तिबोध की स्थानान्तर-गामी प्रवृत्ति; नेमिचंद्र की 'सचेष्ट प्रगतिशीलता' जो 'कलाकार के व्यक्तित्व की सामाजिकता में है, व्यक्तित्व हीनता में नहीं'; भारतभूषण अग्रवाल का 'कर्म से पलायन' ही से उपलब्ध 'कविताओं का स्पंदन', गिरिजाकुमार माथुर का टेकनीक-प्रवण मनोभाव; प्रभाकर माचवे का 'सामाजिक परिपार्श्व में व्यक्ति की मानसिक प्रभाव प्रक्रिया, वेदना-संवेदना, प्रगति-अगति आदि का प्रामाणिक बिंब चित्रण' जानने योग्य बातें हैं। इन वक्तव्यों में कवियों ने अपने बुद्धिगम्य अभीष्ट की बात बताई है और प्रायः सबने पाठक को सावधान किया है कि उसके इस बौद्धिक विश्लेषण का सफल चित्रण कविताओं में हुआ ही है ऐसा न मान लें। वक्तव्य और काव्य का सबसे अच्छा सामंजस्य गजानन मुक्तिबोध और अज्ञेय की रचनाओं में हुआ है। पुस्तक संग्रहणीय है।

—हृ० द्वि०

अपनो बात

महात्मा जी की रिहाई

सरकार ने महात्मा जी की कठिन बीमारी के कारण उन्हें छोड़ दिया है। सरकार के समय रहते जो यह सुबुद्धि उत्पन्न हुई, इसका हमें हर्ष है। अपने पुराने दुःखों को इस अवसर पर याद करना बेकार है। आज रुग्ण शरीर लेकर महात्मा जी हमारे बीच उपस्थित हुए हैं। हम अपने कोटि कोटि देशवासियों के साथ इस अवसर पर उनके स्वास्थ्यलाभ और दीर्घ जीवन के लिये भगवान् से प्रार्थना करते हैं।

महात्मा जी दुनिया की आशा हैं

झगड़ा कर लेने के लिये बहुत बुद्धि की आवश्यकता नहीं होती। जो कोई भी, जब कभी भी और जिस किसीसे भी लड़ जा सकता है। शरीर में ज़ोर ज्यादा हुआ तो अपने को विजयी समझ सकता है और कम हुआ तो पिटकर झुक जा सकता है। यह कोई बड़ी बहादुरी या बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। पर झगड़नेवालों में मित्रता का संबंध कायम कराना, शान्ति से रहने को प्रोत्साहित करना, सब की मंगल कामना और कल्याण-विधान करना सहज काम नहीं है। इसीमें मनुष्य की वास्तविक शक्ति का पता लगता है। आज दुनिया में लड़ पड़ने वालों की कमी नहीं है, पर वह आदमी कहां है जो शान्ति का पाठ पढ़ाए, किसी प्रकार की मैल मन में रखे बिना सब के मंगल की बात बताए? जहां तक दुनिया में नज़र जा सकती है वहां तक इस विषय में सिवाय एक व्यक्ति के और कोई दूसरा दिखाई नहीं देता। वह व्यक्ति हैं महात्मा गांधी। महात्मा जी ही दुनिया की आशा हैं। एक दिन संसार का कलहोन्माद ज़रूर शिथिल होगा, हिंसा और प्रतिस्पर्द्धा उस दिन भी रहेगी पर उसको जिलानेवाला पशुबल क्लान्त हो जायगा ; उस दिन शान्ति और प्रेम की वाणी सुना सकने की योग्यता एक मात्र महात्मा गांधी में ही है। इसीलिये महात्मा जी दुनिया की आशा हैं। मनुष्यता को परित्राण के लिये वे इतिहास-विधाता के भेजे हुए देवदूत हैं। हमारे पुण्यबल से वे अवश्य स्वस्थ और नीरोग होकर इस महान् कार्य को करेंगे।

चीन में हिंदी-शिक्षण की व्यवस्था

शान्तिनिकेतन के चीन भवन के श्रीकृष्णकिंकर सिंहजी चीन के कुमिंग महाविद्यालय में हिंदी के प्रथम अध्यापक होकर गए हैं। विश्वभारती को इस बात का गर्व है कि उसने चीन और भारत के पुनर्मिलन के क्षेत्र को प्रस्तुत करने में अपनी शक्तिभर उद्योग किया है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस पुनर्मिलन के प्रथम उद्योक्ता थे। चीन और भारत नाना कारणों से आज एक दूसरे के बहुत नजदीक जा रहे हैं। सैकड़ों वर्ष का भूला हुआ संबंध फिर से नया प्राण पाकर संजीवित हो उठा है। चीन अब सुनी सुनाई बातों पर आँख मूंदकर विश्वास करने की अपेक्षा भारतवर्ष के महान् साहित्य, जनता, और धर्म को प्रत्यक्ष भाव से जानना चाहता

है। इसी बढ़ती हुई जिज्ञासा के फलस्वरूप श्रीकृष्णकिंकर सिंहजी चीन गए हैं। विश्वभारती को सन्तोष है कि पुण्यकार्य में भी वह आगे रही है। श्रीकृष्णकिंकर सिंह चीन में बहुत उत्तम और सन्तोषजनक कार्य कर रहे हैं। उनके एक पत्र से मालूम होता है कि किस प्रकार वहां के लोग भारतीय धर्म और दर्शन को जानने को उत्सुक हैं। अभी और भी बहुत से विद्वानों को इस पुण्यकार्य में योग देना होगा। चीन और भारत के प्रेम से केवल इन दोनों देशों का ही कल्याण नहीं है, सारे संसार का भी कल्याण है। श्रीकृष्णकिंकरजी ने जिस कार्य का श्रीगणेश किया है वह बहुत महान् है और उससे भारत और चीन की परस्पर की सच्ची जानकारी का मार्ग प्रशस्त हुआ है। हम उनका अभिनंदन करते हैं।

'वंगदर्शन'

हिंदी के नौ ख्यातनामा कवियों और पाँच चित्रकारों ने अकाल और महामारी से पीड़ित बंगाल के प्रति अपनी सहानुभूति और श्रद्धाञ्जलि अर्पण की है। श्रीमहादेवीजी वर्मा ने प्रयाग महिला विद्यापीठ की ओर से इन कविताओं और चित्रों को प्रकाशित किया है। संग्रह का नाम 'वंगदर्शन' है। मूल्य साधारण तौर पर २) रखा गया है पर चूंकि पुस्तक की बिक्री से प्राप्त धन को अकालपीड़ितों की सहायता के लिये भेजने का निश्चय किया गया है इसलिये धनीमानी विशिष्ट सज्जनों से ५ से लेकर १०१ रु० तक मूल्य रखा गया है। हम हृदय से इस प्रयत्न का स्वागत करते हैं। इस संग्रह से महादेवीजी का प्रभाशाली कविता हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं।

वंग-वन्दना

वंग-भू शत वन्दना ले !
भव्य भारत की अमर कविता हमारी वन्दना ले !

अंक में झेला कठिन अभिशाप का अंगार पहला,
ज्वाल के अभिषेक से तूने किया श्रृंगार पहला,
तिमिर सागर हरहराता,
संतरण कर ध्वंस आता,
तू मनाती है हलाहल घूँट में त्योहार पहला,
नीलकण्ठिनि ! सिहरता जग स्नेहकोमल-कल्पना ले ।

वेणुवन में भटकता है एक हाहाकार का स्वर,
आज छाले से जले जो भाव से थे सुभर पोखर,
छन्द से लघु ग्राम तेरे,
खेत लय-विश्राम तेरे,
बह चला इनपर अचानक नाश का निस्तब्ध सागर !
जो अचल बेला बने तू आज वह गति साधना ले !

शक्ति की निधि अश्रु के क्या श्वास तेरे तौलते हैं ?
आह तेरे स्वप्न क्या कंकाल बन बन डोलते हैं ?
अस्थियों की ढेरियाँ हैं,
जम्बुकों की फेरियाँ हैं,
'मरण केवल मरण' क्या संकल्प तेरे बोलते हैं ?
भेंट में तू आज अपनी शक्तियों की चेतना ले !

किरण-चर्चित, सुमन-चित्रित, खचित स्वर्णिम-बालियों से,
चिरहरित पट है मलिन शत-शत चिता-धूमालियों से,
गृद्ध के पर छत्र छाते,
अब उलूक विरुद सुनाते,
अर्घ्य आज कपाल देते शून्य कोटर-प्यालियों से !
मृत्यु क्रन्दन गीत गाती हिचकियों की मूर्च्छना ले !

भृकुटियों की कुटिल लिपि में सरल सृजन विधान भी दे,
जननि अमर दधीचियों की अब कुलिश का दान भी दे,
निशि सघन बरसातवाली,
गगन की हर साँस काली,
शून्य धूमाकार में अब अर्चियों का प्राण भी दे!
आज रुद्राणी! न सो निष्फल पराजय-वेदना ले!

तुंग मन्दिर के कलश को धो रहा 'रवि' अंशुमाली,
लीपती आँगन विभा से वह 'शरद' विधु की उजाली,
दीप-लौ का लास 'बङ्किम'
पूत-धूम 'विवेक' अनुपम,
रज हुई निर्माल्य छू चैतन्य की कम्पन निराली,
अमृतपुत्र पुकारते तेरे अजर आराधना ले!

बोल दे यदि आज, तेरी जय प्रलय का ज्वार बोले,
डोल जा यदि आज, तो यह दम्भ का संसार डोले,
उच्छ्वसित हो प्राण तेरा,
इस व्यथा का हो सबेरा,
एक इंगित पर तिमिर का सूत्रधार रहस्य खोले!
नाप शत अन्तक सके यदि आज नूतन सर्जना ले!

भाल के इस रक्त चन्दन में ज्वलित दिनमान जागे,
मन्द्र सागर तूर्य पर तेरा अमर निर्माण जागे,
क्षितिज तमसाकार टूटे,
प्रखर जीवन-धार फूटे,
जाह्नवी की उर्मियाँ हों तार भैरव-राग जागे!
ओ विधात्री! जागरण के गीत की शत अर्चना ले!

ज्ञानगुरु इस देश की कविता हमारी वन्दना ले!
वङ्ग-भू शत वन्दना ले!
स्वर्ण-भू शत वन्दना ले!

—महादेवी वर्मा

विश्वभारती पत्रिका

श्रावण-आश्विन २००१ | खण्ड ३, अंक ३ | जुलाई-सितम्बर, १९४४

शान्ति-पारावार

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

महा शांति-सागर सम्मुख है कर्णधार, यह नाव चलाओ !

तुम होगे मेरे चिर सहचर

लो, लो मुझे क्रोड़ में प्रियवर !

उस असीम-पथ पर जगमग होगा ध्रुवतारक ज्योति दिखाता,

क्षमा तुम्हारी परम क्षमामय !

दया तुम्हारी चरम दयामय !

बन जाएगी चिरयात्रा में चिर पाथेय मुक्ति के दाता !

सकल मर्त्य बंधन जाएं झर

विश्व विराट बाहु में ले भर

आज महा अज्ञात से अहो, निर्भय परिचय मुझे कराओ ।

महा शान्ति-सागर सम्मुख है कर्णधार, अब नाव चलाओ !

—अनु०, सुधीन्द्र

वेदमंत्रों का अन्योन्याश्रयत्व

सम्पूर्णानन्द

वेद पौरुषेय हों या अपौरुषेय, परन्तु वेदमंत्रों का एक दूसरे पर आश्रित होना निर्विवाद है। एक मंत्र के साथ कभी कभी कई दूसरे मंत्र विवक्षित रहते हैं; किसी विषय का एक अंश मंत्र में प्रतिपादित किया जाता है, शेष के प्रतिपादन के लिये दूसरे मंत्रों को देखना पड़ता है। बहुधा ऐसा होता है कि श्रौत वाङ्मय के किसी एक टुकड़े को अकेले लेने से जो अर्थ लगता है वह अधूरा रह जाता है।

उदाहरण के लिये ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त के १५ वें मंत्र को लीजिए:

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्॥

सृष्टि के आरम्भ में देवों ने जिस यज्ञ में पुरुष को बलिपशु रूप से बाँधा उसमें सात परिधियां और इक्कीस समिधाएं थीं।

पलाशादि लकड़ियों के विशेष प्रकार के टुकड़ों को, जिनसे यज्ञ में काम लिया जाता है, परिधि कहते हैं। पुरुष सूक्त ऋग्वेद के दशम मंडल का ९० वां सूक्त है। इसमें देवों के नरमेध यज्ञ का वर्णन है पर यह वर्णन केवल इसी सूक्त में नहीं है। इसी मंडल के १३० वें सूक्त में उस यज्ञ का उल्लेख करके कई प्रश्न किए गए हैं:—

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्।
छंदः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे॥

देवों के यज्ञ में प्रमा क्या थी, प्रतिमा क्या थी, निदान क्या था, घृत क्या था, परिधि क्या थी, छंद क्या था, प्रउग क्या था, उक्थ क्या था?

इन प्रश्नों में से कुछ के उत्तर उसी सूक्त में दिए गए हैं, कुछ के लिये इस पुरुषसूक्त को देखना पड़ता है। जिस मंत्र पर हम विचार कर रहे हैं उसमें कहा गया है कि परिधियों की संख्या सात थी। उनके नाम नहीं दिए गए। सायण तथा दूसरे पुराने आचार्य्य ऐसा मानते हैं कि गायत्री आदि सातों वैदिक छन्द परिधि स्थानीय थे। इन छन्दों का महत्त्व ऐतरेय ब्राह्मण के प्रथम अध्याय के पञ्चम खण्ड में इस प्रकार बतलाया गया है:

तेजो वै ब्रह्मवर्चसं **गायत्री**, आयुर्वा **उष्णिक्**, **अनुष्टुभौ** स्वर्गकामः कुर्वीत, श्रीर्वै यशश्छन्दसां **बृहती**, **पांक्तो** वै यज्ञः, ओजो वा इन्द्रियं वीर्य्यं **त्रिष्टुप्**, **जागता** वै पशवः।

देवगण की अभिलाषा थी कि भावी प्रजा ब्रह्मवर्चस्वी, आयुष्मती, स्वर्गाधिकारिणी, श्रीयुक्ता यशस्विनी, यज्ञरता, ओजस्विनी, पशु आदि धनधान्यसम्पन्ना हो इसलिये उन्होंने विघ्ननिवारणार्थ इन छन्दों को परिधि बनाया। परिधि 'रक्षांसि अपहन्ति'—राक्षसों, विघ्न बाधाओं का नाश करती है।

सायण कहते हैं कि १२ मास, ५ ऋतु (वैदिक वाङ्मय में बहुधा शिशिर हेमन्त को मिलाकर एक गिनते हैं) ३ लोक और १ आदित्य मिलाकर २१ समिधाएं हुईं। मैं समझता हूं कि यह व्याख्या ठीक नहीं है। आदित्य तीन लोकों के बाहर नहीं है। फिर इसी सूक्त के ६वें मंत्र में कहा है :

वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।

इसमें वसन्त घी था, ग्रीष्म ईंधन था और शरत् हवि था। समित् और इध्म, समिधा और ईंधन में एक जातीयता होनी चाहिए। तीन लोक का यहां और संबंध नहीं दीख पड़ता। मुझको ऐसा प्रतीत होता है कि यहां आदित्य के साथ १२ मास, ६ ऋतु और २ अयन लेना चाहिए। मास ऋतु और अयन का भेद सौरगति के कारण होता है अतः इन सबको आदित्य का ही प्रपञ्च कहना चाहिए। ग्रीष्म भी शोषक है और आदित्य भी, अतः दोनों मंत्रों में विरोध नहीं है, समित और ईंधन का स्वरूप मिलता जुलता है।

सृष्टि के आरम्भ में न सूर्य्य था, न पृथिवी थी, न ऋतु थे, अतः यहां जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उनका लाक्षणिक अर्थ लेना होगा। वसन्त ऋतु में ओषधियों में रस का सञ्चार होता है, इसलिये वह विश्व की पोषक, पालक, शक्तियों का प्रतीक है ; ग्रीष्म में रसों का शोषण होता है, इसलिये वह संहारक शक्तियों का प्रतीक है और शरत् में जो गेहूं जैसे प्राणधारक पौधे लगाए जाते हैं, अतः वह उत्पादक, आरम्भक, शक्तियों का प्रतीक है। इस प्रकार इन तीनों ऋतुओं के नाम वैष्णवी, रौद्री और ब्राह्मी शक्तियों के, सत्व, तम और रज के संकेत हैं। सूर्य्य का नाम तपन है अतः ग्रीष्म की भांति उसको भी शोषक, संहारक, शक्तियों का रौद्र तमोगुण को, प्रतीक मान सकते हैं। इस दृष्टि से एक मंत्र में ग्रीष्म को ईंधन कहने और दूसरेमें समिधाओं की संख्या इक्कीस बतलाने में सुसंगति हो जाती है।

यज्ञ में देवों को घी की सहायता से हवि दी जाती है पर लकड़ी के जले बिना हवि और घी का उपयोग नहीं हो सकता। लकड़ी भारी है, स्थूल है, कितना भी जले पर राख के रूप में उसका पार्थिव भाग भूमि पर रह जाता है, ऊपर नहीं उठ सकता। इसी प्रकार यज्ञभाव से किए गए सत्कर्म्मभाव में सत्त्व प्रेरित रजोगुण का ही उपयोग है परन्तु कर्म्म तमोगुण की पीठिका में ही हो सकता है। तमोगुण अपनी गुरुता नहीं छोड़ सकता, पूर्णतया पवित्र नहीं बनाया जा सकता।

इस दृष्टि से तमोगुण और उसके प्रतीकों की ईंधन से तुलना करना ठीक जंचता है। तीनों गुणों का साथ अविच्छेद्य है परन्तु तमोगुण को यथाशक्य भस्म करके सत्त्व से प्रेरित रजोगुण ही श्रेयस्कर है।

पुरुषसूक्त से ही दूसरा उदाहरण लीजिए। तीसरे मंत्र में कहा है :

एतावानस्य महिमाऽ तो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रियादस्यामृतन्दिवि ॥

यह सब उसकी महिमा है, पुरुष इससे बड़ा है। सारा विश्व उसका एकपाद है, उसका अमृत त्रिपाद दिव् में है।

दिव् का अर्थ सायण ने द्योतनात्मक, स्वप्रकाशस्वरूप किया है। यह अर्थ तो ठीक है परन्तु वस्तुतः परमात्मा का कभी भी द्योतनात्मकस्वरूप से वियोग नहीं होता। न उसके टुकड़े होते हैं, न कोई टुकड़ा किसी दूसरे-टुकड़े की अपेक्षा कम प्रकाशमय होता है। परन्तु जिस अवस्था में अविद्या के द्वारा उसमें जगत् की प्रतीति होती है उस दशा में एक पाद त्रिलोक की सूरत में और शेष-त्रिपात् इसके ऊपर के दिव्यलोकों की सूरत में प्रतीत होता है। इस लोक का ज्ञान प्रत्यक्षादि इन्द्रियमूलक साधनों से और उस दिव्यलोक का ज्ञान योगशास्त्रोक्त धारणादि साधनों से होता है। यह एक पाद, वह त्रिपाद है। इसकी अपेक्षा वह दिव्य, ज्योतिर्मय है। अविद्या के मिट जाने पर पादभेद की प्रतीति नहीं होती। उपासक और उपास्य का भेद मिट जाता है, केवल चिन्मयस्वरूप अवशिष्ट रहता है।

इस भूमिका में अथर्ववेद (पैप्पलादशाखा) का यह मंत्र (१६, १०२, ८) देखिए :

अपादग्रे समभवत् सोऽग्रे स्वराभरत्।
चतुष्पाद्भूत्वा भोग्यस्सर्वमादत्त भोजनम् ॥

वह पहिले अपाद था, वह पहिले स्वः में परिपूर्ण था। (फिर) चतुष्पाद होकर भोग्य सब भोजन को ग्रहण करता है (अर्थात् स्वयं भोज्य और स्वयं भोक्ता है।) और परमात्मा के त्रिपात्, योगिग्राह्य दिव्यरूप के संबंध में अथर्ववेद के यह मंत्र (१६, ६२, १-३-४) द्रष्टव्य हैं :—

नैनं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्मात् पुरुष उच्यते ॥
अष्टचक्रा नवद्वारा देवानाम्पुरयोध्या या।
तस्यां हिरण्मयः कोशस्स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

तस्मिन् हिरण्मये कोषे त्रिदिवे त्रिप्रतिष्ठिते।

तस्मित् यदनारात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

जो मनुष्य ब्रह्म के उस पुर को जानता है जिसके कारण पुरुष संज्ञा पड़ी है वह पूर्णायु तक इन्द्रियों और प्राण की शक्तियों से युक्त रहता है। देवों की पुरी अयोध्या आठचक्र और नौ द्वारों वाली है, उसमें हिरण्मय के प्रकाशसे आवृत स्वर्ग है। इस त्रिदिव, त्रिप्रतिष्ठित हिरण्यमय कोष के भीतर जो आत्मवान् पदार्थ है उसको ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।

इन मंत्रों की व्याख्या के लिये पृथक् लंबा लेख चाहिए। यहां मैं यह दिखलाना चाहता था कि इनसे उस दिव् शब्द पर प्रकाश पड़ता है जो पुरुषसूक्त में आया है। मंत्रों के अन्योन्य विवक्षा के इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं।
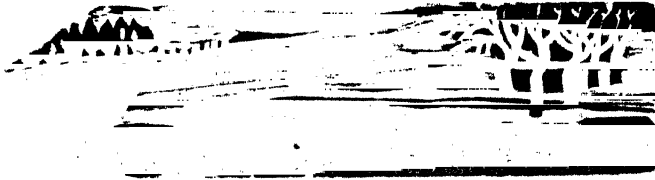
अपरिचिता

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

१

आज मेरी उम्र सिर्फ सत्ताईस वर्ष की है। यह जीवन न तो लम्बाई के हिसाब से बड़ा है और न गुण के। फिर भी इसका एक विशेष मूल्य है। यह उस फूल की तरह है जिसकी छाती पर भ्रमर आकर बैठा था, और उस पदक्षेप का इतिहास उसके जीवन के मध्यस्थल में फल की भांति दाना बांध चुका है।

वह इतिहास आकार में छोटा है—उसे छोटा ही करके लिखूंगा। जो लोग छोटे को मामूली समझने की गलती नहीं करते वे ही इसका रस समझेंगे।

कालेज में जितनी परीक्षाएं पास की जा सकती हैं मैंने सब खतम कर ली हैं। बचपन में मेरे सुन्दर चेहरा को लेकर सेमर का फूल, और तिरकोल के फल से तुलना करके पाठशाला के पण्डित जी को मज़ाक करने का सुयोग मिला था। इस बात से उस समय मुझे बहुत लाज मालूम होती थी—किन्तु उमर बढ़ने पर सोचता हूं कि यदि जन्मान्तर हो तो मेरे मुंह में सुरूप और पण्डित जी के मुंह में विद्रूप फिर ऐसा ही प्रकट हो।

मेरे पिता कभी गरीब थे। वकालत करके उन्होंने बहुत पैसा कमाया है किन्तु भोग करने का समय क्षण भर भी नहीं पा सके। मृत्यु के समय जब उन्होंने जो लंबी सांस ली वही उनकी पहली छुट्टी हुई।

उस समय मेरी उमर थोड़ी थी। मां ने ही मुझे पोस पालकर बड़ा किया। मां गरीब घर की लड़की थीं इसीलिये इस बात को न तो वे ही भूल सकीं और न मुझे ही भूलने दिया कि हमलोग धनी हैं। छुटपन से गोद ही गोद में मैं बड़ा हुआ हूं—शायद इसीलिये अंत तक मैं पूरी तौर से बड़ी उमर का हो ही नहीं पाया। आज भी मुझे देखने पर मालूम होता है कि मैं अन्नपूर्णा की गोदी में बैठा हुआ गजानन का छोटा भाई हूं।

मेरे असली अभिभावक मेरे मामा हैं। वे उमर में ज्यादा से ज्यादा मुझसे छ बरस बड़े होंगे। किन्तु फल्गु नदी की रेती की तरह उन्होंने हमारे सारे संसार को अपने भीतर सोख लिया। उनको खोदे बिना यहां का एक चुल्लू रस भी नहीं मिल सकता। इसीलिये किसी बात के लिये मुझे चिन्ता करनी ही नहीं होती।

कन्या के पिता-मात्र ही स्वीकार करेंगे कि मैं सत्पात्र हूं। तंबाकू तक भी नहीं पीता। भले आदमी होने में कोई झंझट नही है, इसीलिये मैं अत्यन्त भला आदमी हूं। माता का हुक्म मानकर चलने की क्षमता मुझमें है—असल में नहीं मानने का सामर्थ्य ही मुझमें नहीं है। अंतःपुर के शासन में रहने लायक बनाकर ही मुझे तैयार किया गया है—कोई कन्या यदि स्वयंवरा हों तो वे इस सुलक्षण की बात को याद रखें।

बहुत बड़े बड़े घरों से मेरे विवाह-संबंध की बात आई थी, लेकिन मामा जो मेरे भाग्य-देवता के प्रधान एजेन्ट थे, उनका विवाह के संबंध में एक विशेष मत था। धनी की कन्या उन्हें पसन्द नहीं। हमारे घर में जो लड़की आयगी वह सिर झुकाकर आयगी यही वे चाहते हैं और फिर भी रुपये के प्रति आसक्ति उनके हाड़ मांस में भीनी हुई है। वे ऐसा समधी चाहते हैं जिसके पास रुपया तो न हो लेकिन रुपया देने में कोई कसर न रखे। जिसे शोषण किया जा सकता है और फिर भी जब वह घर आवे तो गड़गड़े के बदले हुक्के में तंबाकू देने से ही संतुष्ट हो जाय और ऐसी हालत में उसकी नालिश फरियाद नहीं चल सके।

मेरा मित्र हरीश कानपुर में काम करता है। छुट्टी में कलकत्ते आकर उसने मेरा मन चंचल कर दिया। बोला, भई लड़की यदि कहते हो तो लाख में एक है।

कुछ दिन पहले मैंने एम. ए. पास किया है। सामने जितनी दूर तक नज़र जाती है छुट्टी ही छुट्टी नज़र आती है; इम्तहान नहीं, उम्मीदवारी नहीं, नौकरी नहीं, अपनी ओर देखने की चिन्ता भी नहीं, शिक्षा भी नहीं, इच्छा भी नहीं,—होने के नाम पर भीतर हैं मां और बाहर हैं मामा। इस अवकाश की मरुभूमि में मेरा हृदय उस समय विश्व-व्यापी नारी-रूप की मरीचिका को देख रहा था। आकाश में उसीकी दृष्टि, हवा में उसीकी सांस और वृक्षों की मर्मर ध्वनि में उसीकी गुप्त वार्ता।

इसी समय हरीश ने आकर कहा, "लड़की यदि कहते हो तो—"मेरा शरीर और मन वसंत-वायु से कांपती हुई नवीन पल्लव-राशि के समान धूप और छाया में झूमने लगा। हरीश रसिक आदमी है। रस देकर वर्णन करने की शक्ति उसमें है और मेरा मन था तृषार्त। मैंने हरीश से कहा, एकबार मामा से बात चलाकर देखो ना।

हरीश सभा जमाने में अद्वितीय है इसीलिये सर्वत्र उसकी खातिर है। मामा भी उसे पाने पर छोड़ना नहीं चाहते। उनकी बैठक में बातचीत चली। उनके लिये लड़की की अपेक्षा लड़की के बाप की खबर ही ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी। बाप की अवस्था ठीक वैसी ही है जैसी वे चाहते हैं। एक जमाना था जब इनके घर में लक्ष्मी का मंगलघट भरा था। इस समय वह प्रायः शून्य है, फिर भी निचले तले में अभी कुछ बाकी है। देश में रहकर वंशमर्यादा बचाकर चलना सहज

नहीं है, इसीलिये वे पश्चिम में वास करते हैं। वहां गरीब गृहस्थ की तरह ही रहते हैं। एक लड़की के सिवा और कोई नहीं, इसीलिये उसके पीछे लक्ष्मी के सारे घड़े को उलट देने में उन्हें कोई संकोच नहीं होगा।

ये सारी बातें अच्छी हैं। किन्तु लड़की की उमर पन्द्रह बरस की हो गई है यही सुनकर मामा का मन भारी हो गया। खानदान में कोई दोष तो नहीं है? नहीं, दोष नहीं है, बाप कहीं अपनी लड़की के योग्य वर नहीं खोज सके हैं। एक तो वर का हाट महंगा है फिर धनुषभंग जैसा दहेज है इसीलिये बाप तो केवल सब्र किए जा रहे हैं लेकिन लड़की की उमर सब्र नहीं कर रही है।

जो हो, हरीश की सरस रसना में गुण है। मामा का मन नरम हुआ। विवाह का भूमिका-भाग निर्विघ्न समाप्त हुआ। कलकत्ते के बाहर पृथ्वी का जितना अंश है सबको मामा अंडमान द्वीप के अंतर्गत ही जानते हैं। जीवन में किसी विशेष काम से वे एकबार कोन् नगर (कलकत्ते से सटा हुआ छोटा सा शहर) तक गए थे। मामा अगर मनु होते तो वे हबड़ा के पुल के उस पार जाने को अपनी संहिता में एकदम निषिद्ध कर देते। मन में इच्छा थी कि एकबार स्वयं लड़की को देख आऊं किन्तु हिम्मत करके कह नहीं सका। कन्या को 'आशीर्वाद करने' के लिये जिसे भेजा गया वे हैं हमारे बीनू दादा, मेरे फुफेरे भाई। उनके मत, रुचि और दक्षता पर मैं सोलह आने भरोसा कर सकता हूं। बीनू दा ने लौटकर कहा, खराब नहीं है, असली सोना है। बीनू दा की भाषा बड़ी संकरी है। जहां हमलोग कहते हैं बहुत खूब, वहां वे कहते हैं काम चलाऊ है। इसलिये मैंने समझा कि मेरे भाग्य में प्रजापति के साथ पंचशर का विरोध नहीं है।

कहना बेकार है कि विवाह के लिये कन्या-पक्ष को ही कलकत्ते आना पड़ा। कन्या के पिता शंभुनाथ बाबू हरीश का कितना विश्वास करते हैं इसका प्रमाण यह है कि विवाह के सिर्फ तीन दिन पहले उन्होंने मुझे पहले पहल देखा और आशीर्वाद किया। उमर उनकी चालीस के कुछ इधर उधर होगी। काफी सुपुरुष हैं। भीड़ में सबके आगे नज़र पड़ने लायक चेहरा है।

आशा करता हूं कि मुझे देखकर वे खुश हुए थे। समझना मुश्किल है क्योंकि वे चुपचाप रहनेवाले आदमी हैं। जो दो एक बात उनके मुंह से निकलती है उसपर पूरा ज़ोर नहीं देते। मामा का मुंह उस समय अनर्गल भाव से चल रहा था—धन और मान में हमलोगों का स्थान जो किसीसे कम नहीं है इसका नाना भाव से प्रचार कर रहे थे। शंभुनाथ बाबू ने इस बात में बिलकुल ही योग नहीं दिया—किसी फांक से उनके मुंह से हां या हूं नहीं सुनाई

दिया। मैं होता तो कब का दब गया होता लेकिन मामा को दबाना कठिन है। उन्होंने शंभुनाथ बाबू का चुपचाप भाव देख के समझा कि यह आदमी निरापोंगा है कहीं कोई तेज नहीं। समधी संप्रदाय में और चाहे जो कुछ भी हो लेकिन तेज का होना दोष है—अतएव मामा मन ही मन प्रसन्न हुए। शंभुनाथ बाबू जब उठे तो मामा ने उन्हें बहुत संक्षेप में बिदा किया, गाड़ी में बैठा देने भी नहीं गए।

दहेज के संबंध में दोनों पक्ष में पक्की बात स्थिर हो गई थी। मामा अपनेको असाधारण चतुर समझकर अभिमान किया करते हैं। बातचीत में कहीं भी उन्होंने कोई खामी नहीं रहने दी थी। रुपये का अंक तो स्थिर था ही इसके ऊपर कौन गहना कितने भरी का होगा और सोना किस भाव का होगा यह भी स्थिर हो गया था। मैं खुद इस सारी बातों में नहीं था। नहीं जानता था कि क्या लेना देना ठीक हुआ है। मन ही मन जानता था कि यह स्थूल अंश भी विवाह का एक प्रधान अंग है और जिनके ऊपर इसका भार है वे एक छदाम भी नहीं ठगे जा सकते। वस्तुतः हमारे सारे परिवार में मामा अद्भुत पक्के आदमी समझे जाते थे और इसका हमें गर्व भी था। जहां हमलोगों का कोई भी संबंध है वहां सभी जगह वे बुद्धि की लड़ाई में जीतेंगे यह मानी हुई बात थी। इसीलिये हमारे कोई अभाव न होते हुए भी और दूसरे पक्ष का अभाव कठिन होते हुए भी हमीं जीतेंगे यह हमारे परिवार का ज़िद है। इसमें मरे सो मरे, बचे सो बचे।

गात्र-हरिद्रा के दिन खूब धूमधाम रहा। वाहक इतने गए कि उनकी मर्दुमशुमारी के लिये किरानी रखना पड़े। उनके बिदा करने में दूसरे पक्ष को परेशान होना पड़ेगा यह सोचकर मां और मामा एक ही साथ खूब हंसे।

बैंड, बिगुल, शौकिया कंसर्ट इत्यादि जहां कहीं जितनी ऊंची आवाज़वाली चीजें हैं सबको एक साथ मिलाकर बर्बरोचित कोलाहल के मत्त हस्ती द्वारा संगीत-सरस्वती के पद्म-वन को दलित विदलित करता हुआ मैं तो विवाह-गृह में उपस्थित हुआ। अंगूठी से, हार से, ज़री जवाहरात से मेरा शरीर ऐसा लग रहा था मानों गहने की दूकान नीलाम पर चढ़ रही हो। उनके भावी दामाद का मूल्य कितना है उसे मानों बहुत कुछ स्पष्ट रूप में शरीर में ही लिखकर मैं भावी ससुर से मुकाबला करने के लिये चला था।

मामा विवाह-गृह में प्रवेश करके प्रसन्न नहीं हुए। एक तो आंगन में बरातियों के लिये जगह अंटना ही कठिन था तिस पर सारा आयोजन भी मद्धिम ढंग का था। उसपर शंभुनाथ बाबू का व्यवहार बिल्कुल ठंडा था। उनमें विनय की मात्रा अत्यधिक नहीं थी। मुंह में बात तो थी ही नहीं। कमर में बंधी चादर, टूटा गला, गंजी खोपड़ी, आबनूसी रंग और भारी-

भरकम शरीर लेकर उनके एक वकील मित्र यदि बराबर हाथ जोड़कर, सिर हिलाकर, नम्रतासूचक मंद हास्य के साथ गद्‌गद् वचन बोलते हुए करताल बजानेवाले से लेकर समधी तक को बार बार प्रचुर रूप से अभिषिक्त न करते रहते तो शुरू में ही कुछ इसपार—उसपार हो गया होता। मेरे जनवासे में बैठने के कुछ देर बाद, मामा शंभुनाथ बाबू को पास के घर में बुला ले गए। पता नहीं उनलोगोंमें क्या बातें हुई, कुछ देर बाद ही शंभुनाथ बाबू मेरे पास आकर बोले, बबुआ, एकबार इधर आना होगा।

मामला यों था :—सबका चाहे न हो किन्तु किसी किसी आदमी के जीवन का कुछ लक्ष्य होता है। मामा का एकमात्र लक्ष्य यह था कि वे किसी प्रकार किसीसे ठगे नहीं जांयगे। उन्हें डर था कि उनके समधी गहने के मामले में धोखा दे सकते हैं—विवाह होगया तो फिर इस धोखे का प्रतिकार नहीं हो सकता। घर का भाड़ा, सौगात, बिदाई आदि में जिस प्रकार खींचतान का परिचय मिला था उससे मामा को निश्चय होगया था कि देनलेन के मामले में इस आदमी के मुंह की बात पर विश्वास करने से नहीं चलेगा। इसीलिये घर के सुनार को साथ ले आए थे। पास के घर में जाकर देखता हूं, मामा एक चौकी पर बैठ हुए हैं और सुनार अपनी तराजू, बटखरा और कसौटी लिए फ़र्श पर बैठा है।

शंभुनाथ बाबू ने कहा, "तुम्हारे मामा कहते हैं विवाह का काम शुरू होने के पहले वे कन्या के सभी गहनों को जांचकर परख लेना चाहते हैं। इसमें तुम्हारा क्या मत है।"

मैं सिर झुकाकर चुप हो रहा।

मामा बोले "उससे क्या पूछते हैं, वह क्या कहेगा। मैं जो कहूंगा, वही होगा।"

शंभुनाथ बाबू ने मेरी ओर देखकर कहा, "तो क्या यही तय रहा, वे जो कहेंगे वही होगा? इस विषय में तुम्हें कुछ कहना नहीं है।"

मैंने ज़रा गर्दन हिलाकर इशारे से बता दिया कि इस विषय में मेरा सम्पूर्ण अनधिकार है।

अच्छा तो बैठो। लड़की के शरीर से सारे गहने खोलकर ले आता हूं—यह कहकर वे उठ गए।

मामा ने कहा, अनुपम यहां क्या करेगा। वह सभा में जाकर बैठे।

शंभुनाथ बाबू ने कहा, नहीं, सभा में नहीं बैठना होगा।

कुछ देर बाद एक गमछे में बंधे हुए गहने लेकर वे लौटे और चौकी पर पसार दिया। सब गहने उनके पितामह के ज़माने के थे, हाल के फैशन के एक भी नहीं; जितने ही मोटे उतने ही भारी।

सुनार ने गहना हाथ में लेकर कहा, इसमें क्या देखं? इसमें खाद तो है ही नहीं—

ऐसा सोना तो आजकल व्यवहार ही नहीं होता। यह कहकर उसने एक मकराकृत मोटे कंगन को ज़रा सा दबाकर दिखाया। वह झुक गया।

मामा ने उसी समय गहनों का फ़र्द नोट कर लिया—बाद में कहीं ऐसा न हो कि दिखाए हुए गहनों में कुछ कमी पड़ जाय। हिसाब करके देखा कि जितना देने की बात है उससे ये गहने संख्या में, दर में, और भार में कहीं अधिक हैं। गहनों में एक जोड़ा 'इयर-रिंग' था। शंभुनाथ ने उसे सुनार के हाथ में देकर कहा, इसे एकबार कसकर देखो।

सुनार ने कहा, यह विलायती माल है इसमें सोने का हिस्सा बहुत थोड़ा है।

शंभुनाथ बाबू ने 'इयर-रिंग' को मामा के हाथ में देकर कहा, इसे आपलोग ही रखिए।

मामा ने उसे हाथ में लेकर देखा, इसी 'इयर-रिंग' से उन्होंने कन्या को आशीर्वाद किया था।

मामा का मुंह लाल हो गया। दरिद्र उनको ठगना चाहेगा, परन्तु वे ठगे नहीं जायंगे इस आनन्द के उपभोग से वे वंचित तो हुए ही, ऊपर से कुछ और भी मिल गया। मुंह अत्यन्त भारी करके बोले, अनुपम, जाओ सभा में बैठो।

शंभुनाथ बाबू बोले, नहीं, अभी सभा में नहीं जाना होगा। चलिए, आपलोगों को पहले भोजन करा दूं।

मामा बोले, सो कैसी बात? लग्न—

शंभुनाथ बाबू बोले, उसकी कुछ चिंता न कीजिए, उठिए। यह आदमी, निहायत भलेमानस किस्म का है, लेकिन ऐसा मालूम होता है कि भीतर ज़रा ज़ोर है मामा को उठना पड़ा। बारातियों का आहार हो गया। आयोजन का कोई आडंबर नहीं था, लेकिन रसोई अच्छी बनी थी और सबकुछ साफ़ सुथरा था इसलिये सबको तृप्ति हुई।

बारातियों का खाना समाप्त होने के बाद, शंभुनाथ बाबू ने मुझे खाने को कहा। मामा बोले, सो कैसी बात! विवाह के पहले वह कैसे भोजन करेगा।

इस संबंध में मामा के किसी भी मत को पूर्ण रूप से उपेक्षा करके उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा, तुम क्या कहते हो, बैठने में कुछ दोष है क्या?

माता की मूर्तिमती आज्ञा स्वरूप मामा उपस्थित थे, मेरे लिये उनके विरुद्ध चलना असंभव है। मैं भोजन पर नहीं बैठ सका।

तब शंभुनाथ बाबू ने मामा से कहा, आपलोगों को अनेक कष्ट दिया है। हम धनी नहीं हैं, आपके योग्य मैं आयोजन नहीं कर सका। क्षमा करेंगे। रात हो गई है, अब आपलोगों को कष्ट अधिक बढ़ाने की इच्छा मेरी नहीं है। तो फिर—

मामा बोले, तो जनवासे में चलिए, हमलोग तो तैयार ही हैं।

शंभुनाथ बोले, जो लोग समझते हैं कि मैं अपनी लड़की का गहना खुद चुरा लूंगा, उनको मैं लड़की नहीं दे सकता।

मुझसे कुछ भी कहना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि साबित हो गया था कि मैं कोई नहीं हूं।

इसके बाद जो कुछ हुआ मैं कहना नहीं चाहता। झाड़ फानूस तोड़कर, माल असबाब नष्ट भ्रष्ट करके, दक्ष-यज्ञ विध्वंस का अभिनय समाप्त कर के बाराती लोग चले आए। घर लौटते समय रोशन चौकी और कंसर्ट एक साथ नहीं बजे और अबरख के झाड़ आसमान के सितारों पर अपना भार देकर किस महानिर्वाण को प्राप्त हुए इसका पता नहीं लगा।

३

घर के सब लोग गुस्से से आग हो गए। लड़की के बाप को इतना गुमान! कलियुग का चौथा चरण पूरा होने को आया! सबने कहा, देखा जाय लड़की की शादी कैसे करता है? किन्तु लड़की की शादी न होने का डर जिसके मन में नहीं है उसको दंड देने का क्या उपाय है।

सारे बंगाल में मैं ही एक ऐसा पुरुष हूं जिसे लड़की के बाप ने विवाह के मंडप से स्वयं लौटा दिया है। इतने बड़े सत्पात्र के भाग्य में इतना बड़ा कलंक का दाग न जाने किस पाप-ग्रह ने इतना मशाल जला के, बाजा बजा के, धूमधाम करके लगा दिया! बाराती लोग यह कहकर सिर ठोकने लगे कि व्याह हुआ नहीं और धोखा देकर हम सबलोगों को खिला दिया,—अन्न समेत पाकस्थली को वहां फेंक आया जा सकता तो अफ़सोस मिटता।

मामा यह कहकर हो हल्ला करते फिरे कि विवाह का इक़रारनामा तोड़ने का और मानहानि का दावा करके नालिश करेंगे। हितैषियों ने समझा दिया कि ऐसा होने से जो कुछ बाकी है वह भी पूरा हो जाएगा।

कहना व्यर्थ है कि मैं भी खूब बिगड़ा था। मूछों पर ताव देता हुआ सिर्फ यही मनाता था कि किसी प्रकार शंभुनाथ निरुपाय होकर हमारे चरणों पर गिरें।

किन्तु इस आक्रोश के काले रंग की धारा के पास ही एक और धारा बह रही थी उसका रंग काला नहीं था। सारा मन उस अपरिचिता की ओर दौड़ गया था। अब भी मैं उसे खींच कर लौटा नहीं सका था। हायरे, सिर्फ एक दीवाल भर का व्यवधान रह गया था। लिलार पर

उसके चंदन अंकित होगा, शरीर में लाल साड़ी और मुंह में लज्जा की लालिमा और हृदय में क्या था सो कैसे बताऊं। मेरे कल्पलोक की कल्पलता बसंत के समस्त फूलों का भार मुझे निवेदन करने के लिये झुकी हुई थी।—हवा आती है, सुगंधि मिलती है, पत्रों की मर्मर ध्वनि सुनाई देती है—केवल और एक पैर आगे बढ़ने की इन्तज़ारी है—ऐसे ही समय सिर्फ एक क्षण में उस एक डग का दूरत्व असीम हो गया।

इतने दिनों तक हर शाम को बीनूदा के घर जाकर उन्हें मैंने बेचैन कर दिया था। बीनूदा की वर्णन की भाषा अत्यन्त संकरी थी, इसीलिये उसकी प्रत्येक बात ने चिनगारी की भांति मेरे मन में आग लगा दी थी। समझा था, लड़की का रूप आश्चर्यजनक है किन्तु उसे न आंखों ही देख सका और न उसका चित्र ही देख सका; सब कुछ अस्पष्ट रह गया;—बाहर तो वह पकड़ में आ ही नहीं सकी मन में भी उसे नहीं ले आ सका—इसीलिये मन उस दिनके विवाह-सभा की दीवाल के बाहर भूत की तरह दीर्घ-निश्वास लेता हुआ चक्कर काटने लगा।

हरीश से सुना है कि लड़की को मेरा फोटोग्राफ दिखाया गया था। पसंद तो उसने किया ही होगा। न करने का तो कोई कारण नहीं है। मेरा मन कहता है कि वह चित्र उसकी किसी एक संदूक में छिपा के रखा हुआ है। क्या कभी एकांत घर में दरवाज़ा बंद करके दुपहरी के समय चुपचाप उस चित्रको नहीं देखती? जब झुककर देखती है तब चित्र के ऊपर उसके मुंह की दोनों ओर से लटकते हुए केश नहीं पड़ते होंगे। हठात् बाहर किसीके पैर की आवाज़ सुनकर अपने सुगंधित आंचल में उस चित्र को नहीं छिपा लेती?

दिन बीतते गए। साल पूरा हो गया। मामा तो मारे शर्म के विवाह संबंध की बात ही नहीं उठाते। मां की इच्छा थी कि लोग जब हमारे अपमान की बात भूल जायंगे तब विवाह की चेष्टा करेंगी।

इधर मैंने सुना कि उस लड़की के लिये एक अच्छा पात्र मिल गया था, परंतु उसने विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर ली है। सुनकर मेरा मन पुलक के आवेश से भर गया। मैंने कल्पना के नेत्रों से देखा कि उसने अच्छी तरह खाना पीना भी छोड़ दिया है। सांझ हो आती है, वह केश बांधना भूल जाती है। उसके पिता उसके मुंह की ओर देखते हैं कि मेरी बिटिया दिन दिन ऐसी क्यों होती जा रही है। अचानक किसी दिन उसके घर में आकर देखते हैं कि लड़की की दोनों आंखें आंसू से भरी हैं। पूछते हैं, बेटी, क्या हो गया है तुझे, बता न मुझे।—लड़की जल्दी आंखें पोंछ देती है। कहती है, कहां, कुछ भी तो नहीं हुआ बाबूजी!—बाप की एक ही लड़की है। बड़े दुलार से पली है। अनावृष्टि के समय की कली की तरह लड़की एकदम उदास हो गई है, यह देखकर बाप के प्राण अधिक नहीं सह सके। उस समय सारे

मान, अभिमान को बहाकर वे दौड़ आए हमारे द्वार पर। उसके बाद ? उसके बाद मनमें जो काले रंग की धारा थी, वह सांप का रूप धरकर फुफकार उठी। उसने कहा, बहुत खूब, फिर एकबार व्याह की सभा सजाई जाय, रोशनी जले, देश विदेश के आदमियों को न्योता दिया जाय, इसके बाद तुम वर के सेहरे को पैरों से रौंदकर सभा से चले आना।—किंतु जो धारा आंख के पानी की तरह शुभ्र है उसने राजहंस का रूप धारण करके कहा, जिस प्रकार मैं एक दिन दमयन्ती के पुष्प-वन में गया था, उसी प्रकार मुझे उड़ जाने दो। मैं विरहिणी के कानोंकान सुख का संवाद सुना आऊं—उसके बाद ? उसके बाद दुःख की रात बीत गई, नवीन वर्षा की धारा पड़ी, म्लान कलिका ने मुंह उठाया—इसबार उस दीवाल के बाहर रह गई सारी दुनिया और दुनिया के आदमी, और भीतर गया केवल एक मनुष्य। उसके बाद ? उसके बाद मेरी कहानी खतम हुई।

४

लेकिन कहानी यही खतम नहीं हुई। जहां आकर वह खतम होने से रह गई वहीं का थोड़ा सा विवरण देकर यह लेखा समाप्त कर दूंगा। मां को लेकर तीर्थ-यात्रा के लिये चला। मेरे ही ऊपर भार था, क्योंकि, मामा इस बार भी हवड़ा के पुल के इस पार नहीं हुए। रेलगाड़ी में सो रहा था। दचका खाते खाते दिमाग में नाना प्रकार के अस्त-व्यस्त स्वप्नों की झंकार बज रही थी। अचानक किसी एक स्टेशन पर नींद उचट गई। अंधकार और प्रकाश से मिल हुआ वह भी एक स्वप्न था ;—केवल आकाश के सितारे परिचित थे ओर सब कुछ अज्ञात और अस्पष्ट ;—स्टेशन की लालटेनों के खंभे खड़े होकर हाथ में दीपक लेकर दिखा रहे थे कि यह पृथिवी कितनी अपरिचित है और जो चारों ओर है वह कितनी दूर तक फैला हुआ है। गाड़ी में मां सो रही थीं—प्रकाश के नीचे हरा पर्दा खिचा हुआ था—ट्रंक, सूटकेस, माल असबाब, सब इधर उधर एक दूसरे के सिर पर अस्त व्यस्त भाव से बिखरे हुए हैं, वे मानों स्वप्नलोक के उलटे सुलटे असबाब हों, हरे प्रकाश के टिमटिमाते आलोक में रहने और न रहने के बीच में एक विचित्र ढंग से पड़े हुए हैं।

इसी समय उस अद्भुत पृथिवी की अद्भुत रात को न जाने कौन बोल उठा—जल्दी चली आओ इस गाड़ी में जगह है।

ऐसा मालूम हुआ मानों गान सुना है। बंगाली लड़की के कंठ की बंगला भाषा कितनी मधुर होती है वह इसी प्रकार असमय में और अस्थान में अचानक सुनने से ठीक समझ में आ

सकती है। लेकिन इस कंठ-स्वर को केवल किसी स्त्री का कंठ-स्वर कहकर किसी विशेष श्रेणी में डाल देना ठीक नहीं होगा। यह केवल एक ही मनुष्य का गला है—सुनते ही मन कह उठता है, ऐसा तो और कहीं नहीं सुना।

हमेशा ही गले का स्वर मेरे निकट बहुत बड़ा सत्य है। रूप नाम की वस्तु कुछ कम नहीं है किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि मनुष्य के भीतर जो अंतरतम है और जो अनिर्वचनीय है कंठ-स्वर उसीका चेहरा है। मैंने जल्दी जल्दी गाड़ी की खिड़की खोलकर बाहर सिर निकाला—कुछ भी नहीं दिखाई दिया। प्लेटफार्म के अंधकार में खड़े होकर गार्ड ने अपनी एक आंख वाली लालटेन हिला दी, गाड़ी चल पड़ी—मैं खिड़की के पास बैठ रहा। मेरी आंख के सामने कोई मूर्ति नहीं थी,—किन्तु हृदय में मैं एक हृदय का रूप देखने लगा। वह मानों इस तारामयी रात्रि के समान है, घेरकर पकड़ रखती है किन्तु उसको नहीं पकड़ा जा सकता। अजी ओ सुर, अनपहिचाने कंठ के सुर, एक ही निमेष में तुम मेरे चिर परिचय के आसन पर आ बैठे हो। कितने परिपूर्ण हो तुम—चंचलकाल के क्षुब्ध हृदय पर फूल की तरह खिले हो और फिर भी उसकी कोई तरंग तुम्हारी एक पपड़ी को भी नहीं हिला सकी है, अपरिमेय कोमलता में ज़रा भी धब्बा नहीं लगा।

गाड़ी लोहे के मृदंग पर ताल देती हुई चली।—मैं मन ही मन गान सुनते सुनते चला। इस गान का एकही टेक था—"गाड़ी में जगह है।" क्या सचमुच जगह है? जगह मिलती कहां है? कोई तो किसीको नहीं पहचानता। और फिर भी वह न पहचानना एक कुहासा मात्र है, वह माया है, उसके छिन्न होते ही पहचान का अंत नहीं। ओ सुधामय स्वर, तुम जिस हृदय के अनुपम रूप हो, वह क्या मेरा चिरकाल का पहचाना हुआ नहीं? जगह है; है—जल्दी आने के लिये पुकारा तुमने, जल्दी ही आया हूं, पल भर की भी देर नहीं की है।

रात में अच्छी तरह नींद नहीं आई। प्रायः हर स्टेशन पर एक एक बार गर्दन निकाल के देखा किया। डर बना रहा कि जिसे नहीं देख सका वह कहीं रात को ही न उतर पड़े।

दूसरे दिन सबेरे एक बड़े स्टेशन पर गाड़ी बदलनी थी। हमारे पास फर्स्ट क्लास का टिकट था—पूरा भरोसा था कि भीड़ नहीं होगी। उतरकर देखता हूं प्लेटफार्म पर साहब लोगों के अर्दली माल असबाब लेकर गाड़ी की इन्तज़ारी कर रहे हैं। मालूम हुआ कि किसी फौज के एक बड़े जनरल साहब भ्रमण के लिये चले हैं। दो तीन मिनट बाद ही गाड़ी आई। समझ गया फर्स्ट क्लास की आशा छोड़नी पड़ेगी। मां को लेकर किस गाड़ी में उठूं यह कठिन चिन्ता सिर पर सवार हुई। सारी गाड़ी भरी पड़ी है। प्रत्येक दरवाज़े पर झांक झांक कर

लौट आया, कहीं जगह नहीं थी, इसी समय सेकंड क्लास की गाड़ी से एक लड़की ने मां को लक्ष्य कर के कहा, आपलोग हमारी गाड़ी में आ जांय—यहां जगह है।

मैं चौंक पड़ा। वह आश्चर्य-मधुर कंठ और गान का वही टेक—'जगह है'। क्षण भर विलंब किए बिना मां को लेकर गाड़ी में दाखिल हो गया। माल असबाब उठाने का समय प्रायः था ही नहीं। मेरे जैसा अक्षम दुनिया में कोई नहीं है। उसी लड़की ने कुलियों के हाथ से जल्दी जल्दी चलती गाड़ी में हमारा विस्तर वगैरह खींच लिया। एक फोटो लेने का मेरा कैमरा स्टेशन पर ही रह गया। मैंने परवाह नहीं की।

इसके बाद—क्या लिखूं नहीं जानता। मेरे मन में एक अखंड आनंद का चित्र है। कहां से शुरू करूं और कहां समाप्त करूं। बैठे बैठे वाक्य पर वाक्य जोड़ने की इच्छा नहीं होती।

इस बार उस सुर को मैंने आंखों देखा। उस समय भी ऐसा लगा कि वह सुर ही है। मां के मुंह की ओर देखा। उनकी आंखों के पलक नहीं गिर रहे थे। लड़की की उमर सोलह या सत्रह होगी—किन्तु नवयौवन ने इसके शरीर में या मन में कहीं भी लेशमात्र भी भार लाद नहीं दिया था। गति सहज, दीप्ति निर्मल, सौन्दर्य की शुचिता अपूर्व थी। कहीं भी कोई जड़िमा नहीं।

मैं देखता हूँ, विस्तारपूर्वक कहना मेरे लिये असंभव है। यहां तक कि मैं यह भी नहीं कह सकता कि उसने किस रंग का कपड़ा किस प्रकार पहना था। यह खूब सही बात है कि उसकी बेश भूषा में ऐसा कुछ भी नहीं था, जो उसको दबाकर विशेष रूप से दीख पड़े। वह अपने चारों ओर के सब कुछ की अपेक्षा अधिक थी—रजनीगंधा की शुभ्र मंजरी के समान सरल वृंत पर खड़ी होकर उसने उस सारे पौधे को अतिक्रम कर लिया था जिसमें कि खिली थी। साथ में दो तीन छोटी छोटी लड़कियां थीं। उनके साथ उनकी बातचीत और हंसी का कोई अंत नहीं था। मैं हाथ में पुस्तक लेकर उधर ही कान लगाए बैठा था, जितना कुछ कानों में आता था वह बच्चों के साथ कही हुई लड़कपन की ही बातें थीं। विशेषत्व यह था कि उसमें उमर का व्यवधान कुछ भी नहीं था—शिशुओं के साथ वह भी शिशु हो गई थी—अनायास ही और आनंदपूर्वक। साथ में कुछ बच्चों की कहानियों की सचित्र पुस्तकें थीं। उसीमें से कोई कहानी सुनाने के लिये लड़कियों ने ज़िद की। यह कहानी उन्होंने निश्चय ही बीस-पचीस बार सुनी है, फिर भी उनका आग्रह इतना क्यों है मैं समझ सका। उस अमृत-कंठ की स्वर्ण-शलाका से छुआ जाकर सब कुछ सोना हो जाता है। उस लड़की का सारा शरीर और मन प्राणों से एकदम परिपूर्ण था। उसके चलने, बोलने, छूने सब कुछ से प्राण छिटकता रहता है। इसीलिये

जब लड़कियां उसके मुंह से कहानी सुनती हैं तो असल में वे उसीको सुनती हैं कहानी को नहीं। उनके हृदय परप्राण का झरना झरने लगता है। उसका वह उद्भासित प्राण उस दिन के मेरे समस्त सूर्य-किरणों को सजीव करता रहा, मेरे मनमें आया कि जिस प्रकृति ने मुझे अपने आकाश से वेष्टित किया है वह उस तरुणी के अक्लान्त अम्लान प्राण का ही विश्वव्यापी विस्तार है।—आगेवाले स्टेशन पर पहुंचते ही उसने खोंमचेवाले को बुलाकर भूने चने के ठोंगे खरीद लिए और लड़कियों के साथ मिलकर बच्चों की तरह निस्संकोच खाने लगी। मेरी प्रकृति जाल से घिरी हुई है— मैं सहज भाव से हंसता हुआ उस लड़की के पास जाकर एक मुट्ठी चना क्यों नहीं मांग सका? हाथ बढ़ाकर अपने लोभ को क्यों नहीं स्वीकार कर लिया।

मां अच्छा लगना और बुरा लगना इन दोनों के बीच दुविधे में पड़ी हुई थीं। गाड़ी में मैं पुरुष बैठा हुआ हूं तौभी इसको कुछ भी संकोच नहीं हो रहा है, और विशेष करके इस प्रकार लोभी की तरह से खा रही है कि मां को उसकी यह रहन बिल्कुल पसंद नहीं आ रही है और फिर भी उन्हें यह भ्रम नहीं हुआ कि वह बेहया है। उनके मनमें ऐसा लग रहा था कि इस लड़की की उमर तो हो गई है पर शिक्षा नहीं हुई। मां अचानक किसीके साथ बातचीत नहीं कर सकतीं। दूर दूर रहना ही उनका अभ्यास है। इस लड़की से परिचय बढ़ाने की उनकी खूब इच्छा थी, परंतु स्वाभाविक बाधा को अतिक्रम नहीं कर सकती थीं।

ऐसे ही समय गाड़ी एक बड़े स्टेशन पर आकर रुकी। उसी जनरल साहब के एक अनुषंगी इस स्टेशन से गाड़ी में बैठने का प्रयत्न कर रहे थे। गाड़ी में कहीं जगह नहीं थी। बार बार हमारी गाड़ी के सामने आकर वे लौट गए। मां तो डर के मारे सिमट गईं। मेरे मनमें भी शान्ति नहीं थी।

गाड़ी छूटने के थोड़ी देर पहले एक देशी रेलवे अफ़सर ने नाम लिखे हुए दो टिकट गाड़ी के दोनों बेंचों के सिरहाने लटकाकर मुझसे कहा, इस गाड़ी के दो बेंच पहले से ही दो साहबों ने रिज़र्व करा रखा है। आप लोगों को दूसरी गाड़ी में जाना होगा।

मैं तो जल्दी जल्दी धड़फड़ाकर उठ खड़ा हुआ। लड़की ने हिन्दी में कहा, हम गाड़ी नहीं छोड़ सकते।

उस आदमीने रुखाई के साथ कहा, कोई उपाय नहीं है, छोड़ना ही पड़ेगा किन्तु लड़की के हिलने का कोई लक्षण नहीं देखकर वह उतर गया। और अंग्रेज़ स्टेशन मास्टर को बुला लाया। उसने आकर मुझसे कहा, मुझे आफ़सोस है लेकिन—

सुनकर मैं कुली, कुली कहकर चिल्लाने लगा। लड़की की दोनों आँखों से आग बरसने लगी, वह उठकर मेरे पास चली आई और बोली, नहीं, आप नहीं जा सकेंगे। जैसे हैं वैसे ही

बैठे रहिए। मुझसे इतना कहकर वह दरवाजे के पास आकर खड़ी हो गई और स्टेशन मास्टर से अंग्रेजी में बोली, यह बात झूठ है, कि यह गाड़ी पहले से रिज़र्व है और नाम लिखे हुए टिकटों को नोचकर प्लैटफार्म पर पटक दिया।

इसी बीच अर्दली समेत यूनिफार्मधारी साहब द्वार के पास खड़े हो चुके थे। गाड़ी में माल उठाने के लिये अर्दली को इशारा कर चुके थे, किन्तु लड़की के मुंह की ओर देखकर उसकी बातें सुनकर और सारा व्यापार समझकर स्टेशनमास्टर को धीरे से अपनी ओर खींचा और आड़ में जाकर न जाने आपस में क्या बातें की। देखा गया, कि गाड़ी छूटने का समय बीत जाने पर भी एक दूसरी गाड़ी जोड़ी गई और तब ट्रेन छूटी। उस लड़की ने अपने दलबल को लेकर फिर चना खाना शुरु किया और मैं लज्जा का मारा खिड़की से बाहर मुंह निकालकर प्रकृति की शोभा देखने लगा।

कानपुर गाड़ी आकर रुकी। लड़की माल असबाब बांधकर तैयार हो गई—स्टेशन पर एक हिन्दुस्तानी नौकर दौड़ा आया और इनको उतारने का प्रयत्न करने लगा।

मां तब और नहीं रह सकीं। पूछा, तुम्हारा नाम क्या है बेटी?

लड़की ने जवाब दिया, मेरा नाम कल्याणी है।

सुनकर हम दोनों चौंक उठे।

तुम्हारे पिता—

वे यहीं डाक्टर हैं, नाम है शंभुनाथ सेन

इसके बाद सब उतर गईं।

उपसंहार

मामा का निषेध अमान्य करके माता की आज्ञा ठेलकर उसके बाद अब मैं कानपुर आ गया हूं। कल्याणी के बाप और कल्याणी के साथ भेंट हुई है। हाथ जोड़े हैं, सिर झुकाया है—शंभुनाथ बाबू का हृदय गला है। कल्याणी कहती है, मैं विवाह नहीं करूंगी।

मैंने पूछा, क्यों?

उसने कहा, माता की आज्ञा।

अनर्थ हो गया! इधर भी कोई मामा है क्या?

बाद में समझा मातृभूमि है। इस विवाह भंग के बाद कल्याणी ने लड़कियों की शिक्षा का व्रत ग्रहण किया है।

किन्तु मैं आशा नहीं छोड़ सका। क्योंकि वह सुर आज भी मेरे हृदय में बज रहा है—न जाने किस उस-पार की बंशी है—मेरे संसार के बाहर से आया—सारे संसार के बाहर से पुकारा। और वह जो रात को अंधकार में मेरे कानों में आया था, "जगह है," वह मेरे चिर जीवन के गान का टेक हो गया है। उस समय मेरी उमर थी तेइस अब हो गई है सत्ताईस। अब भी आशा नहीं छोड़ी है, लेकिन मामा को छोड़ दिया है। मां का एकलौता पुत्र हूं महज़ इसीलिये मां मुझे नहीं छोड़ सकी हैं।

तुम समझते हो, मैं विवाह की आशा करता हूं? नहीं, कदापि नहीं। मेरे मन में है सिर्फ एक रात के अपरिचित कंठ के मधुर स्वर की आशा—'जगह है', निश्चय ही है। न होगी, तो मैं खड़ा कहां होऊंगा। इसीलिये साल पर साल बीतते जाते हैं मैं यहीं हूं। भेंट होती है, वह कंठस्वर सुनता हूं। जब सुविधा पाता हूं उसका कुछ काम कर देता हूं—और मन कहता है यही तो जगह मिली है। ओ अपरिचिता, तुम्हारे परिचय की समाप्ति नहीं हुई, होगी भी नहीं। लेकिन भाग्य मेरा अच्छा है, जगह तो पा गया।

विदेशी साहित्य का संस्पर्श

[एक पाठक ने यह जानना चाहा है कि 'विदेशी संस्पर्श के कारण जो विषाक्त साहित्य इस देश में प्रचारित हो रहा है उसके विषय में' रवीन्द्रनाथ का क्या मत था। प्रश्नकर्त्ता ने स्पष्ट रूप से नहीं लिखा कि 'विषाक्त साहित्य' से उनका क्या तात्पर्य है, पर शब्दार्थ पर विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि वे उस जाति के साहित्य की ओर इशारा कर रहे हैं जो इस देश की परंपरा से विच्छिन्न है और देश के लाखों करोड़ों अधिवासियों की उपेक्षा करता है तथा परिणाम में मारक है (क्योंकि अन्यथा 'विदेशी संस्पर्श' को विषाक्तता का कारण नहीं माना जा सकता)। ऐसे साहित्य के विषय में किसी भी विचारशील व्यक्ति का मत एक ही हो सकता है, वह यह कि ऐसा साहित्य देश के लिये हितकर नहीं है। परन्तु कभी कभी अपने व्यक्तिगत या सामाजिक संस्कारों के कारण मोहवश हम सभी विदेशी संस्पर्श को घातक समझने लगते हैं। ऐसे अवसरों पर हम भूल जाते हैं कि चीन या श्याम देश के लिये भारतीय साहित्य विदेशी था और यदि विदेशी होना ही दोष है तो हमारे पूर्वजों ने उन देशों के साथ घोर अन्याय किया था! लेकिन वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। सभी 'विदेशी संस्पर्श' बुरे नहीं होते और हम आशा करते हैं कि हमारे प्रश्नकर्ता पाठक भी ऐसा नहीं समझते। इस समय यूरोपियन साहित्य का जो प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ रहा है वह आंशिक ही है। यूरोप में विज्ञान, गणित, दर्शन आदि का जो विपुल साहित्य तैयार हो रहा है वह वहां के अद्भुत-से दिखने वाले विचारों को संयमित करता है। दुर्भाग्यवश अपने देश में जो साहित्यिक वाद आते हैं वे विच्छिन्न होकर आते हैं और इस देश में विचित्र-से दिखाई देते हैं। उचित नियामक के अभाव में वे कभी कभी लाभ की अपेक्षा हानि अधिक करते हैं। थोड़े से शिक्षित समझे जाने वाले लोग ही उन्हें ले आते हैं, उनपर तर्क वितर्क करते हैं, और मान्य या अमान्य क़रार देते हैं। देश की ८५ फी सदी जनता के लिये उसका कोई अस्तित्व ही नहीं होता। इस प्रकार एक तरफ़ तो वे जहां से आते हैं वहां के पारिपार्श्विक संस्पर्श से विच्छिन्न होते हैं और दूसरी तरफ़ जहां आते हैं वहां जड़ नहीं जमा पाते। इस अस्वाभाविक व्यवस्था के कारण बहुत सी निर्दोष बातें भी विकृत दिखती हैं। नीचे हम इस विषय में रवीन्द्रनाथ का मत उद्धृत करते हैं—संपादक वि० भा० प०]

"मध्य एशिया की मरुभूमि में जिन पर्यटकों ने प्राचीन युग के चिह्नों की खोज की है, उन्होंने देखा है कि वहां कितने ही समृद्ध जनपद आज रेती में दबकर बिला गए हैं। किसी समय उन स्थानों में पानी का संचय था, नदी की रेखाएं अब भी मिलती हैं। परन्तु मालूम नहीं कब रस सूखने लगा और मरुभूमि एक एक कदम आगे बढ़ने लगी, और मालूम नहीं कब उसने अपनी सूखी जीभ से हमारे हृदय को चाटना शुरू कर दिया जो आज लोकालय का अन्तिम हस्ताक्षर तक असीम पाण्डुरता में विलीन हो गया। असंख्य ग्रामों को लेकर जो हमारा देश है,

उस देश की मनोभूमि में भी रस का उद्भव आज रुक गया है। जो रस बहुत समय से नीचे के स्तरों में व्याप्त हुआ पड़ा है, वह भी दिनों दिन खुश्क हवा की गरम सांसों से उड़ जायगा। अन्त में प्राणनाशा मरुभूमि आगे बढ़ बढ़कर तृष्णारूपी अजगर की तरह हमारे इस ग्रामों से गुंथे हुए देश को ग्रास करती रहेगी। मरुभूमिका यह आक्रमण हमारी निगाह में नहीं आता, क्योंकि एक विशेष शिक्षा की वजह से देश की देखने वाली आंखें हमने खो दी हैं, झरोखे की लालटेन के उजाले के समान हमारी संपूर्ण दृष्टि का लक्ष्य केन्द्रीभूत हो गया है शिक्षित समाज की ओर। मैं किसी समय बहुत दिनों तक बंगाल के गांवों के निकट संबंध में रहा हूं। गरमियों के दिन में एक दुःख का दृश्य मेरी आंखों के सामने आता था। नदी का पानी उतरते उतरते सूख गया है, किनारे की ज़मीन फ़ट गई है, तालतलैयों की तलेटी की गंदी मिट्टी तक दिखाई देने लगी है, और चारों तरफ तड़कती हुई गरम बालू धांय धांय कर रही है। स्त्रियां बहुत दूर पैरों चलकर घड़े में नदी का पानी ला रही हैं। उस पानी को अश्रु-जल मिश्रित न कहें तो क्या कहें? गांवों में आग लगे तो बुझाने का कोई उपाय नहीं और हैज़ा दिखाई दे तो उसका रोकना मुश्किल हो जाता है।

"यह हुई एक बात। इसके सिवा एक और दुःख की वेदना ने मेरे हृदय पर चोट पहुंचाई थी। शाम हो रही है, तमाम दिन खेत खलिहान का काम पूरा करके किसान घर लौट रहे हैं। एक तरफ़ विस्तृत मैदान निस्तब्ध अंधकार से छाया हुआ है, और दूसरी तरफ़ बांसों के झाड़ों के भीतर एक एक गांव मानों रात की बाढ़ के ठीक बीचों बीच घनघोर अंधकारमय द्वीपों की तरह पड़े हैं। उस तरफ़ से ढोलक बजने की आवाज़ सुनाई दी और उसके साथ ही बहुत से लोगों का एक साथ एक स्वर से भजन कीर्तन का एक ही पद बार बार सुनाई देने लगा। सुनकर मालूम होता था, यहां भी चित्तरूपी जलाशय का पानी तले तक आ पहुंचा है। उत्ताप बढ़ गया है, परन्तु उसे ठंडा करने का पानी कितना थोड़ा है। एक के बाद एक वर्षों बीत गए इसी तरह दीन अवस्था में दिन काटते, इससे कैसे प्राण बच सकते हैं, अगर बीच बीच में ऐसा अनुभव न किया जाय कि हड्डीतोड़ मेहनत मजूरी के बाद भी मन कहता है—मनुष्य के अन्दर ऐसी भी एक जगह है जहां अपमान का उपशम होता है और वहां वह दुर्भाग्य की दासता से बचकर ज़रा दम लेकर आराम कर सकता है। किसी समय मनुष्य को इस प्रकार की तृप्ति देने के लिये समस्त समाज ने बहुत बड़ा आयोजन किया था। उसका कारण यह था कि समाज ने विपुल जनसाधारण को अपना समझकर स्वीकार कर लिया था। वह जानता था कि उनके नीचे उतर जाने पर सारा देश ही नीचे उतर जायगा। आज जनता का मानसिक उपवास दूर करने के लिये कोई भी उसकी कुछ भी सहायता नहीं करता। उनके कोई आत्मीय या अपने आदमी नहीं हैं। बेचारे अपने आप ही पहले जमाने की तलछट से ही किसी तरह थोड़ी सी सान्त्वना पाने की कोशिश

करते रहते हैं। और कुछ दिन बाद यह भी खतम हो जायगा, सारे दिन के दुःख-धंधों के रीते तट पर निरानंद घरों में दीआ भी न जलेगा ; और न गीत ही सुनाई देंगे। वहां बांस झाड़ों में झींगुर झनकारेंगे, झाड़ियों में से पहर-पहर पर सियारों की बोली सुनाई देगी और उसी समय शहरों में शिक्षाभिमानियों के झुण्ड बिजली की रोशनी में सिनेमा देखने के लिये भीड़ लगाए रहेंगे।

एक ओर तो हमारे देश में सनातन शिक्षा की व्यापकता रुक जाने से जन-साधारण में ज्ञान का अकाल चिरंजीव होकर खड़ा हो गया, और दूसरी ओर आधुनिक समय की नई विद्या का जो आविर्भाव हुआ, उसका प्रवाह भी सार्वजनिक देश की ओर नहीं बहा। पत्थर के बने कुंडों के पानी की तरह वह जगह-जगह आबद्ध होकर रह गया। जहाँ बहुत दूर से आकर तीर्थ के पंडों को दक्षिणा देकर तब कहीं अंजुलि भरने की नौबत आती है,—नियम ही ऐसे कसकर बाँधे गए हैं। मन्दाकिनी के रहने का स्थान विशेष रूपसे शिव के पेचीले जटाजूट में ही है, मगर फिर भी उन्होंने अपनी धारा देवललाट से उतार कर बहुत ही साधारण रूप में घाट-घाट के नीचे से मर्त्यजनों के द्वार के सामने होकर बहाई है और घट-घट में भरकर अपना प्रसाद बाँटा है। परन्तु हमारे देशमें चालू प्रवासिनी आधुनिकी विद्या वैसी नहीं है। उसमें विशिष्ट रूप तो है, पर साधारण रूप नहीं है। इसीलिये अंगरेजी सीखकर जिन्होंने विशिष्टता प्राप्त की है, सर्वसाधारण के संग उनके मन का मेल नहीं होता। हमारे देश में सबसे बढ़कर जातिभेद यही है, श्रेणियों में परस्पर अस्पृश्यता इसीका नाम है।

अंगरेजी भाषा के घूंघट में छिपी हुई विद्या स्वभावतः ही हमारे मन की सहवर्तिनी होकर नहीं चल सकती। यही वजह है कि हममें से अधिकांश लोगों को ही जितनी शिक्षा मिलती है, उतनी विद्या नहीं मिलती। अपने चारों ओर की आबहवा से यह विद्या विच्छिन्न है, बिछुड़ी हुई है ; हमारे घर और स्कूल के बीच ट्राम या पाँवगाड़ी चलती है, मन नहीं चलता। स्कूल के बाहर पड़ा हुआ है हमारा देश ; उस देश ने स्कूल का विरोध ही लादा है काफी, सहयोगिता तो नाम को भी नहीं। उस विच्छेद के कारण हमारी भाषा और विचारधारा अधिकांश स्थलों पर स्कूली लड़कों के समान ही चला करती है। नोटबुकों का शासन हम पर से हटा नहीं, और न हमारी विचार-बुद्धि में इतना साहस ही है ; बस हम तो सिर्फ नजीर से मिला मिलाकर बहुत ही सावधानी से क़दम रखकर चलना जानते हैं। शिक्षा के साथ देश के मन या हृदय का सहज स्वाभाविक मेल कराने की तैयारियां भी आज तक नहीं हुईं। यह वैसा ही है जैसे दुलहिन रह गई इस पार मैके के जनानखाने में ही और उसका दुलहा रहता है नदी के उस पार रेती छोड़-कर और भी आगे। आखिर पार होने की नाव गई कहां?

पार होने के लिये एक डोंगी दिखा दी जाती है ; उसका नाम है साहित्य। यह बात माननी ही पड़ेगी कि हमारा आधुनिक साहित्य वर्तमान युग के अन्नवस्त्र से प्रतिपालित हुआ है। इस साहित्य ने नई रोशनी की छूत हमारे मनमें लगा दी है ; लेकिन हमें पनपानेवाली असली खूराक वह उस पार से पूरी पूरी ला ही नहीं रहा। जो विद्या वर्तमान युग की चिन्ता शक्ति या विचारधारा को विचित्र आकार में प्रकट कर रही है और विश्वरहस्य के नये नये द्वार खोल रही है, हमारे साहित्य के मुहल्ले में उसका जाना आना नहीं के बराबर ही है। जो मन विचार करता है, और जो मन बुद्धि के साथ हमारे व्यवहार का समन्वय स्थापित करता है, वह तो पूर्व युगान्तर में ही पड़ा हुआ है ; और जो मन रस का संभोग करता है उसने जाना आना शुरू कर दिया आधुनिक भोज की निमंत्रणशाला के आंगन में! स्वभावतः ही उसका झुकाव उसी तरफ़ हो रहा है जिधर मद्य परोसा जा रहा है, जहां उग्र गंध से हवा हो गई है मतवाली।

कहानी, कविता और नाटक, इन्हीं से हमारे साहित्य की पन्द्रह आने तैयारियां हो रही हैं। अर्थात् दावत का आयोजन हो रहा है, शक्ति का आयोजन बिल्कुल नहीं। यह सब कुछ हो रहा है पाश्चात्य देश की चित्ताकर्षक विचित्र चित्तशक्ति के प्रबल सहयोग से। वहां मनुष्यत्व देह मन प्राण में सभी दिशाओं में व्यक्त है इसीलिये अगर वहां त्रुटियां भी हैं तो साथ साथ उनकी पूर्ति भी है। मानलो, वटवृक्ष की कोई डाली आंधी से टूट रही है, कहीं पर कीड़े खा खा कर उसे खोखला कर रहे हैं, किसी साल वर्षा ही कम है ; परन्तु फिर भी कुल मिलाकर वनस्पति ने अपने स्वास्थ्य और शक्ति को बनाए रखा है उसी तरह पाश्चात्य देशों के मन और प्राणों को क्रियाशील कर रखा है वहां की अपनी विद्या ने, अपनी शिक्षा ने, अपने साहित्य ने ; इन सबने मिलकर अपनी काव्य शक्ति की अथक उन्नति की है। इन सबके उत्कर्ष से ही वहां का उत्कर्ष है।

हमारे साहित्य में रस का ही प्राधान्य है। इसीलिये जब कभी कोई असंयम या कोई चित्त-विकार अनुकरण के नाले से होकर इस साहित्य में प्रवेश करता है तो वही प्रधान हो उठता है और हमारी कल्पना को वह रुग्णविलासिता की ओर बढ़ाकर वीभत्स कर देता है। प्रबल प्राणशक्ति जब जाग्रत नहीं रहती तो देश के छोटे छोटे विकार भी बात की बात में विषाक्त फोड़ा बनकर लाल सुर्ख हो उठते हैं। हमारे देश में इसी बात की आशंका है। इस बारे में दोष लगाए जाने पर हम नजीर दिखाने लगते हैं पाश्चात्य समाज की ; कहते हैं यही तो सभ्यता की आधुनिकतम (अप-टु-डेट) परिणति है ; परन्तु उसके साथ ही सभ्यता की जो विचारपूर्ण सचल प्रबल और विशाल समग्रता चारों ओर फैली हुई है, उसे हम दबा ही जाते है।"

अपनी बात

'विश्वभारती पत्रिका' का यह अंक छप रहा था कि भारत सरकार के नये पेपर कंट्रोल (इकानमी) आर्डर का समाचार प्रकाशित हुआ। तब तक पत्रिका के चार फार्म क़रीब क़रीब छप चुके थे। तीसरे फार्म में कुछ पृष्ठ हमने इसलिये बचा रखे थे कि उस में आचार्य नन्दलाल वसु का एक महत्त्वपूर्ण शिल्पशास्त्रीय लेख प्रकाशित करेंगे। इस बीच यह आर्डर आ गया। इस नये विधान के अनुसार त्रैमासिक पत्रिका को भी ७० फी सदी कम काग़ज़ खर्च करके अपनी जीवन-रक्षा करनी होगी। हम भारत सरकार से प्रार्थना कर रहे हैं कि हमें कुछ अधिक सुभीता मिले। विश्वभारती पत्रिका के पाठक मात्र जानते हैं कि यह व्यावसायिक उद्देश्य से नहीं निकलती वरन् घाटे पर चल रही है। हमने महान् उद्देश्य से पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया था। इन सब बातों को ध्यान में रखकर यदि सरकार ने हमें कुछ अधिक सुविधा दी तो हम पत्रिका को फिर उसी ठोस रूप में निकालते रहेंगे जिस रूप में अब तक निकालते रहे हैं। नहीं सुविधा मिली तो ३२ में, और भी ठोस करके, अधिक से अधिक स्वादु और पौष्टिक साहित्य देकर आपत्काल के धर्म का पालन करते रहेंगे। हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारी विवशता को देखकर पाठक हमें पूर्ववत् अपना प्रेम और सहयोग देते रहेंगे। अपनी ओर से हम विश्वास दिलाते हैं कि हम कुछ उठा नहीं रखेंगे।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

चीन में बौद्धधर्म के प्रवेश की दन्तकथाएं

(शेषांश)

उ० शिऔ-लिङ्

(६) छिन्-ष-हुआङ् काल (२४६-२१० ई० पू०)

थाङ्-राज्य के भदन्त धर्मरत्न (फ़ा-लिन्) जिन्होंने फु-इ के ग्रन्थ का प्रत्याख्यान किया है चु-ष-शिङ् की लिखी सूत्रानुक्रमणी (=चिन्-लु) उद्धृत की है : "छिन्-ष-हुआङ् के समय में ष-ली-फ़ाङ् प्रभृति ८० विदेशी श्रमण आए। वे ष-हुआङ् को उपदेश देने के लिये अपने साथ बौद्ध सूत्र लाए थे। ष-हुआङ् ने उनकी न सुनी और उन्हें कैदखाने में डाल दिया। रात को १६ फ़ीट लम्बा वज्र प्रकट हुआ और कैदखाने को तोड़कर उन्हें मुक्त किया। इससे ष-हुआङ् बहुत डरा उसने वन्दना की और क्षमा मांगी।"

यह कहानी नान्-पइ-छाव् के समय (४२०-५८७ ई०) तक किसीने उद्धृत नहीं की। सुअइ (५८०-६१८ ई०) राज्य तक फ़इ-छाङ्-फाङ् के त्रिरत्न थे। इतिहास में पहले पहल इसकी चर्चा है पर उसने यह नहीं कहा कि यह कहानी उसने ताव्-आन् और चु-ष-शिन् के चिङ्-लु से ली है। यदि यह मानलें कि ताव्-आन् के चिङ्-लु में यह कहानी थी तो हुअइ-चिअव् की लिखी काव्-सङ्-चुआन् पोथी में ताव्-आन् की जीवनी के भीतर इस बात का साफ़ उल्लेख होना ज़रूरी था पर उसका उल्लेख नहीं है। चु-ष-शिङ् के चिङ्-लु का भी पहले पहल लि-ताय्-सान्-पाव्-चि में ही उल्लेख हुआ है। इस पोथी से पहले और कहीं इसका उल्लेख नहीं हुआ। फ़इ-छाङ्-फाङ् जिसने की इस कहानी का ज़िक्र किया है वह भी कहता है कि उसने मूल पोथी नहीं देखी। रही बात ली-ताय्-सान्-पाव्-चि की वह एक असाधारण रूप से भ्रामक ग्रन्थ है। उसका मत विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। उसमें कहा गया है कि यह कहानी ताव्-आन् और चु-ष-शिङ् के चिङ्-लु से ली गई है पर जान पड़ता है कि कहानी और पोथियों के नाम दोनों ही गढ़ लिए गए हैं।

ष-ली-फ़ाङ् की कहानी के बारे में कितनों ही का विश्वास है कि वह सत्य है क्योंकि अशोक और छिन्-ष-हुआङ् का समय एक ही है तथा अशोक ने २५६ भिक्षुओं को बाहर धर्म प्रचार के लिये भेजा था। संभव है ष-ली-फ़ाङ् को अशोक ने भेजा हो और वह चीन

पहुंच गया हो। पर अशोक ने जितने भी भिक्षु धर्म-प्रचार के लिये भेजे थे उनमें से कितने ही पश्चिमोत्तर अवश्य गए पर पूर्वोत्तर जाने का कोई प्रमाण नहीं है। कितने ही लोग कहते हैं कि अशोक ने धर्म प्रचार के लिये बर्मा को भी भिक्षु भेजे थे एवं बौद्धधर्म बर्मा पहुंचकर समुद्र के रास्ते चीन पहुंचा। पर आधुनिक पण्डितों की खोज के हिसाब से अशोक से ३०० वर्ष बाद बर्मा में बौद्धधर्म पहुंचा। सास-मा-छिआन् के इतिहास (=ष-चि) में ष-हुआङ् की जीवनी में कहा है कि छिन्-ष-हुआङ् ने अपने राज्य के ३३ वें बरस (२१४ ई० पूर्व) मङ्-चिआन् से पीली नदी पारपर काव्-छप् नगर, काव् पर्वत, और पइ-चिआ प्रदेश पर क़ब्ज़ा करने और बर्बरों को रोकने के लिये बड़ी दीवार बनाने को कहा। तथा कैदियों को नये इलाक़ों में ले जाने की आज्ञा दी और वे पच्छिम के तारों को न पूजें इसके लिये निषेध (आज्ञा जारी) की। मूलग्रन्थ बहुत साफ़ है। पर जापानी पं० थङ्-पिआन्-फ़ङ्-या ने (पु-तौ=निषेध किया, मनाकिया) शब्द का ठीक अर्थ न समझकर ख्याल कर लिया कि पु-तौ शायद बुद्ध शब्द-की चीनी में अनुलिखित ध्वनि है और उक्त वाक्य का यह अर्थ कर डाला कि उसने बुद्ध की पूजा मना की। इसलिये उसका मत है कि बौद्धधर्म छिन् राज्य में चीन पहुंचा पर ष-हुआङ् ने उसे पनपने न दिया। इस प्रकार के मत का आरम्भ जापानी पण्डित से ही नहीं हुआ है। चुङ्-पिन् के मिङ्-फ़ो-लुन् में कहा है कि बौद्धग्रन्थ प्राचीन समय में ही चीन पहुंच चुके थे पर छिन् राज्य के कारण वे नष्ट भ्रष्ट हो गए। इतिहास में छिन्-ष-हुआङ् की दो बातें सबसे मशहूर हैं। पोथियों को जलाना और पण्डितों को जीवित ही दफ़नाना। इस बात ने बाद के लोगों को मनगढ़ी बातें बनाने का अच्छा मौका दिया। वस्तुतः पुराने समय में शिक्षा मौखिक ही होती थी। सूत्रों के अनुवादों के आरम्भिक युग में अनुवाद मौखिक ही होते थे। इसलिये जलाने का उनपर प्रभाव नहीं पड़ सकता था। खुङ्-च का ग्रन्थ भी जला डाला गया था। पर बाद में हान् राज्य में हम देखते हैं कि पण्डित लोग उनकी मौखिक शिक्षा दे रहे हैं और वह परम्परा आज भी जारी है। बौद्धों का आग्रह पूर्वक यह मत है कि बौद्ध धर्म चाउ-राज्य में चीन पंहुचा पर वे इसका कोई प्रमाण नहीं दे सकते हैं इसलिये वे कहते हैं कि छिन्-ष-हुआङ् ने पोथियां जला डाली थीं। अब भला उन्हें क्षमा न किया जाए तो क्या किया जाए।

(७) हान्-उ-ति काल (१४०-८७ ई० पू०)

हान्-उ-ति के तुङ्-फाङ्-सुओ के बारे में मशहूर है कि वे गत कल्पान्त में भस्म हुए संसार की राख को जानते थे। बौद्ध लोग इनका हवाला इस बात को साबित करने के लिये देते रहे हैं कि उस समय बौद्धधर्म चीन पहुंच चुका था क्योंकि कल्पान्त में संसार के भस्म होने की बात बौद्धों की

पौराणिक परम्परा में पाई जाती है। सचमुच तुङ्-फाङ्-सुओ का चरित्र बड़ा ही मनोरञ्जक है। उसे दरबारी कवि कहने की अपेक्षा विदूषक कहना कहीं ज्यादा अच्छा होगा। उसके इस अनोखे चरित्र के कारण अनेकों अनोखी कहानियां गढ़कर उसके साथ जोड़ दी गई हैं। इसीलिये हान्-षु (हान् राज्य का एक इतिहास ग्रन्थ) में तुङ्-फाङ्-सुओ की जीवनी की समीक्षा करते कहा गया है "बाद के गप्पी लोगों ने बहुत सी बातें बनाकर उसके साथ सटा दी हैं।" हान्-षु में नहीं कहा गया कि वह "कल्पान्त भस्म" को जानता था। केवल काव्-सङ्-चुंआन् में भारतीय भिक्षु धर्मारण्य की जीवनी में उक्त लेख के सदृश ही एक लेख है। "हान्-उ-ति ने खुन्-मिङ् झील को खुदवाया, उसमें उसे काली राख मिली। उसके बारे में उसने तुङ्-फाङ्-सुओ से पूछा उसने उत्तर दिया मैं नहीं जानता। पश्चिम के बर्बरों से पूछो बाद में धर्मारण्य चीन पहुंचे लोगों ने यह बात याद रक्खी और उनसे पूछा। उन्होंने उत्तर दिया, "संसार के प्रलय होने के काल अग्नि ने सब कुछ जला डाला था, यह उसीकी राख है।" इससे तुङ्-फाङ्-सुओ की बात प्रमाणित हो गई और इस बात पर बहुत लोगों का विश्वास है। ष-मन्-चेङ्-चुङ्, के चौथे अध्याय में भी यही बात कही गई है पर वहां 'पश्चिम के बर्बरों' से पूछने की बात न कहकर 'पच्छिम के बर्बर भिक्षुओं' से पूछने की बात कही है। तथा बाद में 'धर्मारण्य' को चीन न पहुंचा कर 'काश्यपमातंग' को चीन पहुंचवाया है।

धर्मारण्य और काश्यपमातंग दोनों हान्-मिङ् महाराज के दसवें युङ्-फिङ् वर्ष में चीन पहुंचे। हान्-उ-ति से यह २०० बरस से भी ऊपर की बात है। तुङ्-फाङ्-सुओ बिना किसी ज्योतिषी की मदद के पहले से ही जानता था कि कल्पान्त भस्म को जानने वाले बर्बर चीन आएंगे। सचमुच ही यह बड़े अचरज की बात है। काव्-सङ्-चुंआन के लेखानुसार तुङ्-फाङ्-सुओ ने साफ़ कहा है कि वह उस राख के बारे में 'नहीं जानता।' पता नहीं बाद के लोगों ने क्यों यह बात गढ़ ली कि उसे कल्पान्त भस्म का पता था।

इसी प्रकार उअइ-षु ग्रन्थ में ष-लाव्-चे प्रकरण के भीतर चाङ्-छिआन् के विवरण का हवाला देकर यह प्रमाणित किया गया है कि हान्-उ-ति के समय बौद्ध धर्म चीन पहुंचा। वह हवाला यों है ; "चीन का चीनी तुर्किस्तान से सम्बन्ध होने पर चाङ्-छिआन् राजदूत बनाकर बाख्त्री भेजा गया। वहां से लौटने पर उसने कहा कि बाख्त्री के पड़ोस भारत (इन्-तु) देश है जिसका दूसरा नाम थिआन्-चु है। बौद्ध धर्म की भी बात पहले पहल उसने वहीं सुनी।" अब हमें प्राचीन और विश्वसनीय इतिहास जिसे स-मा-छिआन् ने लिखा, और जो उसी समय का व्यक्ति है, देखना चाहिए। उसने अपने इतिहास (ष-चि) के एक प्रकरण जिसमें फर्गना का वृत्तान्त है यों दर्जकिया है ; "मैं (चाङ्-छिआन्) बाख्त्री में था मैंने बंसकी लाठी देखी और

स-छुंआन् के बने कपड़े देखे। मैंने लोगों से पूछा यहां यह चीजें कैसे पहुंचती हैं। उन्होंने कहा हमारे यहां के व्यापार करनेवाले भारत जाते हैं। भारत यहां से हजारों ली (३ ली = १ मील) की दूरी पर है। मेरा ख्याल है कि चीन से बाख्त्री १२००० की दूरी पर है। और भारत वहां से भी हजारों ली की दूरी पर है।" इससे साफ है कि चाङ्-छिआन् ने सिर्फ भारत के बारेमें कुछ न कुछ सुना ज़रूर था पर उसने बौद्धधर्म के बारे में कुछ सुना था इसके बारेमें कुछ नहीं कहा जा सकता। हउ-हान्-षु नामक ग्रन्थ के उस प्रकरण में जहां चीनी तुर्किस्तान का वृत्तान्त है साफ ही कहा है, "बौद्ध धर्म भारत में उत्पन्न हुआ पर दोनों हान् वंशों के इतिहास में इस बात का कोई लेख नहीं है। चाङ्-छिआन् ने केवल इतना ही लिखा है कि भारत गर्म देश है और हाथी, सवारी और लड़ाई दोनों के काम आता है।"

चाङ्-छिआन् हान्-उ-ति के पहले युआन्-षउ वर्ष (१२२ ई०.पू०) में बाख्त्री गया पर बौद्धधर्म के बारे में उसकी कोई तहरीर नहीं है। पर उअइ-षु के लेखक ने अपनी तरफ़ गढ़ कर लिख मारा कि "बौद्धधर्म की बात पहले पहल उसने वहीं सुनी।" भिक्षु ताव् श्यूआन् के ग्रन्थ कुआङ्-हुङ्-मिङ्-चि में उअइ-षु के ष-लाव्-चे प्रकरण का एक उद्धरण है पर उसमें उअइ-षु की बात बदलकर लिखी गई है। उअइ-षु में स्वयं ग्रन्थकार ने अपनी ओर से कहा है कि "उसने (चाङ्-छिआन्) बौद्धधर्म की भी बात पहले पहल वहीं सुनी।" यह वाक्य चाङ्-छिआन् का नहीं है और न चाङ्-छिआन् के विवरणों से ही लिया गया है। यह केवल उअइ-षु के लेखक का अपना ख्याल है कि उसने बौद्धधर्म के बारे में भी ज़रूर सुना होगा। पर ताव्-श्यूआन् ने उस वाक्य को चाङ्-छिआन् का वाक्य बना डाला और दर्ज किया कि चाङ्-छिआन् ने कहा कि "उसने बौद्धधर्म की बात पहले पहल वहीं सुनी। सचमुच यदि हम मूलग्रन्थ को पढ़ें तभी हम धोखे से बच सकते हैं।

इसी प्रकार चीनी तुर्किस्तान् के राजा शिअउ-चु के वृतान्त से लोग अन्दाज़ा लगाते है कि बौद्धधर्म हान्-उ-ति के समय चीन पहुंचा। लिअउ-शिआव्-पिआव् की लिखी ष-शुओ-शिन्-पू पोथी में कहा है—"**हान्-उ की कथा** में ज़िक्र है कि खुन्-इए राजाने शिअउ-चु को मार डाला और फिर शिअउ-चु की सेना सहित उसने चीन की अधीनता स्वीकार कर ली। चीन को शिअउ-चु की देव प्रतिमाएं हाथ लगीं और वे मधुर-स्रोत-प्रासाद (कान्-छयूआन्-कुङ्) में रख दी गईं। उनकी ऊँचाई १० फ़ीट से भी ऊपर थी। उनकी पूजा में गाय भेड़ आदि पशुओं का उपयोग नहीं होता था। केवल धूप जलाकर उनकी वंदना की जाती थी। सम्राट् हान्-उ-ति ने आज्ञा दी कि, उनकी पूजा उनके देश के ढंग के अनुसार ही होनी चाहिए इन देवताओं की बुद्ध से समानता बहुत कुछ है। इस काल में बौद्धग्रन्थ तो चीन नहीं पहुंच पाए पर

चीनी लोगों को बुद्ध की प्रतिमाएं कैसे मिल गईं जिन्हें वे पूजने लगे। कहा जाता है कि पान्-कुने हान-उ-त्ति की कथा लिखी पर यह उसके लिखे दूसरे ग्रन्थ हान्-षु से सर्वथा भिन्न है जिससे साफ़ है कि यह किसी दूसरे आदमी की रचना है। सुङ् राज्य में छाव्-उ-कुङ-उ द्वारा लिखित च्यून्-चाय्-तु-षु-र्ची ग्रन्थ में उद्धृत र्चङ्-चिआन्-र्ची के लिखे षु-तुङ्-मिङ्-चि-हउ में कहा है : "उआङ्-चिआन् ने **हान्-उ-की कथा** लिखी। उसमें सर्वत्र ष-चि और हान्-षु को अदल बदल कर खूब गप्पें हांकी गई हैं।" इसलिये उआङ-चिआन जो लिअउ-छाव् काल में हुए उन्होंने ही **हान्-उ-की कथा** लिखी है हान्-उ-ति की मिली प्रतिमाओं से उसका अभिप्राय बुद्ध प्रतिमाओं से है। लिअउ-शिआव्-पिआव् ने हान्-उ-की कथा को उद्धृत किया है। वह उसपर पूरा भरोसा नहीं करता था इसीलिये उसने अपने शक को प्रकट कर दिया है कि हान्-उ-ती के समय बौद्ध ग्रन्थ तो चीन नहीं पहुंच पाए पर चीनी लोगों को बुद्ध की प्रतिमाएं कैसे मिल गईं।

उअन-षुअन-षु ग्रन्थ के ष-लाव्-र्ची प्रकरण में यही वृत्तान्त यों दर्ज है। हान्-उ ने यूआन्-षउ वर्ष में हुओ-इयू-पिङ् को चीनी तुर्किस्तान की नक्सा का भार सौंपा। वह काव्-लान पहुंचा और च्यू-इआन् पार किया। एक बड़े नर-संहार के बाद उसे एक बड़ी विजय मिली। खुन्-इए ने श्यू-चु को मारा, और स्वयं श्यू-चु की ५०,००० सेना के साथ चीन के अधीन हो गया। चीन की इस लड़ाई में बहुत सी देव-प्रतिमाएं हाथ लगीं। **सम्राट् हान्-उ ने खयाल किया कि वे प्रतिमाएं महान देवताओं की हैं और उन्हें मधुर-स्रोत-प्रासाद में रक्खा गया। प्रतिमाएं १० फीट से भी ज्यादा ऊँची थीं। उनकी पूजा चीन पद्धति से नहीं की गई, केवल धूप जलाकर वन्दना हुई।** यह चीन में बौद्धधर्म का आरम्भ है।"

रेखांकित वाक्यों से अभिप्राय यह है कि वे प्रतिमाएं बुद्ध की प्रतिमाएं थीं। ष-चि और हान्-षु के लेखों में उक्त प्रकार के वाक्य नहीं हैं। वहां केवल इतना ही है—"तीसरे यूआन्-षउ वर्ष (१२० ई० पू०) में हान्-उ ने घुड़सवार सेना के नायक छ्यू-पिङ् को १०,००० सवारों के साथ लङ् प्रान्त के बाहर भेजा। इआन्-र्चे पहाड़ पारकर हज़ारों ली की दूरी पर चीनी तुर्किस्तान पर उन्होंने हमला किया। ८००० बर्बरों को मारा। और श्यू-चु राज की देव प्रतिमाओं पर क़ब्ज़ा कर लिया।" वहीं अन्यत्र घुड़सवारों के नायक उअङ की जीवनी में कहा है : "६ दिन की भयंकर लड़ाई। इआन्-र्चे पहाड़ पार कर १००९ ली दूर, पैदल सेना मिलकर चौं-लान् राजा को मारा, लु-हु राजा का बध किया, अधिकांश सैनिक खतम कर दिए गए, खुन्-इए के पुत्र को कैद कर लिया गया, राज्य के ८००० पदाधिकारियों के सिर उतार लिए गए, श्यु-थु राजा की देव प्रतिमाओं पर अधिकार कर लिया गया।"

उअइ्-षु में कहा है कि खुन्-इए ने श्यू-थु को मारा, और स्वयं श्यू-थु की ५०००० सेना के साथ चीन के अधीन हो गया। तथा देव-प्रतिमाओं के मिलने की बात उसके भी बाद की बताई गई है। पर ष-चि और हान्-षु में कहा है कि देवप्रतिमाएं तीसरे यूआन्-षउ बरस (२२० ई० पू०) के वसन्त में मिलीं और उसी वर्ष के शिशिर में* खुन्-इए ने आत्मसमर्पण किया इससे हम जान सकते हैं कि उअइ्-षु में असली बात बहुत उलट पलट कर कही गई है। ऊपर जिन रेखांकित वाक्यों से बुद्ध की प्रतिमा का अभिप्राय निकाला जाता है वे नतो ष-चि में हैं और न हान्-षु में ही। यदि हान्-उ की कथा तथा हान्-षु दोनों के लेखक पान्-कु है तब तो यह बड़े ही अचरज की बात लगती है कि उसने उन वाक्यों को अपनी प्रधान हान्-षु में जो राजाज्ञा के कारण लिखी गई क्यों नहीं दर्ज किया। सचमुच ष-चि और हान्-षु में यह बातें लेखकों के प्रमाद से नहीं छूट गई है बल्कि बाद के लोगों के अकारण अप्रमाद के कारण गढ़ ली गई हैं। हो-छयू-पिङ् ने जिन प्रतिमाओं कर अधिकार किया वे बुद्ध की प्रतिमाएं न थीं इसलिये ष-चि और हान्-षु के लेखकों ने उनके बारे में कुछ नहीं कहा। असल में उस समय बौद्ध धर्म चीन पहुंचा ही न था और जो प्रतिमाओं के मिलने की बात है सो वे प्रतिमाएं चीनी तुर्किस्तान के लोगों के देवताओं की हैं। ष-चि के चीनी तुर्किस्तान के वृत्तान्त में कहा है: "वर्ष के प्रत्येक पहले मास में सभी सेनानायक राजकीय मन्दिर में इकट्ठा होते थे, पांचवें महीने में राजधानी में इकट्ठा होते थे, पितरों, देवताओं, असुरों तथा पृथिवी एवं उपदेवताओं की पूजा करते थे।" हउ-हान्-षु के दक्षिणी चीनी तुर्किस्तान के वृत्तान्त में कहा गया है: "चीनी तुर्किस्तान की प्रथा के अनुसार प्रति वर्ष ३ बार देव पूजा होती थी। पहले, पांचवे और नवें मास की पांचवी तिथि को।" इससे हम जान सकते हैं कि चीनी तुर्किस्तान के लोगों में देव पूजा होती थी और वहां से मिली प्रतिमाएं देवताओं की ही थीं बुद्ध की नहीं। ष-चि में कहा है कि चीनी तुर्किस्ताम के राजा लोग अपने को 'देवप्रतिष्ठापित महाराज' 'स्वः पृथिवी प्रतिमादि सूर्य चन्द्रात्मज महाराज' कहते थे जिससे साफ़ हो जाता है कि वहां के लोग आकाश पृथिवी आदि प्राकृतिक शक्तियों की ही पूजा करते थे जो कि वस्तुतः आदिम धर्म था। तथा जिसमें बौद्ध विचार धारा का मेल बिल्कुल नहीं था। हान्-षु में यह बात साफ़ है: श्यू-थु महाराज का पुत्र चिङ्-सि-तु था। खुन्-इए ने श्यू-थु को मार डाला तथा श्यु-थु राज्य की प्रतिमाएं हान् वंश के उ-ती को भेंट कर दी गई। चिन्-र-षान् को ५०,००० सैनिकों के साथ विवश हो उ-ति के हाथ आत्मसमर्पण करना पड़ा। चिन् उसके वंश की पदवी नहीं थी। हान्-उ-ति

---

* चीन में वर्ष के भीतर ऋतुओं का क्रम यों है: वसन्त, ग्रीष्म, शिशिर, हेमन्त।

ने उसे यह पदवी दी थी। क्योंकि उसे प्रतिमाएं उसके यहां से मिली थीं। (प्रतिमाओं को चीनी भाषा में (चिन्-रन्) कहते हैं इसलिये उ-ती ने उसे चिन पदवी दी जो चिन्-रन् का संक्षिप्त रूप है।) हान् षु में यह बातें खूब ब्योरेवार कही गई हैं। चिन्-र-षान् की जीवनी की समीक्षा में कहा है : "श्यू-थु ने पूजा करने के लिये देव-प्रतिमा बनवाई।" इससे साफ़ है प्रतिमा बुद्ध की नहीं थी।

ऊपर की पड़ताल से हम दो परिणामों पर पहुंचते हैं :—

(१) ष-चि और हान्-षु सबसे पुराने और सच्चे ग्रन्थ हैं पर उनमें कहीं नहीं कहा गया कि उ-ति ने उन प्रतिमाओं की धूप जलाकर पूजा की।

(२) हान्-षु की चिन्-र-षान् की जीवनी की समीक्षा में देवप्रतिमाओं का ज़िक्र है पर ऐसी किसी एक बात का उल्लेख नहीं कि जिससे उसके देश में बौद्ध धर्म के प्रचलित होने का अनुमान किया जा सके।

अब रही बात यह कि वे प्रतिमाएं हान्-उ-ति के मधुर-स्रोत-प्रासाद में क्यों रक्खी गईं यदि उनकी पूजा राजा ने नहीं की। सो कोई बात नहीं है। मधुर-स्रोत-प्रासाद में केवल आकाश के नक्षत्रों की पूजा हर तीसरे बरस होती थी। चीनी तुर्किस्तान से मिली प्रतिमाएं भी आकाश पृथिवी सूर्य आदि प्राकृतिक शक्तियों की थीं सो उन्हें भी वहीं रख दिया गया था। किंच आधुनिक बौद्ध पण्डितों का ख्याल है कि उ-ति के समय भारत में बुद्ध की प्रतिमाएं बननी शुरू ही नहीं हुई थीं। इसलिये यह साफ़ है कि हान्-उ-ति के समय बौद्ध धर्म चीन नहीं पहुंचा था।

(८) हान् वंश के छेङ्-ती और आय्-ति राजाओं का काल (३२-१ ई० पू०)

ष-शुओ-शिन्-यू में कहा है : "लिअउ-शिआङ् लिखित सिद्ध जीवन (लिए-शिआन्) में ज़िक्र है 'मैंने सैकड़ों ग्रन्थ पढ़े और खोज की तो मालूम हुआ कि (संसार में) १४६ सिद्ध हैं। जिनमें ७४ का बौद्ध ग्रन्थ में ज़िक्र है। यहां ७० का वर्णन होगा जिससे बहुत कुछ जाना जा सकेगा।" इससे साफ़ है कि हान्-छेङ् और हान्-आय् के समय बौद्ध ग्रन्थ चीन पहुंच चुके थे। सिद्ध जीवन में ७० नहीं ७२ सिद्धों का वर्णन है, मालूम होता है उद्धरणकार से दर्ज करने में भूल हो गई है।

इआन्-चं-थुअइ के लिखे इआन्-ष-चिआ-श्यून् में कहा है कि "सिद्ध जीवन लिअउ-शिआङ् की रचना है जिसमें '७४ (सिद्धों) का ज़िक्र बौद्ध ग्रन्थ में है,' यह वाक्य प्रक्षिप्त है।" यह बात ठीक भी मालूम होती है। क्योंकि आजकल सिद्ध जीवन की जो पोथी हमारे बीच में है उसमें यह वाक्य नहीं है।

फो-चु-चुङ्-चि में लिखा है कि सुङ् राज्य में भिक्षु चे-फ़ान् ने उक्त ग्रन्थ की एक दूसरी प्रति देखी थी। जिसमें उक्त वाक्य यों है ; "७४ (सिद्धों) का ज़िक्र ताव् ग्रन्थों में है। जान पड़ता है कि उक्त वाक्य जिसे पहले पहल बौद्धों ने प्रक्षिप्त किया बाद में ताव्धर्मियों के द्वारा बदल डाला गया है। इस प्रकार के प्रक्षिप्त प्रमाणों से यह सिद्ध करना कि बौद्धधर्म छेङ्-ति और अप्-ति के काल में चीन पहुंचा सचमुच मछली का पेड़ पर चढ़ना है। साथ ही यह बात और ध्यान देने की है कि **सिद्धजीवन** लिअङ-शिआन् का लिखा कहा जाता है पर भाषा के देखने से वह हान् काल की रचना नहीं जान पड़ती। लिअउ-शिआन् ने एक दूसरा ग्रन्थ **प्रख्यात स्त्री-जीवन** (लिए-यू-चुंआन्) लिखा है। शायद नाम सादृश्य के कारण बाद में लोगों ने ख्याल कर लिया हो कि वह भी उसीकी रचना है।

इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल की दन्त कथाओं पर क्रमशः विचार करते हमने ईसवी पूर्व तक के विभिन्न कालों की समीक्षा की है और इस परिणाम पर पहुंच रहें हैं कि ई० पू० में बौद्ध धर्म चीन नहीं पहुचा। वह कब पहुंचा ? इसपर हम फिर कभी विचार करेंगे तो भी यहां इतना कह देना ज़रूरी है कि बौद्ध धर्म मिङ्-ति महाराज (६५ ई०) से पहले ही चीन पहुंच चुका था। यहां यह प्रश्न उठे बिना नहीं रह सकता कि चीन में बौद्ध धर्म के बारे में अनेकों दन्तकथाएं क्यों बनीं ! कारण काफ़ी सीधा है :—

(१) बौद्ध धर्म चीन में असाधारण रूप से समृद्ध हुआ सो बौद्ध लोग जनता के आकर्षण के लिये देश में प्रचलित पुरानी दन्त कथाओं को उसमें मिलाने से अपनेको न रोक सके। इन दन्त कथाओं का भारत की उन कहानियों से बहुत सादृश्य है जो बुद्ध-पूर्व काल में जनसाधारण के बीच प्रचलित थीं और बाद में बुद्ध के जीवन से 'जातक' के रूप में जोड़ दी गईं।

(२) बुद्ध की लोकोत्तर शक्ति की भारत में कम दन्तकथाएं नहीं है। बुद्ध अपने ऋद्धि बल से भारत में जहां चाहें जा सकते थे। इस प्रचलित विश्वास ने चीन के लोगों को मौक़ा दिया और वे भी कहने लगे कि बुद्ध अपने ऋद्धि बल से चीन आए थे।

(३) बौद्ध और ताव् धर्मी एक दूसरे से अपनेको श्रेष्ठ और प्राचीन सिद्ध करने के लिये झगड़ते थे। बौद्धों ने अपनी रक्षा तथा विरोधियों के प्रत्याख्यान करने के लिये अनेकों दन्तकथाएं गढ़ लीं।

इस तरह जो पोथी जितनी हो नई है वह बौद्ध धर्म को उतना ही पुराना बताती है। और हमें एकके बाद दूसरी दूसरी गढ़ी दन्तकथा ज्यों ज्यों हम प्राचीन काल से अर्वाचीन काल की ओर बढ़ते हैं त्यों त्यों और भी वृहदाकार होती दिखाई पड़ती है।*

---

* भदन्त श्री शान्तिभिक्षु द्वारा मूल चीनी से अनुवादित।

श्री विनोदबिहारी मुखर्जी

विश्वभारतीपत्रिका

कार्तिक-पौष २००१ | खण्ड ३, अंक ४ | अक्टूबर-दिसम्बर, १९४४

हमारी सबसे बड़ी समस्या

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

थोड़े दिन हुए विधाता ने हमारी समस्त चेतना को इस ओर आकृष्ट किया था कि हमारे देश की सबसे बड़ी समस्या क्या है। उस दिन मन में आया था कि बंग-भंग से हमारे हृदयों पर बहुत गहरा घाव बैठा है। यह हम अंगरेज़ों को अच्छी तरह दिखा देंगे हम विलायती नमक से सम्बन्ध तोड़ देंगे और देश के तनसे विलायती वस्त्र छीने बिना जल तक न ग्रहण करेंगे। उधर बाहरी लोगों के साथ यह घोषणा करते ही इधर घर में ही एक ऐसा झगड़ा खड़ा हो गया जैसा आज तक कभी नहीं हुआ था। हिन्दू-मुसलमान का विरोध एकाएक अत्यन्त भयंकर मूर्ति धारण कर सामने आ गया।

हमें चाहे इस व्यापार से कितना ही कष्ट क्यों न पहुंचा हो, पर वह हमारी शिक्षा के लिये नितान्त आवश्यक था। हम सबको यह बात अच्छी तरह जान लेने की आवश्यकता थी कि हम हज़ार चेष्टा करके भी इस सत्य को नहीं भूल सकते कि हमारे देश में हिन्दू और मुसलमान एक नहीं हैं, पृथक् पृथक् हैं। यह सत्य प्रत्येक कार्य में ही हमें बलवत् याद पड़ा करेगा। यह कहकर मनको धोखा देने से काम न चलेगा कि हिन्दू मुसलमानों के संबंध में कभी कोई खराबी न थी, इनमें विरोध कराने के कारण केवल अंगरेज ही हैं।

यदि सचमुच यही बात है, अंगरेजों ने ही मुसलमानों को हमारे विरुद्ध खड़ा होने का पाठ पढ़ाया है तो उन्होंने हमारा महत् उपकार किया है। जिस प्रकाण्ड सत्य की नितान्त उपेक्षा कर हम बड़े बड़े राष्ट्रीय कार्यों की योजनाएं तैयार कर रहे थे उसकी ओर आरम्भ में ही उन्होंने हमारी निगाह फिरा दी है। यदि हम इससे कुछ भी शिक्षा न ग्रहण कर उलटे शिक्षक ही पर क्रोध करना कर्तव्य समझेंगे तो हमको फिर ठोकर खानी पड़ेगी। जो सच्ची बाधा है उसका सामना हमें करना ही पड़ेगा, चाहे जैसे करें, उसकी निगाह बचाकर निकल जाने का कोई रास्ता ही नहीं है।

यहां पर यह बात भी अच्छी तरह समझ लेनी होगी कि हिन्दू और मुसलमान वा हिन्दुओं ही में उच्च और नीच वर्णों के परस्पर असंयुक्त और अलग रहने से हमारे कार्य में विघ्न उपस्थित हो रहा है। इसलिये किसी न किसी उपाय से संयुक्त होकर बलवान् बनने का प्रश्न ही हमारे लिये सबसे बड़ा प्रश्न नहीं है, और इसीलिये यही सबकी अपेक्षा अधिक सत्य भी नहीं है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि निरा प्रयोजनसिद्धि का सुयोग, निरी सुव्यवस्था ही मनुष्य की सब आवश्यकताएं पूरी नहीं कर सकती ; केवल इन्हींको लेकर वह जीवित नहीं रह सकता। ईसा ने कहा है, मनुष्य केवल रोटी ही के सहारे नहीं जीता। कारण यह कि उसका केवल शारीरिक जीवन ही नहीं,

आध्यात्मिक जीवन भी है। इसी बृहत् जीवन के लिये खाद्य का अभाव होने के कारण अंगरेजी राज्य में सब प्रकार का सुशासन रहते हुए भी हमारे आनन्द का सोता सूखता जा रहा है।

पर यदि इस अवस्था की सारी जिम्मेदारी केवल बाहरी कारण पर ही होती, यदि अंगरेजी राज्य ही उपयुक्त खाद्याभाव का एकमात्र कारण होता तो कोई बाहरी उपचार करके ही हम अपना काम बना ले सकते। हम तो घर में भी बरसों से उपवास करने के आदी हो रहे हैं। हम हिन्दू और मुसलमान, हम भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों के हिन्दू, एक जगह बसते हैं सही, पर मनुष्य एक दूसरे को रोटी की अपेक्षा जो उच्चतर भोजन देकर परस्पर के प्राण, शक्ति और आनन्द को परिपुष्ट करते हैं, हम एक दूसरे को उसी खाद्य से वंचित रखने का उपाय करते आ रहे हैं। हमारी सारी हृदयवृत्ति, सारी हितचेष्टा, परिवार और वंश में एवं एक एक संकीर्ण समाज में इस प्रकार जकड़ गई है कि साधारण मनुष्य के साथ साधारण आत्मीयता जो विशाल सम्बन्ध है उसको स्वीकार करने के लिये हमारे पास कोई सामान ही नहीं रह गया है—उसको बैठाने के लिये हमारे घर में एक चटाई तक नहीं है। यही कारण हैकि द्वीपपुंज की भाँति हम खण्ड खण्ड हो गए हैं, पर महादेश की तरह व्याप्त, विस्तृत और एक नहीं हो सके।

प्रत्येक छोटा मनुष्य बड़े मनुष्य के साथ अपनी एकता को विविध मंगलों के द्वारा विविध आकारों में उपलब्ध करना चाहता है। इस उपलब्धि की बड़ाई इसलिये नहीं है कि इससे उसका कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। बल्कि यही उसका प्राण है। यह उसका मनुष्यत्व अथवा धर्म है। इस उपलब्धि से उसको जितना ही वंचित रक्खा जायगा उतना ही वह सूखता जायगा—उतना ही प्राणरहित होता जायगा। दुर्भाग्यवश बहुत दिनों से हमने इस शुष्कता को ही आश्रय दे रक्खा है। हमारे ज्ञान, कर्म, आचार और व्यवहार के, हमारे सब प्रकार के लेनदेन के बड़े बड़े राजमार्ग एक एक छोटी मन्डली के सामने पहुँचकर खण्डित हो गए हैं। हमारा हृदय और चेष्टा मुख्यतः हमारे निज के घर, निज के ग्राम में ही चक्कर काटती रहती है। विश्वमानव के सामने जाकर खड़ी होने का कभी अवसर ही नहीं पाती। फलतः हम पारिवारिक सुख पाते हैं, पर बृहत् मानवी शक्ति और सम्पूर्णता से बहुत दिनों से वंचित हैं जिससे हमें दीनहीन होकर दिन काटना पड़ रहा है।

इस भारी अभाव की पूर्ति का साधन यदि हम स्वयं ही—घर में ही निर्माण न कर सके तो बाहर से वह हमें क्यों मिलने जायगा? हम यह क्यों मान लेते हैं कि अंगरेजों के चले जाने से हमारा छिद्र भर जायगा? हममें परस्पर श्रद्धा का अभाव है, हम दूसरे को पहचानने तक का प्रयत्न नहीं करते, सैकड़ों और हजारों वर्षों से हम घर से आँगन को विदेश मानते आ रहे हैं। इस सारी पारस्परिक उदासीनता अवज्ञा और विरोध को दूर भगाने की आवश्यकता क्या केवल इसलिये है कि हमें विदेशी कपड़े के बहिष्कार का सुयोग मिल जाय। क्या केवल इसलिये हम इनके नाश का उपाय करें कि इससे हमारे विदेशी शासक हमारे पुरुषार्थ का पता पावेंगे? इनके रहने के कारण हमारे धर्म को क्लेश हो रहा है, हमारा मनुष्यत्व संकुचित हो रहा है, इनके रहने से हमारी बुद्धि संकीर्ण रहेगी, हमारे ज्ञान का विकास न होगा, हमारा दुर्बल चित्त सैकड़ों अन्ध संस्कारों से लिपटा रहेगा, भीतर और बाहर की अधीनता के बन्धनों को काटकर हम निर्भर और निस्संकोच होकर विश्वसमाज के सामने सीधे खड़े न हो सकेंगे। इसी भयरहित, बाधारहित विशाल मनुष्यता के अधिकारी बनने के लिये हमें पर-पर के साथ परस्पर को धर्मबन्धन में बाँधने की आवश्यकता है। इसके बिना मनुष्य न किसी प्रकार बड़ा हो सकता है, न किसी प्रकार सत्य। भारत में जो लोग आ गए हैं अथवा आवे हैं वे सभी हमारी पूर्णता के अंश होंगे, सभीको लेकर हम पूर्ण बनेंगे। भारत में विश्वमानव की एक अतिमहान् समस्या की मीमांसा होगी। वह समस्या यह है कि मानव समाज में वर्ण की, भाषा की, स्वभाव की, आचरण की और धर्म की विचित्रता है—नरदेवता इस विचित्रता की बदौलत ही विराट् हुए हैं—भारत के मंदिर में हम इसी विचित्रता को एकाकार में परिणत

करके उसके दर्शन करेंगे१ पृथकूता को निर्वासित वा तृप्त करके नहीं किन्तु सर्वत्र ब्रह्म की व्यापक उपलब्धि द्वारा मनुष्यों के प्रति सर्व-सहिष्णु परम प्रेम के द्वारा, उच्च और नीच, अपने और पराए सबकी सेवा को भगवान् की सेवा मानने के द्वारा। और कुछ नहीं, केवल शुभ चेष्टा से, केवल सत्प्रयत्न से देश को जीत लो, जो तुमपर सन्देह करते हों उनके सन्देह का जीत लो, जो तुमसे द्वेष रखते हों उनके विद्वेष को परास्त कर दो। बन्द दरवाजे को धक्का दो, बार बार धक्का दो, खुलने से निराश होकर घरवाले की बेपरवाई से क्षुब्ध होकर कदापि लौट न आओ। एक मानव हृदय दूसरे मानव हृदय की पुकार को अधिक समय तक कदापि अनसुनी नहीं कर सकता।

भारत का आह्वान हमारे अन्तःकरणों तक पहुंचा है। लेकिन यह बात हम कभी न मानेंगे कि यह आह्वान समाचारपत्रों की क्रोधपूर्ण गर्जना में ही ध्वनित हुआ है अथवा हिंसाशील उत्तेजना की चिल्लाहट में ही उसका सच्चा प्रकाश हुआ है। पर इस बात को कि यह आह्वान हमारी अन्तरात्मा को उद्घोषित कर रहा है, हम तब मानेंगे जब देखेंगे कि किसी विशेष जाति या किसी विशेष वर्ण के ही नहीं दुर्भिक्ष पीड़िता मात्र के द्वार पर हम रोटियां लिए खड़े हैं, जब देखेंगे कि भद्र अभद्र का भेद न कर हम तीर्थस्थलों में एकत्र यात्री मात्र की सहायता के लिये बद्धपरिकर हैं, जब देखेंगे कि राजपुरुषों के निर्दय सन्देह और प्रतिकूलता का सामना होते हुए भी अत्याचार के प्रतिरोध की आवश्यकता के समय हमारे युवक विपत्ति के भय से कुंठित नहीं होते। सेवा के समय संकोच का अभाव, दूसरों कोसहायताके समय ऊंच नीच के विचार का अभाव—ये सुलक्षण जब देख पड़ने लगेंगे तब हम समझेंगे कि इस बार जो आह्वान या पुकार हमारे कानों में पड़ी है वह हमारी सारी संकीर्णताओं के तहखाने को तोड़कर हमें बाहर निकाल लेगी, तब हम समझेंगे कि इस बार व्यक्ति का प्रत्येक प्रकार का अभाव पूर्ण करने के लिये हमें संसार से पूर्णतय अलग दूर दूर तक के गांवों को अपना जीवन भेंट करना होगा, तब हम समझेंगे कि अब कोई हमको अपने निज के स्वार्थ और सुख स्वच्छन्दता की चहारदीवारी में रोक नहीं सकेगा। आठ महीने की अनावृष्टि के बाद वर्षा जब पहले पहल आती है तब अन्धड़ लेकर ही आती है, पर नववर्ष के आरम्भिक काल का यह अन्धड़ ही नूतन आविर्भाव का सर्व प्रधान अंग नही होता, यही नहीं वह स्थायी भी नहीं होता। बिजली की कड़क, बादलों की गरज और वायु की उन्मत्तता अपने आप ही जैसे आई वैसे चली जायगी। उस समय बादल दल बांधकर आकाश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक स्निग्धता से ढक देंगे। चारों ओर धाराएं बरसकर तृषित पात्रों को जलपूर्ण कर देंगी, क्षुधितों के खेतों से अन्न की आशा का अंकुर उगा देंगी। उस मंगल परिपूर्ण अद्भुत सफलता के दिनने बहुत दिनों को प्रतीक्षा के बाद भारत में पदार्पण किया है, इसको निश्चित रूप से जानकर हम सानन्द तैयार होंगे। किस बात के लिये? भूमि जोतने के लिये, बीज बोने के लिये तदुपरान्त सोने की फसल में लक्ष्मी का आविर्भाव होने पर उसे घर लाकर सार्वकालिक उत्सव की प्रतिष्ठा करने के लिये।

पूर्व-देशीय कला और शारीरस्थान

नन्दलाल वसु

कलाप्रेमी सहृदयों के चित्त में बराबर यह प्रश्न उठा करता है कि भारतीय शिल्प में शारीरस्थान विद्या (एनाटोमी) का क्या स्थान है। चित्र-शिल्पी और मूर्तिकारों के मन में भी इस विद्या की शिक्षा के विषय में प्रश्न उठते रहते हैं। इस प्रकार के प्रश्न उठने का कारण विषय का अस्पष्ट रह जाना है। मुझसे कई बार इस प्रकार के प्रश्न किए गए हैं इन प्रश्नों को मोटे तौर पर चार प्रश्नों में ही अन्तर्भुक्त किया जा

सकता है साधारणतः विलायती शिल्पियों को सामने रखकर ये प्रश्न किए जाते हैं। 'विलायती' से यहां एकेडेमिक पद्धति का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। प्रश्नों का वर्गीकरण इस प्रकार होगा : (१) विलायती (अर्थात् एकेडेमिक पद्धति के) शिल्पियों की भांति पूर्वदेशीय शिल्पियों (कलाकारों) को शारीरस्थान विद्या सीखने की आवश्यकता है या नहीं ; (२) क्या शारीरस्थान के ज्ञान से प्राच्य शिल्प का अनिष्ट हो सकता है ? यह प्रश्न इसलिये पूछा जाता है कि एकेडेमिक पद्धति के शिल्पियों की धारणा है कि शारीरस्थानीय ग़लतियां ही प्राच्य शिल्प की विशेषता है, (३) मंडन (डेकोरेटिव्) शिल्प में शारीरस्थान विद्या का सत्य सुरक्षित रह सकता है या नहीं ? और (४) क्या कारण है कि आधुनिक विलायती और पूर्वीय शिल्प में शारीरस्थान और परिप्रेक्षित आदि के विज्ञान सम्मत नियमों का उल्लंघन कर के भी उच्चश्रेणी की मूर्तियां, चित्र आदि वस्तुएं बनाई जा सकी हैं। इस विषय में बहुत ग़लत-फहमियां फैली हुई हैं। प्रथम प्रश्न ही महत्त्वपूर्ण है, इसीलिये यद्यपि कुछ पहले इस विषय में मैंने 'देश' में अपना मत प्रकट किया था तथापि बिना किसी संकोच के इस प्रबंध में उन बातों की फिर से चर्चा कर रहा हूं। वहां जो त्रुटि रह गई थी उसे इस प्रबंध में सुधार लिया गया है।

यह शुरू में ही कह रखना उचित है कि भारतीय शिल्पी के देह का खाका, उसका गठन और उसकी नाप जोख विलायती (एकेडेमिक) पद्धति के अनुसार नहीं होतीं। विलायती पद्धति में शारीरस्थान से तात्पर्य उस ज्ञान से होता है जो चीरफाड़ (डिसेक्शन) करके शरीर-गठन के विषय में जाना गया है। भारतीय शिल्पी उस ज्ञान को प्रधान मानता है जो शरीर की आकृति और उसकी विविध गतिभंगियों को निरीक्षण करके प्राप्त होता है। विलायती शिल्पी देह के आंगिक विश्लेषण से होकर उसकी समग्रता तक पहुंचता है जब कि पूर्वदेशीय शिल्पी देह की समग्रता के बोध से होकर शारीरिक विश्लेषण तक पहुंचता है। एक विज्ञान या व्याकरण से शुरू करके प्राण छन्द (लाइफ़-मूवमेंट) तक आता है और दूसरा, प्राण छन्द से ही शुरू करता है और क्रमशः विज्ञान या व्याकरण की शिक्षा पूरी करता है। अतएव शारीरस्थान विद्या दोनों को ही अर्जनीय है सिर्फ उनकी शिक्षा प्रणाली अलग है।

विलायती क़ायदे में शारीरस्थान विद्या के लिये अलग क्लास लगते हैं, जिनमें जीवन्त मनुष्य, पुरानी ग्रीक मूर्ति, मनुष्य और जीवजन्तुओं के कंकाल, मनुष्य तथा अन्यान्य जीवजन्तुओं की शिराओं और पेशियों के चार्ट संगृहीत होते हैं। अनेक विलायती शिल्पियों की धारणा है कि कल्पना करना सीखने के पहले इन वस्तुओं की नक़ल सीखना अच्छा कलाकार होने का आवश्यक अंग है। कोई कोई अंकन (ड्राइंग) सीखने के लिये इनकी नक़ल को आवश्यक समझते हैं। लेकिन प्राच्य मत से अंकन कौशल अलग से सीखने की आवश्यकता नहीं है ; कल्पना करने के साथ ही साथ अंकन कौशल का सीखना ही उत्तम मार्ग है। अंकन सीखने की आवश्यकता हो तो पहुंचे हुए शिल्पी की उत्तम कृतियों की नक़ल करना ही उचित है। इससे शिल्प-शिक्षा की प्रधान वस्तु, प्राणशक्ति और छन्द का बोध नष्ट तो होता ही नहीं बल्कि बढ़ता रहता है। हमारा मत यह है कि प्राच्य शिल्पी को शारीरस्थान सीखते समय संपूर्ण शरीर का गठन और ढांचा मोटे तौर पर ठीक कर लेना चाहिए और इसके बाद उसके अंग-प्रत्यंग की सूक्ष्म और ब्यौरेवार जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए।

पर्यवेक्षण का ठीक ठीक समय वह है जब मनुष्य या जीव क्रियाशील हो, और जब देह की संधियों का पारस्परिक संबंध तथा पेशियों और शिराओं की क्रिया स्पष्ट रूप से दिखे। इस क्रियाशील अवस्था में पर्यवेक्षण करने से शारीरस्थानगत विशेषताओं का याद रखना सहज होता है, तथा अनुशीलन स्वाभाविक और प्राणवान् होता है। कोई जन्तु जब निविष्ट भाव से कुछ करता रहता है तो उसके अंग-प्रत्यंग के हिलने डुलने के साथ साथ उसके मन का योग गंभीर हुआ करता है, इसीलिये वह कलाकार के चित्त को सहज ही आकृष्ट करता है और अंग-प्रत्यंग की क्रिया और प्रयोजन को समझने की सुविधा रहने के कारण उसके ज्ञान का विकास सहज होता है।

अच्छे शिल्पी की बनाई मूर्ति या चित्र से भी शारीरस्थान विद्या सीखी जा सकती है क्योंकि ऐसी कृतियों की भंगिमा में एक प्रकार की ईमानदारी और यथार्थता होती है। फरमाइश के मुताबिक पोज़ किए हुए माडेल या 'डामी' की सहायता से कल्पना करना अच्छा नहीं है। क्योंकि फरमाइशी पोज़ सच्चे नहीं होते, देर तक एक ही प्रकार से बैठे रहने से माडेल को तकलीफ़ होती है और इसीलिये उसके मन का योग उसमें नहीं होता। इस प्रकार मन और देह के ढंग में सामंजस्य नहीं होता और 'डामी' तो एकदम प्राणहीन ही है। इसीलिये इनकी सहायता से कल्पना करने पर मूर्ति या चित्र में निश्चेष्टता और प्राणहीनता का भाव आ जाता है। अवश्य ही जिस कलाकार को प्राण छन्द का ठीक ठीक ज्ञान हो चुका है वह इस ढंग से भी कल्पना करे तो कोई हानि नहीं होती परन्तु शिक्षार्थी के लिये तो यह पद्धति ठीक नहीं ही है। अधिकांश विलायती शिल्पी माडेल के बिना कल्पना ही नहीं कर पाते। उनके लिये मन ही मन कल्पना करना कठिन कार्य है। शारीरस्थान विद्या को रटी हुई विद्या के रूप में या उदासीन भाव से नकल करने से शिल्पी का चित्त भाव का भूखा ही रह जाता है। ऐसा करने से अंकन (ड्राइंग) चाहे अच्छा सीख लिया जाय परन्तु कल्पना शक्ति क्रमशः ही क्षीण हो जाती है। प्राच्य-शिल्पी को विलायती शिल्पी के अनुकरण पर शारीरस्थान सीखने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्राच्य शिल्प में कल्पना करने के समय प्राण छन्द का ज्ञान होने से ही काम शुरू हो जाता है। इसीसे उसका भाव-प्रकाशन चलता रहता है। ज्यों ज्यों शिल्पी का पर्यवेक्षण बढ़ता जाता है त्यों त्यों उसकी कल्पना में सभी वस्तुओं के गठन की सूक्ष्म और ब्यौरेवार जानकारी संचित होती रहती है। लेकिन भाव-प्रकाश के लिये जितना आवश्यक है उतना ही लेना चाहिए। ब्यौरेवार अंकन उतना ही होना चाहिए कि जिससे प्राण-छन्द नष्ट न हो जाय। भाव की यथार्थ भंगी, गति और छन्द, मूल प्राण-छन्द को ही आश्रय करके रहते हैं। प्राणछन्द का ज्ञान मनुष्य के लिये स्वाभाविक है। छोटे बच्चे प्राणछन्द से ही चित्र आंकना शुरू करते हैं, प्राणछन्द की रेखा पर सिलसिलेवार सूक्ष्म अंगों का योग क्रमशः बाद में आता है। यह बात गांव के कुम्हारों की बनाई हुई मूर्तियों और पटों में अच्छी तरह दिखाई देती है। शिशु का और गांव के कारीगर का काम सहज होता है क्योंकि उन्हें गठन का ज्ञान अधिक नहीं होता। उच्चश्रेणी के शिल्पियों का काम भी सहज होता है क्योंकि उन्हें प्रचुर ज्ञान होता है—वे भाव और छन्द के प्रकाशन में जिस किसी वस्तु की अनावश्यक जटिलता को छोड़ सकते हैं। किन्तु प्राणछन्द है क्या वस्तु? शिल्प रचना में जिस रेखा के इंगित से प्रत्येक वस्तु का और भिन्न भिन्न वस्तुओं के संयोग से बनी हुई समग्र रचना का ऐक्य और चारित्रिक वैशिष्ट्य (कैरेक्टर) प्रस्फुटित हो उठता है वही प्राणछन्द है। प्राण कहने से पहले ही एक प्रकार के स्पन्दन का बोध होता है। इसके बाद वस्तु के घनत्व और भार के अनुसार कई स्वाभाविक गतियां बनती हैं, जैसे, उठना, गिरना, घूमना, लुढ़कना, बहना, कूदना इत्यादि। फिर प्राणी की इच्छा के अनुसार कुछ गतियां और भंगियां ऐसी भी हैं जो उसके भिन्न भिन्न भावावेग और मनोविकारों को आश्रय करके प्रकाशित होती हैं। भिन्न भिन्न प्राणियों की जीवनी शक्ति की कमी बेशी के कारण उनके आवेगों में भी कमी बेशी होती है। इन आवेगों के रूप को अलग करके देखने का कोई उपाय नहीं है। प्राणी के आन्तरिक विकार के साथ ही साथ उसके शरीर में विशेष विशेष भंगिमाएं प्रकट होती हैं, इन्हें ही आवेग का रूप मान लेना पड़ेगा। विशेष विशेष प्राणी में विशेष विशेष आवेग बराबर देखे जाते हैं जिनके कारण उन उन जीवों में उन उन आवेगों की छाप स्थायी रूप से रह जाती है। उनकी देह उन भावों का प्रतीक हो जाती है। बाघ हिंसा का प्रतीक है, खरगोश और हरिण भय के। ये भंगियां प्रधानतः रीढ़ को आश्रय करके होती हैं और रीढ़ को बगल से (प्रोफाइल) ठीक ठीक देखा जा सकता है। इस प्राणछन्द की रेखा पर ही शरीर की भावसमता, खाका और घनत्व लक्ष्य करने का विषय है। प्राणछन्द जिस प्रकार उन्हें नियन्त्रित करता है उसी प्रकार स्वयं भी उनके द्वारा नियन्त्रित होता है। और भी स्पष्टता के लिये यों समझा जा सकता है: जिस प्रकार काव्य में छन्द या रिद्म होता है उसी

प्रकार चित्र में भी होता है। प्रकृति के विभिन्न छन्दों को लेकर ही शिल्पी रूप की व्यंजना करता है इन छंदों द्वारा ही चित्र प्राणवान् बनते हैं। रूप जैसा भी हो अगर उसमें प्राणधर्म है तो वह कलाकार की साधना की वस्तु है, प्राणहीन रूप कलाकार का लक्ष्य नहीं हो सकता। हमने ऊपर प्राण का अर्थ बताने का प्रयत्न किया है। परन्तु यहां पाठक को सावधान कर देने की ज़रूरत है कि शिल्पी जिस चीज़ को प्राण कहता है वह लोक में प्रचलित प्राण के संकीर्ण अर्थ में नहीं। मृत्यु में भी एक प्रकार का प्राण होता है। किसी मरी वस्तु को सचमुच मरी हुई हम इसलिये देखते हैं कि उस में एक मरणधर्मा 'प्राण' होता है। विकासोन्मुख अंकुर को चित्रित करते समय उत्तम शिल्पी पत्तों में एक विशेष प्रकार के छन्द का आरोप करेगा जब कि मुरझाए हुए पत्तों में दूसरे प्रकार का। यद्यपि एक जीवन की ओर जानेवाला छन्द है दूसरा मृत्यु की ओर किन्तु कलाकार के लिये अपने अपने स्थान पर दोनों आराध्य हैं क्योंकि दोनों में 'प्राणधर्म' विद्यमान है। इस प्राणधर्म के छन्द का ज्ञान शिल्पी को परम आवश्यक है।

मृत्तिका से मूर्ति रचना करने वाले वंगदेशीय मूर्तिकारों के काम देखने से एक इंगित पाया जाता है कि पूर्वी शिल्प में शारीरस्थान विद्या का कैसा प्रयोग होता है। प्रतिमा-रचना के समय खाका बनाना, तिनकों से बांधना, एक के बाद एक, दो मिट्टी चढ़ाना जब समाप्त हो लेता है तब कहीं जाकर सूक्ष्म भंगियों का ब्यौरेवार काम शुरू होता है। तिनका बांध देने और एक बार मिट्टी लगा लेने के बाद ही भिन्न भिन्न भंगियों और गठनों का ढांचा समझ में आता है।

सूक्ष्म गठन भी दो प्रकार का होता है—वास्तव (रियलिस्टिक) और रूढ़ (कन्वेंशनल)। प्राच्य शिल्पी का मन छन्दःप्रिय और अलंकारप्रवण होता है इसलिये हमारे देश के शिल्प में रूढ़ (कन्वेंशनल) रूप ही उपयोगी हुआ है। जिस प्रकार मंडन-शिल्प में कोई नकशा बनाना हो तो समस्त वस्तुओं के आगे सीमा-विभाग और गतिभंगी ठीक कर ली जाती है फिर बाद में उसमें विभिन्न अंश (मोटिफ़, यूनिट) जोड़े जाते हैं,—उसी प्रकार किसी चित्र या मूर्ति के बनाते समय भी आगे प्राणछन्द की रेखा और भंगी ठीक करके उसके ऊपर अवयवों और मुद्राओं का सन्निवेश किया जाता है। जो लोग यथार्थवादी चित्र आंकना चाहते हैं वे भी प्राणछन्द की रेखा के ऊपर, भंगी के ऊपर, वास्तव रूप रचना करते हैं। देशी हों या विदेशी, दोनों शिल्पियों को प्राणसूचक रेखा के इंगित पर ही सृष्टि आरंभ करनी होती है। दोनों ही के निकट उसका मूल्य समान है।

जब कलाकार चित्र या मूर्ति की कल्पना करते समय वस्तु के इन्द्रियग्राह्य गठन के साथ मनके आवेग को युक्त करके उसमें तारतम्य ले आते हैं तो मुद्रा (कन्वेंशनल फार्म) स्वयमेव बन जाती है। सजीव आदर्श (माडेल) व्यवहार करने की प्रथा न होने के कारण पूर्वदेशीय (भारतीय) शिल्पी ने किसी वस्तु का रूप याद रखने का उपाय सोच निकाला है। यह स्वाभाविक है कि जब किसी वस्तु का रूप या गुण स्मरण रखना होता है तो हम उससे मिलते जुलते रूप या गुणवाले किसी प्रिय और परिचित वस्तु को याद कर लेते हैं। इसीको भारतीय शिल्पशास्त्र में सादृश्य बोध कहते हैं। इसीसे विशेष विशेष रूपों की विशेष विशेष मुद्राएं (कन्वेंशनल फार्म) बनी हैं। आंख की गढ़न याद रखने के लिये पद्मकोरक की याद रखना आवश्यक है। पद्मकोरक के साथ तुलना क्यों की गई ? कारण है उसका रूप सादृश्य तथा उसकी मनोहारिता। भिन्न भिन्न रूपों की गठन-गति, भाव और अनुषंग (एसोसिएशन) करके भिन्न भिन्न सादृश्यों की कल्पना की गई है और उन्हें व्यवहार में लाया गया है। पुराने कवियों के उपमा-विधान में भी इसका दृष्टान्त मिलेगा। शिल्परचना के क्षेत्र में भिन्न भिन्न आधारों (मैटिरियल) की बाधा अतिक्रम करने से जिन कौशलों की सृष्टि हुई उससे भी बहुतेरी मुद्राएं बनी हैं। पूर्वदेशीय शिल्पियों ने कुछ थोड़े से रूढ़ (कन्वेंशनल) और वास्तव (रियलिस्टिक) रूपों का व्यवहार करके शताब्दियों तक उत्कृति मूर्ति और चित्र बनाए हैं। यद्यपि चित्र या मूर्ति की रचना के सिलसिले में भंगी, प्रमाण, सादृश्य और समतौल (बैलेंस) ही प्रधान उपाय हैं, तो भी उन्हें

प्राणवान् और लावण्य युक्त बनाने के लिये स्वभाव से बारबार नई आकृति और नई भंगियों का अनुशीलन आवश्यक है। केवल परम्परा से नक़ल करके चित्र बनाने या मूर्ति गढ़ने से वह एक ही तरहकी उबा देनेवाली चीज होगी और केवल स्वभाव से नक़ल करने पर उसमें शिल्पी का निजत्व कुछ भी न रह कर फोटोग्राफी जैसी चीज़ हो जायगी।

लेकिन प्रतिभावान शिल्पी स्वभाव में से ठीक ठीक लक्ष्य करके और स्वभाव में से ही मनमाफिक सादृश्य खोजकर नयी नयी मुद्रा (कन्वेंशन) तैयार कर लेते हैं और परम्परागत मुद्राओं में नवीन प्राण संचार कर देते हैं क्योंकि स्वभाव के साथ निविड़ परिचय होने के कारण वे उसका गूढ़ अर्थ समझ पाते हैं और स्वाभाविक गढ़न, गुण और गति की योजना उसमें कर सकते हैं।

वस्तुतः सभी शिल्प-सृष्टियां रूढ़ (कन्वेंशनल) होती हैं। इतना ज़रूर है कि कहीं वे अलंकार की ओर कहीं वास्तवता की ओर विशेष रूप से झुकी होती हैं। वस्तुप्रवण मुद्राएं व्यक्तिगत होती हैं। अनेक यथार्थवादी शिल्पी सारी-ज़िंदगी अपनी कृतियों में एक ही प्रकार की गढ़न व्यवहार करते रहे हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है और उससे विशेष विशेष शिल्पियों की कृतियां पहचान में आ जाती हैं। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इससे शिल्पियों में मुद्रादोष आया है। प्रतिभावान् शिल्पी छन्द और भावप्रकाश में इतने मगन रहते हैं कि विशेष रूप से गढ़न और रंग का वैचित्र्य दिखाने की बात उनके मन में आती ही नहीं। भाव छन्द और रससामग्री की प्रचुरता होने से यह बात दोष न होकर गुण हो जाती है। भाव और छन्द की कमी रहने पर ही रूप वैचित्र्य का अभाव आंखों को खटकता है और वह उबाऊ मुद्रादोष कहा जाने लगता है।

इतनी चर्चा के बाद आशा करता हूं प्रथम प्रश्न का उत्तर समझ में आ जायगा। यह प्रथम प्रश्न ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज इसका उत्तर दे कर ही हम रुक रहे हैं। बाक़ी तीन प्रश्नों पर किसी अगले अंक में विचार करने की इच्छा है।

युगावतार गांधी

युगावतार महात्मा गांधी के नेतृत्व में हमारे देशवासी अन्यान्य सामरिक देशों की तरह स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिये हिंसा का मार्ग न पकड़कर नैतिक औदार्य और आत्मबल के सहारे अहिंसा संग्राम में अवतीर्ण हुए हैं यह देख मैं गौरव अनुभव करता हूं। आत्मिक शक्ति को अपने प्रधान अस्त्र रूप में ग्रहण करके भारतवासीगण उस नरहत्या की आदिम मनोवृत्ति से जो आज भी अधिकांश देशों में मौजूद है, बहुत ऊपर उठ गए हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि यदि भारतवासीगण इस वीरोचित अहिंसा नीति में प्रबल उत्तेजना अग्राह्य करके दृढ़ रह सकें तो उन्हें स्वाधीनता-प्राप्ति में कुछ भी कष्ट नहीं होगा। मैं निःसंशय कह सकता हूं कि सारा संसार भारत के संग्राम के इस आध्यात्मिक शक्ति की श्रेष्ठता मान लेने के लिये बाध्य होगा।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

(न्यूयार्क के एक व्याख्यान से)

जैनागमों में श्रीकृष्ण

अगरचंद नाहटा

श्रीकृष्णचंद्र इस देश के परमपूज्यों में अन्यतम हैं। परन्तु उनके जीवन की घटनाएं भक्तिपूर्ण विश्वास से समावृत हैं। वास्तविक तथ्य की जानकारी के लिये हमें अन्यान्य संप्रदाय के ग्रन्थों तथा समसामयिक अनुश्रुतियों का भी अध्ययन करना चाहिए। इस दृष्टि से जैन आगमों का बहुत महत्त्व है। भारतवर्ष की सामाजिक स्थिति, इतिहास, दर्शन, कला, रीति-नीति आदि के अध्ययन की दृष्टि से ये आगम बहुत मूल्यवान हैं। दुर्भाग्यवश अभी तक पंडितों का ध्यान इस ओर बहुत कम गया है। यहां प्राचीन जैनागमों में यत्रतत्र बिखरी हुई श्रीकृष्ण के जीवन संबंधी घटनाओं का संकलन किया जा रहा है। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने के लिये ये घटनाएं बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगी।

श्रीकृष्ण को जैनेतर लोग अवतार रूप से पूज्य मानते हैं। जैनलोग भी उन्हें भावी तीर्थंकर के रूपमें पूज्य मानते हैं अतः जैनागमों में भी उनका महत्त्व कम नहीं है। जैनागमों में जैनों के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का जहां भी वर्णन आता है, श्रीकृष्ण को वहां उस समय के प्रधान पुरुष एवं श्री अरिष्टनेमी के भक्त के रूप में उल्लिखित किया है। जैनागमों के वर्णनों को पढ़ते हुए, सहज यही विश्वाश होता है कि श्रीकृष्ण नेमिनाथ के प्रधान भक्त एवं महापुरुष थे। जब कभी भी नेमिनाथ द्वारिका आते श्रीकृष्ण उनके पास अवश्य जाते, उनके वचनों को श्रद्धा से सुनते, स्वयं आचरण करने में अशक्त होते हुए भी उनके उपदिष्ट त्यागमार्ग को आदर्श मानते थे। ऐसा होने का एक प्रधान कारण यह था कि नेमिनाथ उन्हींके (सम्पर्क में कृष्ण के ज्येष्ठ तात और वसुदेव के बड़े भाई समुद्रविजय के पुत्र) भाई थे। उनका त्याग महान् था, जिसके कारण श्रीकृष्ण का उनके प्रति विशेष आदर होना स्वाभाविक ही है।

श्रीकृष्ण के माता पिता—'सोरियपुर' नगर में वसुदेव नामक महर्द्धिक राजा थे उनके रोहिणी' एवं 'देवकी' नामक दो भार्या थीं। रोहिणी से बलराम का और देवकी से श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था।

श्रीकृष्ण और नेमिनाथ का सम्पर्क—उसी सौरीपुर में समुद्रविजय राजा के शिवा नामक पटरानी की कुक्षि से अरिष्टनेमि का जन्म हुआ। नेमिनाथ के लिये श्रीकृष्ण (केशव) ने उग्रसेन की पुत्री राजमती की याचना की। नेमिनाथ की बारात दशं दशार्ह एवं सेना के साथ श्वसुर-गृह पहुंची। दुःखित पशुओं को भोजन के लिये कटते देख नेमिनाथ ने रथ पीछे लौटाकर द्वारिका से रैवतक पर्वत के उद्यान में दीक्षा लेली। साधु होने पर श्रीकृष्ण वासुदेव ने कहा—"हे संयतीश्वर आप इच्छित श्रेय को शीघ्र पावो ज्ञानादि गुणों से आगे बढ़ो।" इस प्रकार बलभद्र, कृष्णादि यादव उन्हें वंदन कर द्वारिका आए। उसके पश्चात् राजमति के दीक्षा लेने पर भी श्रीकृष्ण ने कहा "हे पुत्री संसार को जल्दी तरो।" एकबार गिरनार पर वृष्टि होने से पहाड़ से लौटती हुई राजमती के कपड़े भीग गए अतः अंधकार होने से पास की गुफा में आकर उसने कपड़े सुखाए। उस समय उसे नग्न देख समुद्रविजय के पुत्र साधु रथनेमि कामातुर हो गया और राजमति से कामयोग की प्रार्थना की। राजमति ने उसे प्रबोध दिया कि मैं भोजक विष्णु की पौत्री उग्रसेन की पुत्री और तूं अंधक विष्णु पौत्र समुद्रविजय के पुत्र हो। तुम्हें कहना उचित नहीं है। रथनेमि उसके वचन से संयम में पुनः दृढ़ होगए। (उत्तराध्ययन सूत्र २२ वां अध्ययन)

द्वारिका नगरी—उस समय में द्वारिका नगरी बारह योजन (८६ मील) लम्बी और नव योजन (७२ मील) चौड़ी (विस्तारवाली) थी। उपरोक्त नगरी के बाहर उत्तर पश्चिम दिशि भाग में 'रैवत' नामक पर्वत था। उस रैवत पर्वत के समीप ही नंदनवन था (जो सर्व ऋतुओं में पुष्पादि उत्पन्न होने से दर्शनयी था) उस नंदनवन उद्यान में सुरप्रिय यक्ष का यक्षा-यतन था, जो एक वनखंड से परिवेष्टित था।

श्रीकृष्ण का परिवार—द्वारिका नगरी में श्रीकृष्ण वासुदेव राज्य करते थे उनके राज्य परिवार में समुद्रविजयादि १० दशार्ह, वलदेवादि ५ महावीर, प्रद्युम्नादिक ३॥ करोड़ कुमार, सांबादिक ६० हजार दुर्दंति

कुमार, महासेनादि ५६ हजार बलवान, वीरसेनादिक २१ हजार वीर पुरुष, उग्रसेनादि १६००० हजार राजा, रुक्मिणी आदि १६ हजार रानियां अनंगसेनादि अनेकों गणिकाएं एवं और भी बहुत से राज्येश्वर, अत्रशेष श्रेष्ठि, सेनापति, तलवरमाड़ाविय, कौटुम्बिक, एवं सार्थवाह थे। श्रीकृष्ण द्वारिका नगरी एवं वेताढ्य पर्वत से सागर पर्यंत दक्षिण (अर्द्ध) भारत का आधिपत्य करते थे (ज्ञाता सूत्र ; द्रौपदी अध्ययन ; अन्तकृत दशा सूत्र और वह्निदशा सूत्र) स्थानांग सूत्र में बताया गया है कि श्रीकृष्ण का शरीर १० धनुष का था और आयु एक सहस्र वर्ष की। सूत्र कृतांग सूत्र (३.१) में उन्हें शिशुपाल का प्रतिस्पर्द्धी बताया गया है।

अरिष्टनेमि स्वामी जब द्वारका नगरी में पधारे थे तो श्रीकृष्ण के निर्देश पर ही उनके कौटुम्बिकों ने उनकी पर्युपासना की थी। दूसरी बार जब अरिष्टनेमि स्वामी द्वारका में पधारे तो श्रीकृष्ण के ६ सहोदर— अनिक सेन, अनन्त सेन, अनिहत, रिपु, देवसेन और शत्रुसेन—प्रभु की आज्ञा लेकर 'छट्ठ छट्ठ' (=दो उपवासवाला) तप में प्रवृत्त हुए थे। एक समय छट्ठ के पारणे के दिन उन्होंने प्रथम प्रहर में स्वाध्याय किया। प्रभुकी आज्ञा लेकर दो-दो साधु तीन संघाटकों में विभक्त होकर गोचरी भिक्षा के लिये द्वारिका में फिरने लगे। फिरते फिरते प्रथम संघाड़े ने वसुदेव की रानी देवकी के घर में भिक्षा के लिये प्रवेश किया। देवकी ने आनन्द के साथ खड़े होकर सात आठ पांव सन्मुख जाकर तीन बार प्रदक्षिणा देकर वंदन नमस्कार कर भोजन गृह से सिंहकेसरिया मोदकों का थाल भरकर दोनों मुनियों को दिया। उसके बाद दूसरा संघाड़ा भी इसी प्रकार पर्यटन करता वहीं पहुंचा। देवकी ने उन्हें भी उसी प्रकार प्रतिलाभ दान दिया। फिर तीसरा संघाड़ा वहीं आया उन्हें भी इसी प्रकार बहरा कर पूछा कि हे भगवन ! क्या ९ योजन के विस्तार वाली कृष्ण की इस द्वारिका नगरी में श्रमण भगवानों को ऊंच नीच कुलों में पर्यटन करते भोजन पानी नहीं मिलता कि जिसके कारण एक ही घर में वारंवार भिक्षा के लिये प्रवेश करते हैं। जैन मुनियों का आचार ऐसा नहीं है इसलिये उन मुनियों ने देवकी की शंका को जानकर कहा कि द्वारिका में आहार नहीं मिलता इससे एक ही घरमें पुनः पुनः आना पड़े ऐसा नहीं है पर हे देवानुप्रिया, भद्दिलपुर के नाग गाथापति की भार्या सुलसा के पुत्र हम ६ सहोदर भ्राता एक समान रूप वाले हैं। हम छओं ने अरिष्टनेमि प्रभु से धर्म श्रवण कर जन्ममरण से भयभीत होकर दीक्षा लेली है। तुम्हारे यहां जो पहले मुनि आए थे वे हम नहीं हैं। हम उनसे भिन्न हैं। ऐसा कहते हुए वे स्व-स्थान चले गए।

मुनियों से उनका यह वृतान्त ज्ञातकर देवकी ने मन ही मन विचारा कि पोलासपुर में अतिमुक्त कुमार मुनि ने बाल्यावस्था में मुझसे कहा था कि तूं एक सदृश नल कुबेर के समान ८ सुंदर पुत्रों को जन्म देगी और वैसे पुत्रों को इस भारत में अन्य कोई भी माता जन्म नहीं दे सकेगी। तो क्या मुनि का यह वचन मिथ्या हो गया ? प्रत्यक्ष में ही इन सदृश रूपवाले ६ भ्राताओं को अन्य किसी माता ने जन्म दिया है। अतः अतिमुक्ति कुमार के कथन का निर्णय नेमिप्रभु से पूछकर करना चाहिए। ऐसा विचार के शीघ्र-गामी वाहन को कौटुम्बिक पुरुषों से मंगाकर उसमें बैठकर वे नेमिप्रभु के पास जाकर उनकी सेवा करने लगीं। नेमिप्रभु ने अपने ज्ञान बल द्वारा देवकी से उसके मन की शंका बतलाते हुए पूछा कि क्या तुम इसी शंका को पूछने के लिये यहां आई हो ! देवकी ने कहा हां भगवन् ! आपने कहा वह यथार्थ ही है। तब नेमिप्रभु ने शंका निवारण करने लिये उन मुनियों का पूर्व वृतान्त कहा कि "भद्दिलपुर के नाग गाथापति के सुलसा नामक भार्या थी सुलसा जब बाल्यावस्था में थी तभी एक नैमितक ने कहा था कि यह कन्या मृत्वात्सा-मृतक संतानों को उत्पन्न करने वाली होगी। इसके बाद सुलसा बाल्यावस्था से ही हरिणगमेषी देव की भक्त हो गई। उसने हरिणगमेषी देव की प्रतिमा बनाई। वह नित्य प्रातःकाल में स्नान, यावत् प्रायश्चित करके भीगी साड़ी को पहन उस प्रतिमा को पुष्पार्चन कर चरणों में प्रणाम करती और ऐसा करने के बाद ही आहारादि करती थी।

कुछ समय के बाद उसका विवाह हो गया, हरिणगमेषी देव ने उसकी भक्ति, बहुमान शुश्रूषासे प्रसन्न होकर कहा कि तेरा मृत्वत्सा कर्म-रोग तो नहीं छूट सकता। फिर भी मैं देवकी के ६ पुत्रों को तुम्हें दूंगा, तुम

उन्हें लालन पोषण करके और पाणिग्रहणादि कराके पुत्र सुख का मनोरथ पूर्ण करना। उसके बाद हे देवकी, तुम दोनों एक साथ ही रजस्वला होतीं, गर्भवती होतीं, गर्भ की रक्षाकर साथ ही साथ पुत्र जन्म देने लगीं। अतः वह हरिणगमेषी देव सुलसा की अनुकम्पा वश तुम्हारे जीवित पुत्रों को सुलसा के पास ले जाते और उसके मृतक पुत्रों को तुम्हारे पास रख जाते। इस कारण हे देवकी, वास्तव में वे तुम्हारे ही पुत्र हैं सुलसा के नहीं। अतः अतिमुक्ति कुमार मुनि के वचन असत्य नही हैं।

नेमिप्रभु से सारा रहस्य ज्ञातकर देवकी बड़ी प्रसन्न हुई, प्रभु को वंदन कर उन छओं अणगारों के पास आई। उन्हें वंदन नमस्कार किया। अतीव हर्ष के कारण उसके स्तनों से दूध की धारा बहने लगी और नेत्र, प्रफुल्लित होकर अश्रुओं से भर आए। शरीर में हर्ष फूला न समाया, अतः कंचुकी टूट गई हाथ के कड़े टूटे, रोमराजि विकसित हुई। देवकी उन छओं भ्राताओं को अनिमेष दृष्टि से बहुत समय तक देखती हुई वंदनादि कर पुनः नेमिप्रभु को प्रदक्षिणासह नमस्कार एवं वंदनकर वाहन पर आरूढ़ होकर अपने घर आके शय्या पर बैठ गई।

श्रीकृष्ण के सातवें सहोदर गजसुकमाल—उसके पश्चात् देवकी मन ही मन विचारने लगी कि मैंने नल कुबेर जैसे ७ एक सदृश पुत्रों को जन्म दिया। परन्तु मैंने एककी भी बाल्यावस्था नहीं देखी। और अब भी कृष्ण ६-६ महीने से मुझे पाद वंदन करने के लिये आते हैं। अतएव उन माताओं को धन्य है कि जो अपनी कुक्षि से उत्पन्न हुए—माता के स्तन के दुग्ध पान में लुब्ध, मधुर, मन्मन, एवं थोड़े थोड़े हंसते वचन बोलने वाले, स्तन को छोड़ गोद में रुकक जानेवाले मुग्ध बच्चों को अपने कोमल कमल सदृश हाथों से उठाकर गोद में बैठाती है। उनके उत्संग में बैठे हुए बच्चे मधुर एवं मंजुल शब्द पुनः पुनः उच्चारण करते हैं। मैं अधन्य, अपुण्य, अकृत-पुण्य हूं जिससे एक भी पुत्र का वैसा-सुख न मिल सका। इस प्रकार देवकी नीची दृष्टि एवं हथेली पर मुंह रखकर मन ही मन विचार कर रही है।

इधर श्रीकृष्ण वासुदेव ने स्नान किया। विभूषित होकर देवकी देवी के चरणों में वन्दन करने के लिये आए। देवकी को चरणों में वन्दन कर उसे उदास देखकर पूछा हे माताजी! अन्य समय मेरे आने पर आप हृष्ट तुष्ट और आनंदित होती हैं परन्तु आज मुझे देखकर आपने मेरी ओर ध्यान तक नहीं दिया। इसका कारण क्या? आपको ऐसी कौनसी चिन्ता है? तब देवकी ने अपने विचार श्रीकृष्ण से कहे कि मैंने नल कुबेर सदृश ७ पुत्रों को जन्म दिया पर एकका भी बाल्य सुख अनुभव नहीं कर सकी। हे पुत्र तुम भी ६-६ महीने से मुझे वन्दन करने आते हो। श्रीकृष्ण ने माता का अभिप्राय जानकर उसको आश्वासन दिया कि तुम चिन्तातुर होकर दुःखी मत होओ, तुम्हारी कुक्षि से मेरे सहोदर लघु बंधु उत्पन्न हो, ऐसा मैं प्रयत्न करूंगा। देवकी को आश्वासन देकर कृष्ण पौषधशाला में आकर अपने पूर्वभव के मित्र हरिणगमेषी देव की अट्ठा (तीन उपवास) तप द्वारा आराधना की। देव प्रसन्न होकर प्रगट हुआ कृष्ण ने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक कहा कि हे देवानुप्रिय! मेरे सहोदर लघु बंधु होने की मेरी व माता की इच्छा पूर्ण करो। देव ने कहा हे देवानुप्रिय! देवलोक से अवतरित होकर एक उत्तम जीव आपका सहोदर होगा और वह बाल्यावस्था को पूर्णकर यौवनावस्था प्राप्त होने पर भगवान् अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ग्रहण करेगा, इस प्रकार दो–तीन बार कहकर देव अंतर्धान हो गया। श्रीकृष्ण पौषधशाला से निकलकर देवकी के पास आकर उन्हें देव का कथन सुनाते हुए स्वस्थान चले गए।

यथा समय सिंह स्वप्न सूचित देवकी के पुत्र उत्पन्न हुआ। हाथी के तलवे के सदृश कोमल होने के कारण बालक का नाम गजसुकमाल रखा गया। गजसुकमाल के यौवन में पदार्पण करने पर, एकबार अरिष्टनेमि के पधारने पर श्रीकृष्ण गजसुकमाल के साथ हाथी पर चढ़कर वंदनार्थ गए। रास्ते में स्थानीय सोमल ब्राह्मण की पत्नी सोमश्री की पुत्री सोमा को खेलती हुई देखा, उसके अद्भुत रूपलावण्य को देख श्रीकृष्ण विस्मित हुए। उन्होंने अपनेको कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा सोमल ब्राह्मण से गजसुकमाल के लिये उस कन्या को

मंगनी कर उसे कन्याओं के महल में रखवा दी। इधर श्रीकृष्ण गजसुकमाल के साथ नेमिप्रभु को वंदन करके धर्म श्रवण करने लगे। कुमार गजसुकमाल भगवान् अरिष्टनेमि की देशना से प्रतिबोध पाए। मातापिता की आज्ञा लेकर दीक्षा लेने का निश्चय प्रभु से विदित किया और घर आकर माता पिता से दीक्षा की अनुमति मांगी। यह सुनकर श्रीकृष्ण वहां आए और गजसुकमाल को आलिंगन कर गोद में बैठाकर कहा—हे सहोदर! अभी दीक्षा मत लो। मैं तुम्हारा राज्याभिषेक करूंगा। बहुत समझाने पर भी गजसुकमाल अपने निश्चय पर अटल रहे तब वसुदेव, देवकी एवं श्रीकृष्ण ने कहा—जो तूं नहीं मानता है तो तेरी एक दिन की राज्यलक्ष्मी देखने की हमारी इच्छा है, उसे तो पूर्ण करो ऐसा कहकर गजसुकमाल का राज्याभिषेक किया।

उसके बाद गजसुकमाल नेमिप्रभु के पास दीक्षित हुए। प्रभुने उचित शिक्षाएं दीं। दोपहर के समय गजसुकमाल मुनि ने प्रभु की आज्ञा लेकर श्मशान में जाकर एक रात्रि की महाप्रतिमा (तप विशेष) स्वीकार की अर्थात् भूमि की प्रति लेखना—शुद्धिकर एकागू दृष्टि पूर्वक खड़े रहे। संध्या काल के समय सोमिल ब्राह्मण होम की सामग्री इकट्ठी कर लौटते हुए श्मशान के पास आया वहां गजसुकमाल को ध्यान में देखकर क्रुद्ध होकर कहनेलगा—तुमने मेरी पुत्री सोमा को अकारण लांछित कर परित्याग किया। उस वैर का बदला लेने के लिये गजसुकमाल के मस्तक पर गीली मट्टी का पाल बनाकर उसमें चिता के प्रज्वलित अंगारे रखकर सोमल स्वस्थान लौट आया। इधर मस्तक पर जलती हुई अग्नि के असहनीय कष्ट को सहन करते हुए—पर सोमिल पर तनिक भी द्वेष धारण नहीं करते हुए, गजसुकमाल मुनि मोक्ष पधारे।

दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीकृष्ण नेमिप्रभु के वंदनार्थ आरहे थे, रास्ते में एक वृद्ध पुरुष को एक बड़े ईंटों के ढेर से एक-एक ईंट को उठाकर गली के रास्ते से लेकर घर में रखते हुए देखा। श्रीकृष्ण ने वृद्ध पर दया लाकर एक ईंट को स्वयं हाथी पर बैठे हुए ही घर में डाल दी कृष्ण के अनुकरण से उनके साथी सैकड़ों पुरुषों ने एक-एक ईंट करके वह सारा ढेर घर में रख दिया, वृद्ध पुरुष का कष्ट निवारण हुआ। इसके बाद श्रीकृष्ण ने जाकर नेमिप्रभु को वंदन किया, गजसुकमाल मुनि को वहां देखकर प्रभु से पूछा कि मेरा प्रिय लघु भ्राता कहां है? बतलाइए, मैं उसे वंदन करूं। प्रभु ने गजसुकमाल के मोक्ष चले जाने का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। कृष्ण ने क्रुद्ध होकर पूछा वह पुरुष कौन है? जिसने मेरे भाई की अकाल में मृत्यु की है। प्रभु ने कृष्ण को शांत करने के लिये कहा—उस पुरुष पर द्वेष धारण न करो उसने तो गजसुकमाल को कर्म क्षय करने में सहायता दी है जिस प्रकार तुमने आते समय एक ईंट को उठाकर, घर में रखकर उस वृद्ध पुरुष की सहायता की। तब श्रीकृष्ण ने पूछा—हे भगवन् मैं उस घातक पुरुष को कैसे पहचानूंगा? प्रभु ने कहा—तुम्हें वह द्वारिका नगरी में प्रवेश करते समय दरवाजे में खड़ा हुआ मिलेगा पर वह भय के कारण वहीं मर जायगा उसे ही तुम गजसुकमाल का घातक पुरुष जान लेना।

श्रीकृष्ण यह बात सुनकर प्रभु को वंदनकर हाथी पर बैठ नगरी लौट रहे थे। इधर सोमिलने विचार किया कि श्रीकृष्ण नेमीप्रभु को वंदनार्थ जावेंगे और उनसे मेरा हाल ज्ञातकर न मालूम किस (बुरे) प्रकार से मारेगें। अतः वह घर से बाहर जाने लगा पर मार्ग में ही श्रीकृष्ण को देख भयभ्रान्त होकर मर गया। श्रीकृष्ण ने उसको सोमिल पहिचान उसकी मृत देह चँडालों से बाहर निकलवा उस भूमि पर जल छिड़कवा के घर आए।

द्रौपदी, जन्म एवं विवाह—जंबूद्वीप के भरत क्षेत्रवर्ती पांचाल देश में कापिल्यपुर नगर था। वहां के नृपति द्रुपद के चुलणी राणी थी। उसके धृष्टार्जुन नामक (युवराज) पुत्र एवं द्रौपदी नामक पुत्री थी। द्रौपदी के यौवनावस्था प्राप्त होने पर द्रुपद राजा ने स्वयंवर मंडप की रचना की एवं (१) द्वारिका के श्रीकृष्ण समुद्रविजयादि (२) हस्तिनापुर के पांचों पांडव—युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव सह पांडुराजा, दुर्योधनादि १०० भ्राता, गांगेय, विदुर, द्रौण, जयद्रथ, शकुन, क्लीव, अश्वत्थामा, सह (३) चंपानगरी के कर्ण अंगराज! सल्मानंदि (४) सोक्तिमती नगरी के राजा शिशुपाल को, दमघोषादि ५०० पुत्रों के साथ (५)

हस्तिशीर्ष नगर के दमदंत राजा को (६) मथुरा के धर राजा (७) राजगृह के राजा जरासंध के पुत्र सहदेव (८) कौडिन्य नगर के भीष्मक पुत्र रुप्पि राजा को (९) विराट के कीचक राजा को १०० भाइयों के साथ, एवं अवशेष ग्राम नगरों के राजाओं को (द्रौपदी के स्वयंवर में पधारने के लिये) आमंत्रणार्थ दूत भेजे स्वयंवर-सभा गंगा नदी के तट पर थी। द्रौपदी ने पंचवर्ण वाली जयमाला पांडवों के गले में डाल दी। कृष्ण वासुदेव आदि सहस्रों राजाओं ने द्रौपदी को इस चुनाव के लिये साधुवाद दिया।

द्रौपदी अपहरण—एकबार नारद पांडवों के घर पधारे। सबने उनका सत्कार किया पर द्रौपदी ने, उन्हें अविरत समझकर सम्मान नहीं किया। नारद मन ही मन बदला लेने का संकल्प लेकर उठे।

वहां से वे विद्याधर गति से धातकी खंडवर्ती अमरकंका नगरी में पधारे। वहां पद्मनाभ राजा-जिनके ७०० रानियों एवं सुनाम युवराज कुमार था, अंतःपुर में रानियों के साथ सिंहासन पर बैठे हुए थे। नारद को आते देख राजा ने भी उसका सम्मान सत्कार किया एवं नारद के कुशलादि पूछने के बाद गर्विष्ट होकर पूछा कि क्या आपने मेरी रानियों के सदृश रूपवान स्त्रियों का समुदाय कहीं देखा है? नारदजी ने मृदुहास्यपूर्वक कहा, हे पद्मनाभ, पांडवों की पत्नी द्रौपदी के पैर के अंगूठे की समता करनेवाली तुम्हारे रानियों में से कोई नहीं है, वह ऐसी रूपवती है। इन वचनों से उत्कंठित होकर पद्मनाभ ने पूर्व परिचित मित्र देव का आराधन किया उसने द्रौपदी के सतीत्व की बात कहकर हस्तिनापुर में युधिष्ठिर के साथ सोती हुई द्रौपदी को अवस्वापिनी निद्रा देकर वहां से उठाकर पद्मनाभ के भवन में ला रखा। जागृत होने पर द्रौपदी विस्मित हुई। पद्मनाभ ने अपना कुत्सित अभिप्राय कहा। द्रौपदी ने ९ महीने की अवधि मांगकर २-३ उपवास पारणे में आम्बिल (एक ही बार एक ही अन्न) ग्रहणपूर्वक तप करना प्रारंभ किया। युधिष्ठिर ने खोई हुई द्रौपदी को पाने के लिये बहुत अन्वेषण करवाया पर कुछ पता न चला। अन्त में कुन्ती के परामर्श से उन्हींको श्रीकृष्ण के पास भेजा। बुआ के अनुरोध से श्रीकृष्ण ने द्रौपदी का पता लगाने का वचन दिया। संयोग वश नारद से ही द्रौपदी का पता उन्हें लग गया। और अमरकंका के राजा को युद्ध में पराजित करके द्रौपदी को प्राप्त किया।

पांडवों को देश निकाला—पांच पांडवों और द्रौपदी के साथ लवण समुद्र पारकर जब वे भरतक्षेत्र में गंगा के पास आए तो सुस्थित देव से मिलने अकेले चले गए। पांडवों ने नौका से नदी पार की और उस पार जाकर परस्पर कहने लगे कि कृष्ण वासुदेव गंगा नदी को भुजा से तैरकर पार करने में समर्थ हैं या नहीं? देखा जाय ऐसा विचारकर नौका को गुप्त रख श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा करने लगे। श्रीकृष्ण ने सुस्थित देव से मिलकर गंगा नदी के पास आकर नौका की गवेषणा की। पर नौका न मिलने से एक हाथ में अश्वों, सारथी एवं रथों को उठाया और दूसरे हाथ से ९२॥ योजन विस्तारवाली गंगा को तैरने लगे। तैरते तैरते नदी के मध्य में आनेपर थक गए और विचार करने लगे पांडव बड़े बलवान हैं इतनी बड़ी नदी तैर गए पर पद्मनाभ को क्यों नहीं जीत सके यही आश्चर्य है। श्रीकृष्ण को थका हुआ जानकर गंगादेवी ने वहां पर स्थल बना दिया। श्रीकृष्ण ने दो घड़ी विश्रामकर फिर अवशेष गंगा को तैरकर पांडवों के पास पहुंचे। और अपने पूर्व-विचारित शब्द कहे। प्रत्युत्तर में सारा वृत्तान्त पांडवों ने कहा हमें तो छोटी सी नौका मिल गई थी उससे पार हो आए पर आपकी बलपरीक्षा के लिये हमने नौका वापिस नहीं भेजी। यह सुनकर श्रीकृष्ण बड़े क्रोधित हुए, ललाट में त्रिवली चढ़ा कर कहने लगे—जब मैंने दो लाख योजन का लवणसमुद्र उल्लंघनकर, पद्मनाभ को ससैन्य भगाकर अमरकंका को तोड़कर द्रौपदी को तुम्हें लाके दी तब तुमने मेरा पराक्रम नहीं देखा तो अब जानोगे, कहते हुए लोहदण्ड को उठाकर पांचो पांडवों के रथों को चूर्ण विचूर्णकर डाला और पांडवों को देश-निकाले की आज्ञा दी। रथमर्दन की स्मृति में वहीं 'रथमर्दन' पुर नामक एक कोट बनाया। तदनन्तर श्रीकृष्ण अपने सैन्य सहित द्वारिका चले गए।

पांडु का मथुरा नगरी का बसाना—इधर पांचों पांडवों ने पांडु राजा के पास जाकर देश-निकाले तक का सारा हाल कह सुनाया, पांडुराजा ने भी उन्हें बहुत भला बुरा कहा और कुंती को बुलाकर कृष्ण के

अन्धक वृष्णि
(राणी धारणी)
१ समुद्र विजय
(पत्नी शिवादेवी)
वसुदेव
१ गौतम २ समुद्र ३ सागर ४ गंभीर ५ स्तिमित ६ अचल ७ कंपिल्य ८ अक्षोभ ९ प्रसेन १० विष्णु
(अंतगड़ दशा वर्ग १ अध्ययन १०)
१ अरिष्टनेमि २ सत्यनेमि ३ दृढ़नेमि ४ रहनेमि
(नं-२, ३, उल्लेख अंतगड़ दशा वर्ग ४)
११ हिमवंत १२ धरण १३ पूरण १४ अभिचंद
(उल्लेख अंतगड़ दशा वर्ग २ अ ८)
पत्नी १ रोहिणी
२ देवकी
३ धारणी राणी
बलदेव
१ अनिकसेन २ अनंतसेन ३ अनिहत ४ रिपु ५ देव ६ शत्रु ७ श्रीकृष्ण ८ गजसुकुमाल
१ सारण २ दारुक ३ अनाधृष्टि ४ जालि
(उल्लेख नं १ का अंतगड़ दशा वर्ग ३ अध्य० ७
शेष का वर्ग ४ में है)
(पत्नी) १ धारणी
२ रेवती
सुमुख दुर्मुख कूपदारक
(अंतगड़ दशा वर्ग ३
अध्य ९ से ११)
निषधादि १२
(वन्हिदशा सूत्र)
पत्नी १ पद्मावती २ गौरी ३ गांधारी ४ लक्ष्मणा ५ सुसीमा ६ जांबवती ७ सत्यप्रभा (भामा) ८ रुक्मिणी
सांबकुमार
(स्त्री मूलश्री, मूलदत्ता)
१ मयालि २ उवयालि ३ उरुषसेन ४ वारिषेण ५ प्रद्युम्न
(अंतगड़दशा वर्ग ४ अ० २ से ६)
(पत्नी वैदर्भी)
अनिरुद्ध
(अंतगड़दशा वर्ग ४)

पास जाकर यह कहने कहा कि तुम अर्द्ध भरत खंड के स्वामी हो पांडवों को देश निकाला दे दिया, तो तुम्हीं कहो वे अब कहां रहें ?

कुंती ने पूर्ववत् द्वारिका जाकर सारी बात समझाई तब श्रीकृष्ण ने कहा कि बुआजी, चक्रवर्ती वसुदेवादि उत्तम पुरूषों के वचन असत्य नहीं हो सकते इससे पांडव वेतालिक (समुद्र) के तट पर नवीन पांडु मथुरा नगरी बसाकर भी दृष्टि से दूर रहें। श्रीकृष्ण ने कुंती को सत्कृतकर बिदा की। कुंती से कृष्ण का नया आदेश पाकर पांडवों ने वैसा ही किया। उन्होंने पांडु मथुरा बसाकर वहां विपुल भोग समृद्धि प्राप्त की।

श्रीकृष्ण का नेमिप्रभु से द्वारिका विनाश का प्रश्न—एक बार श्रीअरिष्टनेमिप्रभु द्वारका पधारे थे। उनसे पूछने पर श्रीकृष्ण को मालूम हुआ कि सुरा अग्नि और द्वीपायन ये तीन द्वारका के नाश के कारण होंगे। दुःखित हो श्रीकृष्ण ने दीक्षा लेने का विचार किया नेमिप्रभु ने कहा :—हे कृष्ण, वासुदेव पदधारक दीक्षा नहीं ग्रहण कर सकते क्योंकि वासुदेव पद पूर्वभव के किए हुए निदान का फल है अतः उस निदान के कारण दीक्षा नहीं ले सकते। यह सुनकर श्रीकृष्ण ने पूछा—हे भगवन् मैं यहां से आयुष्य पूर्णकर के कहां जा के उत्पन्न होऊंगा ? उन्होंने कहा :—द्वीपायन के क्रोध से जब द्वारिका जलकर भस्मीभूत हो जायगी तब माता पिता स्वजनादि से रहित होकर तुम बलदेव। साथ दक्षिण समुद्र के तटपर स्थित पांडुपुरी की ओर युधिष्ठिरादि पांचों पांडवों के पास जाओगे जाते हुए मार्ग में कौशाम्बी नगरी के जंगल में बड़ वृक्ष के नीचे पृथ्वीशिलापट पर पीले वस्त्र से शरीर को ढांक कर सोओगे। उस समय जरा कुमार के धनुष का तीर तुम्हारे दाहिने पैर में लगेगा और उससे पैर बींध जाने के कारण तुम आयुध को पूर्णकर बालुकाप्रभा नामक तीसरे नरक में उत्पन्न होओगे।

इस बात को सुनकर कृष्ण बड़े दुःखित हुए। उन्हें दुःखित देखकर नेमिप्रभु ने आश्वासन देते हुए कहा—हे देवानुप्रिय दुःखी मत होओ तुम उस तीसरे नरक से इसी भरतक्षेत्र के पुंड्रदेश वर्ती शतद्वार नगर में उत्पन्न होकर भावी आगामी चौबीशी (२५ तीर्थकरों) में १२ वें तीर्थंकर होओगे, बहुत वर्षों तक केवली अवस्था में रहकर सिद्धि-मुक्ति को प्राप्त करोगे।

नेमिप्रभु से अपने भावी तीर्थंकर होने की बात ज्ञातकर श्रीकृष्ण अत्यंत हर्षित हुए और नेमिप्रभु को बंदन कर हाथीपर आरूढ़ होकर अपने घर को लौट आए। उन्होंने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर आज्ञा दी कि तुम द्वारिका के सभी राजमार्गों में यह उद्घोषण करो कि द्वारिका का विनाश (मदिरा, अग्नि, एवं द्वीपायन ऋषि के कारण) होने वाला है अतः द्वारिका नगरी के जोकोई राजा, युवराज कुमार, श्रेष्ठि स्त्रीपुरुष नेमिप्रभु के पास दीक्षा ग्रहण करना चाहें वे खुशी से लें, मैं उनका दीक्षा महोत्सव करूंगा व उनके पीछे रहे हुए कुटुंब का भरणपोषण करूंगा।

नई समस्याएं

हजारीप्रसाद द्विवेदी

(१)

हिंदी के साहित्यिकों के सामने इस समय कई अत्यन्त महत्त्व के प्रश्न हैं। इन प्रश्नों को लेकर साहित्य क्षेत्र में कई दल हो गए हैं। प्रथम अत्यन्त जटिल प्रश्न उपस्थित हुआ है बोलियों का। कई बोलियों के बोलने वाले अपनी विशेष बोली को स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित करना चाहते हैं। पूर्व में मैथिली और पश्चिम में राजस्थानी की ओर से यह दावा उत्थापित किया गया है कि वे हिंदी की उपभाषा नहीं हैं और

उन्हें अपनेको स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित होने का अवसर मिलना चाहिए। अब, जहां तक किसी भाषा के विकसित होने का प्रश्न है, कोई भी उसमें बाधा नहीं पहुंचा सकता। यदि मैथिली क्षेत्र के प्रतिभाशाली कवि और नाटककार अपनी भाषा में काव्य-नाटक लिखें तो उन्हें कौन रोक सकता है। परन्तु बाधा यहां नहीं है। आजकल बड़े बड़े विश्वविद्यालय हैं, अदालतें हैं, सरकारें हैं, रेडियो और प्रेस हैं, इन सबका आश्रय लिए बिना और इन सबकी छाया पाए बिना कोई भाषा ठीक तौर से नहीं पनप सकती। विद्यापति केवल प्रतिभा के बल पर चल पड़े थे परन्तु आज के विद्यापति के लिये बहुत कुछ अपेक्षित है। यह तो सिर्फ बात की बात है कि अनन्तकाल में विद्यापति-जैसा प्रतिभाशाली कवि किसी न किसी दिन समादृत होकर ही रहेगा। जब कहा जाता है कि अमुक बोली या भाषा को पनपने का अवसर मिलना चाहिए तो उसका मतलब वस्तुतः यह होता है कि उसकी पुस्तकें पाठ्यतालिका में आनी चाहिए, विश्वविद्यालय को उस भाषा के माध्यम से ऊंची से ऊंची शिक्षा देनी चाहिए, उस भाषा के कवियों और नाटककारों का उच्चतर आलोचनात्मक अध्ययन होना चाहिए, उस प्रदेश की सरकार को अदालतों में उस भाषा को स्थान मिलना चाहिए, उस देश के प्रेसों को, उस देश के रेडियो-विभाग को, उस भाषा में संवाद प्रचार करके उस भाषा के बोलनेवालों की उचित सेवा करनी चाहिए, इत्यादि। इनसे कम सुविधाओं को भोगने के लिये जो लोग आन्दलोन करते हैं वे चूहे के लिये पहाड़ खोदते हैं। इस प्रश्न पर स्वभावतः ही-दो दल हो गए हैं। एक दल कहता है, इससे अनर्थ हो जायगा, दूसरा कहता है यही एकमात्र उत्तम मार्ग है। दोनों ओर से भाषाशास्त्रीय युक्तियां उपस्थित की जाती हैं, शास्त्रीय सूक्ष्म तर्कों की अवतारणा की जाती है, आदर्श समझे जानेवाले देशों के इतिहास और आधुनिक विधान का हवाला दिया जाता है। साधारण पाठक युक्तियों के जाल में बुरी तरह फंस जाता है। सबकी युक्तियों में सार है परन्तु कौन-सा ग्रहणीय है इसका प्रमाण क्या है? खरे और खोटे को समझने की कसौटी क्या है?

ऊपर जो हिंदी की उपभाषाओं की स्वतंत्रता के दावे की बात कही गई है वह सिर्फ कई जटिल प्रश्नों में से एक है। और भी कई हैं। अब तक हिंदी साहित्यिकों का भाषा के प्रश्न पर दूसरों से ही मतभेद रहा है। आपस में उनका कोई बड़ा मतभेद नहीं रहा है। परन्तु उनके अपने समूह में ही अनेक मतों के पोषक दल उत्पन्न हो गए हैं। साहित्यिक प्रयत्नों के केंद्रीकरण पर मतभेद है, संस्कृत और फ़ारसी शब्दों का प्रयोग-तारतम्य भी पारस्परिक कलह का कारण बना है, हिंदी और हिंदुस्थानी में से कौन-सा नाम व्यवहार्य है, यह भी टंटे का कारण हुआ है। ये तो भाषा संबंधी जटिलताएं हैं। विषयगत मतभेद भी हैं। वक्तव्य-वस्तु को देखने और उपस्थापन करने की प्रणालियों के विषय में गहरा मतभेद हो गया है। इस मतभेद ने समूचे जीवन को प्रभावित किया है। साहित्य बुद्धि विलास नहीं रह गया है। उसके उपासक यह कहकर चुप नहीं बैठ सकते कि हम तो सरस्वती के उपासक हैं, हमको दुनियावी झंझटों से क्या मतलब। वस्तुतः जिन्हें दुनियावी झंझट कहा जाता था उन्होंने साहित्य के मैदान में कसकर अपना खूंटा गाड़ दिया है। भाषा और साहित्य के प्रश्न पर इतने मत मतान्तर उत्पन्न हुए हैं कि हमलोगों ने हिंदी के जिस भविष्य की मनोहर कल्पना की थी वह भहराता नज़र आता है। घड़ा कुम्हार के चाक पर टूट जायगा, ऐसी आशंका हो रही है। उपाय क्या है?

(२)

आसमान में मुक्का मारना कोई बुद्धिमानी का काम नहीं माना जाता। बिना लक्ष्य के तर्क करना भी बुद्धिमानी नहीं है। हमें भलीभांति समझ लेने की आवश्यकता है कि हमारा लक्ष्य क्या है। हम जो कुछ प्रयत्न करने जा रहे हैं वह किसके लिये है। साहित्य हम किसके लिये लिखते हैं, इतिहास और दर्शन

क्यों लिखते और पढ़ते हैं, राजनीतिक आन्दोलन किस महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिये करते हैं। मेरा अपना विचार यह है कि मनुष्य ही वह बड़ी चीज़ है जिसके लिये हम यह सब काम करते हैं। हमारे सब प्रयत्नों का एक ही लक्ष्य है—मनुष्य वर्तमान दुर्गति के पंक से उद्धार पावे और भविष्य में सुख और शान्ति से रह सके। साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानव जीवन है। कभी कभी इस प्रकार बात की जाती है मानों साहित्य की रचना दस अन्य भले कामों की अपेक्षा कुछ भिन्न वस्तु है। वस्तुतः अगर साहित्य की रचना कोई भला काम है तो दस अन्य भले कामों के समान ही उसका लक्ष्य भी मनुष्य जीवन को सुखी बनाना है। वह शास्त्र, वह रसग्रन्थ, वह कला, वह नृत्य, वह राजनीति, वह समाज सुधार और वह पूजापार्वण जंजालमात्र हैं जिससे मनुष्य का भला न होता हो। मनुष्य आज हाहाकार के भीतर निरन्न निर्वस्त्र बना हुआ त्राहि त्राहि पुकार रहा है। उसे अन्न और वस्त्र जुटाना अच्छा काम है। हमारे राजनीतिक और सामाजिक सुधारों और क्रान्तियों से इस अन्न-वस्त्र की समस्या सुलझ जा सकती है। फिर भी मनुष्य सुखी नहीं बनेगा। उसे सिर्फ अन्न और वस्त्र से सन्तोष नहीं होगा। वह उन अत्यन्त मोटे प्रयोजनों की पूर्ति पहले चाहता है जो उसकी आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य क्षुधाओं के निवर्तक हैं। इसके बाद भी उसका मनुष्य बनना बाक़ी रह जाता है। साहित्य वही काम करता है। साहित्य का यही काम है। जो साहित्य मनुष्य को उसके पशु-सुलभ सतह से ऊपर नहीं उठाता वह 'साहित्य' की संज्ञा ही खो देता है। मनुष्य को हर तरह से उन्नत बनाना, उसे अज्ञान मोह कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता के दलदल से निकालना, और उसे पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठाकर प्राणिमात्र के दुःख-सुख के प्रति संवेदनशील बनाना ही साहित्य-रचना का लक्ष्य हो सकता है। दुनिया का कोई भला काम इसी लक्ष्य के लिये किया जाता है। शास्त्र इसीके लिये बने हैं, नियम-कानून इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायक होने पर ही सार्थक होते हैं, मनुष्य की तर्कपरायण बुद्धि इसी उद्देश्य के लिये काम आकर कृतार्थ होती है। शास्त्रकार ने इसीलिये कहा है—न मानुषात्परतरं किंचिदस्तीह भूतले—मनुष्य से बढ़कर इस दुनिया में और कुछ भी नहीं है।

इसी मनुष्य के सुख दुःख का विचार करके हमें अपनी भाषा-विषयक नीति स्थिर करनी चाहिए। इस मनुष्य को दृष्टि में रखकर हमें अपनी साहित्यिक समस्याओं का समाधान खोजना चाहिए। यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि विचार करते समय हमारी रुचि, हमारे संस्कार या हमारा विक्षोभ हमें अभिभूत कर दे। मैं भोजपुरी बोलता हूं। भोजपुरी में जितनी शक्ति और सहजभाव मैं देख पाता हूं उतनी अवधी या बुन्देलखंडी में नहीं देख पाता। यह व्यक्तिगत मत है क्योंकि इसमें मेरी रुचि और संस्कार के सिवा कोई बड़ा तर्क मेरे पास नहीं है। परन्तु यदि मैं इस रुचि और संस्कार को कुछ अधिक ढील दूं तो मैं साबित कर सकता हूं कि भोजपुरी ही इस देश की सबसे शक्तिशाली भाषा है। मैं इतिहास से इस विषय की गवाही ढूंढ़ सकता हूं। भारतवर्ष का ज्ञात इतिहास भोजपुरियों से आरंभ होता है। जिन सैनिकों के नाममात्र से सम्राट् सिकन्दर कांप उठे थे वे भोजपुरी थे। जिन भिक्षुओं ने पर्वत और समुद्र लांघकर चीन से लेकर जापान तक भारतीय संस्कृति की पताका फहराई थी वे अधिकांश भोजपुरी थे। चंद्रगुप्त और कुमारजीव भोजपुर की सन्तान थे और मध्ययुग का सबसे बड़ा फक्कड़ और सबसे बड़ा प्राणवान् महापुरुष भोजपुरी था। मेरा मतलब कबीर से है। मेरा तर्क इससे आगे बढ़ सकता है। पालि इसलिये प्राणवान् है कि उसमें भोजपुरी प्रतिभा का स्पर्श है और कबीर इसलिये मस्तमौला है कि उसने भोजपुरी का आश्रय लिया था। मैं कह सकता हूं कि हिंदी के समूचे क्षेत्र में एक भी उपभाषा इतनी शानदार और जानदार नहीं है। परन्तु यह तर्क उचित नहीं है। राजस्थानी या मैथिली भाषा के पक्षपाती ऐसे ही—तर्क उपस्थित करते हैं या कर सकते हैं। प्रश्न यह नहीं है कि भोजपुरी का पुराना इतिहास क्या है, या चंद्रगुप्त भोजपुरी थे या नहीं, प्रश्न यह है कि आज यदि भोजपुरी को विश्वविद्यालयों के शिक्षा का माध्यम बनाया जाय, अदालतों की भाषा बना दी जाय (अर्थात् बनारस में कोई ऐसा हाईकोर्ट स्थापित किया जाय जहां के जजलोग भोजपुरी में निर्णय लिखें), विदेशी विनिमय

की भाषा बना दी जाय तो भोजपुरी बोलनेवालों और अन्यान्य ऐसी ही बोली बोलनेवालों का कोई लाभ होगा या नहीं। मेरा होगा, मेरे गांव-जवारवालों का भी होगा—परन्तु यहीं तक दुनिया समाप्त नहीं हो जाती। हम इस प्रश्न को ज़रा और दूर तक सोचें। यदि हमारे तर्कों और युक्तियों के मूल में कोई संकीर्ण स्वार्थ है, या व्यक्तिगत रुचि-अरुचि का प्राबल्य है तो निष्कर्ष दोषयुक्त होगा।

हिंदी केंद्रीय भाषा है। बड़े परिश्रम से और बड़ी कठिनाइयों के भीतर से इसके उपासकों ने इसे सार्वदेशिक भाषा बनाई है। इसे किसी केन्द्रीय राजशक्ति की अंगुली पकड़कर आगे नहीं बढ़ाया गया है। विरोधों, कशमकश और आघात-प्रत्याघातों के भीतर से इसकी शानदार सवारी निकली है। आज यह भारतवर्ष की सबसे ज़बर्दस्त भाषा हो गई है। सो भी कितने दिनों में? डा० ताराचंद ने विश्ववाणी की अक्तूबरवाली संख्या में बताया है कि 'भाषा यानी अदब की ज़बान की हैसियत से उन्नीसवीं सदी से पहले इसका नाम और निशान भी नहीं था।' सौ सवा सौ साल में इतनी शक्ति अर्जन करने का रहस्य क्या है? क्या कारण है कि देखते देखते इसकी धारा में सारा हिंदुस्तान बह गया मानों कोई विराट शक्तिशाली पातालतोड़ कुआं एकाएक फूट पड़ा हो। निश्चय ही सारा जनसमुदाय इसे ग्रहण करने के लिये व्याकुल बैठा था। उसने अपने आपकी अपराजेय शक्ति से यह प्रभाव विस्तार किया है। इस केन्द्रीय भाषा को लपेट में लगभग समूचा उत्तर भारत आ गया है। केन्द्र से दूर दूर के प्रदेश भी इस केन्द्रीय भाषा को शिष्ट व्यवहार और साहित्यिक तथा अन्यान्य सार्वजनिक कार्यों की भाषा मानने लगे हैं। यह स्वाभाविक ही है कि केन्द्र से दूर रहनेवाले प्रदेशों की बोलियां केन्द्र के नजदीक रहनेवाले प्रदेशों को बोलियों की अपेक्षा इस सार्वदेशिक भाषा से अधिक दूरत्व अनुभव करें। मैं जिस प्रादेशिक बोली को बोलता हूं वह केन्द्र से बहुत दूर पड़ती है। पूरबी छोर पर मगही और मैथिली को छोड़कर और कोई उपभाषा ऐसी नहीं है जो भोजपुरी से अधिक दूर पड़ती हो। मैंने लक्ष्य किया है कि इन तीनों बोलियों के क्षेत्र में केन्द्रीय भाषा थोड़ी-बहुत ग़लत बोली जाती है। बहुत पढ़े लिखे लोगों में भी कभी कभी भाषा-संबंधी अशुद्धियां सुनने को मिल जाती हैं। इन बोलियों में 'ने' का प्रयोग नहीं है, विभक्तियां केन्द्रीय भाषा की विभक्तियों से भिन्न हैं और कई सर्वनाम भी एकदम अलग हैं। इन प्रदेशों की स्वाभाविक भाषा हीं यदि यहां के बालकों और अशिक्षित प्रौढ़ों के सिखाने की भाषा हो तो वे आसानी से शिक्षित बनाए जा सकते हैं। इन स्थानों में शायद ही कोई शिक्षक केन्द्रीय भाषा की सहायता से शिशुओं को पढ़ाता हो और यद्यपि प्रौढ़ों की शिक्षा के लिये केन्द्रीय भाषा के माध्यम का सहारा लिया गया है पर मैं व्यक्तिगत अनुभव के बल पर कह सकता हूं कि स्थानीय भाषा का सहारा लेकर काम शुरू किया जाय तो प्रौढ़-शिक्षण का काम तेज़ी से आगे बढ़ सकता है अर्थात् जहां तक इन प्रदेशों के शिशुओं की तथा अनपढ़ प्रौढ़ों की शिक्षा का प्रश्न है वहां तक प्रादेशिक बोलियों का सहारा लेना अत्यन्त आवश्यक है। पर ज्योंही शिशुओं की शिक्षा पूर्ण हुई और उन्हें बृहत्तर जीवन में आना पड़ा त्यों ही बोलियों का सहारा उनके विकास में बाधक सिद्ध होगा। आखिर इस ग़रीब देश में आप कितने विश्वविद्यालय और कितने हाईकोर्ट चलाएंगे? एक एक ज़िले का दावा अलग अलग हो सकता है। ग्रियर्सन ने जिन लोगों की भाषाको स्टैण्डर्ड भोजपुरी कहा है वे लोग बनारसवाले हाईकोर्ट की भाषा क्यों मानेंगे और बनारसवाले ही अपनी संपूर्ण ऐतिहासिक परंपरा के बावजूद बलिया-आरा की बोली को क्यों स्टैण्डर्ड मानेंगे। झगड़ा तो वहां भी खड़ा होगा। जब कहीं-न-कहीं समझौता करना ही है तो इस समय दीर्घ प्रयत्न के बाद जो शक्तिशाली केन्द्रीय भाषा बनी है उसीका सहारा क्यों न लिया जाय? जो हो, हम आगे चलकर देखेंगे कि आर्यभाषा के बोलनेवालों में अपनी अपनी बोलियों के प्रति प्रबल अनुराग का भाव कोई नई बात नहीं है। लिंग्विस्टिक सर्वे ने इस तथ्य को भलीभांति सिद्ध कर दिया है।

कुछ इस प्रकार का तर्क उठाया गया है कि साहित्य की भाषा वह होनी चाहिए जिससे मनुष्य बिना प्रयत्न किए ही शुद्ध शुद्ध प्रयोग कर सके, वह नहीं जिसमें उसे थोड़ा प्रयत्न करना पड़े। मनुष्य अपनी अप्रयत्न-सिद्ध अवस्था में रहनेवाला प्राणी नहीं है। उसने जो सभ्यता और संस्कृति बनाई है वह प्रयत्नपूर्वक

परिश्रम करके ही। अगर वह अपनी स्वाभाविक अवस्था में ही रहता तो पशु-सामान्य धरातल से ऊपर नहीं उठता। आहार-निद्रा आदि प्राकृतिक प्रयोजनों से वह जो ऊपर उठ सका है उसका प्रधान कारण प्रयत्न ही रहा है। यह और बात है कि प्रयत्न की दिशा सब समय सही नहीं रही है। और लुढ़कते पुढ़कते वह एक ऐसी अवस्था में आ गया है जो उसकी उन्नति के अनुकूल तो है ही नहीं उसे वर्तमान अवस्था में भी शान्ति नहीं मिलने देती। दुनिया भर के दीर्घदर्शी मनीषियों ने इस अवस्था का कारण विश्लेषण किया है। मनुष्य में संकीर्ण स्वार्थों और अंध-प्रतियोगिता के बाहुल्य से ही यह अवस्था उत्पन्न हुई है। संसार के औसत मनुष्य अपनी बनाई हुई व्यवस्था की बेड़ियों से बुरी तरह जकड़ गए हैं। फिर एकबार क्रान्तदर्शियों ने सावधान किया है। वे कहते हैं, प्रयत्नपूर्वक इस व्यवस्था को जड़मूल से बदल दो। कुछ भी ऊलजुलूल तरीके से नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वस्तु के उत्पादन की योजना होनी चाहिए, वितरण की योजना होनी चाहिए, व्यवहार की मर्यादा होनी चाहिए। वर्तमान महायुद्ध ने नितान्त अंध लोगों को भी यह अनुभव करा दिया है कि बिना योजना के उत्पादन, वितरण और व्यवहार का चलते रहना महानाश को निमंत्रण देना है। परन्तु योजना किसके लिये? मैं कहता हूँ, मनुष्य की सुखशान्ति के लिये, भविष्य की सुरक्षा के लिये और अशिक्षा, कुशिक्षा, दरिद्रता, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता के नाम और निशान मिटा देने के लिये। अब भी दुनिया के शक्तिशाली समझे जानेवाले लोग इस बात को नहीं समझ सके। वे सस्ती-महंगी के नियंत्रण को योजना बना रहे हैं पर यह गलती पकड़ी जायगी। मनुष्य को चरमलक्ष्य न मानने का कुफल सौ बार भोगना पड़ा है, इस बार भी भोगना पड़ेगा। भाषा के मामले में भी हमें सावधानी से काम लेना है। हम भाषाओं की एक लस्टम-पस्टम रेलपेल न खड़ी कर दें जो भविष्य में हमारी सभी योजनाओं के लिये घातक साबित हो। भाषा भी हमारे भावी महालक्ष्य की पूर्ति का साधन है। हमें ऐसी भाषा बनानी है जिसके द्वारा हम अधिक से अधिक व्यक्तियों को शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक क्षुधा निवृत्ति का संदेश दे सकें। हम मानें या न मानें दुनिया बुरी तरह से छोटी होती जा रही है। आँख मूंद लेने से अंधेरा नहीं हो जाता। आपको अगर इस बुरी तरह धन-जन-बहुल होनेवाली पृथ्वी में मनुष्य के साथ संबंध बनाए रखना है तो ऐसी भाषा सीखनी पड़ेगी जो अधिक से अधिक लोग समझते हों नहीं तो आप विज्ञान और दर्शन के नवीन शोधों को जान भी न सकेंगे और नए आविष्कारों और नए दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर बनी हुई व्यवस्था आपकी गर्दन पर सवार हो जायगी। प्रयत्न आपको करना ही पड़ेगा। प्रयत्न मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है।

एक तरह के लोग हैं जो इस प्रकार का तर्क भी उपस्थित करते हैं कि यदि हमें मिहनत करके ही भाषा सीखनी है तो अंग्रेज़ी ही क्यों न सीखें। अंग्रेजी सीखकर आदमी एक अत्यन्त समृद्ध भाषा को जान जाता है और उसे बहुत बड़े ज्ञान-भाण्डार की कुंजी मिल जाती है। यह बात हल्की नहीं है। जिस दिन हिंदी बहुत समृद्धिशाली हो गई रहेगी उस दिन भी अपने देशवासियों को अंग्रेज़ी भाषा सीखनी पड़ेगी। परन्तु यह निश्चित है कि देश के देश को प्रयत्न करा के अंग्रेजी का जानकार बना सकना असंभव है। कुछ थोड़े से लोग ही इस भाषा में विशेषज्ञता उपार्जन के लिये छोड़े जा सकते हैं। हम जब कहते हैं कि प्रयत्न करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है तो हमारा मतलब यह होता है कि वही प्रयत्न वस्तुतः प्रयत्न है जिससे मनुष्य को सुख शान्ति की प्राप्ति हो। इस देश में शताधिक भाषाओं के प्रचलन से हमारे अनेक प्रयत्न विच्छिन्न और अकारथ हो जाएंगे। हमें एक ऐसी भाषा का आश्रय लेना है जो इन बोलियों से समता रखती हो और थोड़े प्रयत्न में बृहत्तर कल्याण-साधन की योग्यता रखती हो। जिस प्रयत्न में परिश्रम अधिक हो और कल्याण की मात्रा कम हो वह वाञ्छनीय नहीं है क्योंकि मनुष्य का कल्याण ही हमारा परम लक्ष्य है। यदि किसी दिन यही सत्य लगे कि अंग्रेजी सीखने से हिंदी सीखने की अपेक्षा कम परिश्रम और ज्यादा कल्याण है तो निःसंकोच हमें अंग्रेजी को ही अपना लेना चाहिए। परन्तु यह बात कभी भी साबित नहीं होगी। कितना बड़ा भी तार्किक यह साबित नहीं कर सकता कि माता के दूध से बढ़कर कल्याणकारक वस्तु जगत् में दूसरी भी है। जिसे

हम अब तक केन्द्रीय भाषा कहते आए हैं उसे भी वस्तुतः ऐसा हो जाना पड़ेगा कि दूर विक्षिप्त बोलियों के बोलनेवाले उसे अपनी भाषा समझ सकें। वस्तुत ऐसा स्वयमेव हो गया है। कलकत्ते के बाजार में हिंदी एक तरह की बन गई है, पटने के दफ्तरों में दूसरे तरह की हो गई है और राजपूताने में भी उसने निश्चय ही अपना रूप बदला होगा। मनुष्य समस्त इतिहास पुराणों और व्याकरण न्यायों से बड़ा और शक्तिशाली है। वह अपना रास्ता स्वयं बना लेता है। दिल्ली और मेरठ की बोली का ढांचा साहित्य में भी बदला है और प्रदेशों में तो बदला ही है। संक्षेप में हम ऊपर के वक्तव्य को इस प्रकार रख सकते हैं: (१) शिशुओं और अनपढ़ प्रौढ़ों की शिक्षा का माध्यम स्थानीय बोलियां होनी चाहिए पर इस बात का सदा प्रयत्न होना चाहिए कि वे लोग यथाशीघ्र केन्द्रीय भाषा सीख जांय (२) उच्चतर शिक्षा और साहित्य का माध्यम केन्द्रीय भाषा को ही होना चाहिए और इस बात का सदा प्रयत्न होना चाहिए कि केन्द्रीय भाषा बोलियों से दूर न पड़ने पावे। इन पंक्तियों के लेखक का विश्वास है कि ऐसा होने से मनुष्य का कल्याण होगा।

(३)

लेकिन कठिनाई अभी रह जाती है। यह समझना भूल है कि लोगों को पढ़ना लिखना सिखा देने मात्र से मनुष्य का कल्याण हो जायगा। असली बात यह है कि उन्हें क्या पढ़ाया जायगा। उनको वस्तुओं के याथार्थ्य को समझाने के लिये कौन-सी दृष्टि देनी होगी। जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, मनुष्य अपने प्रयत्नों के फल से ही इस अवस्था तक आया है। उसके शरीर मन और बुद्धि नाना प्रकार के प्रयत्नों की सफलता के भीतर से विकसित हुई हैं। एक देश के रहने वाले दूसरे देश के रहनेवालों से इसीलिये भिन्न हो जाते हैं। यही भेदक वस्तु उस जाति का इतिहास है। भिन्न भिन्न परिस्थितियों में से गुजर कर बड़ा होने के कारण जातियों की मानसिक और बौद्धिक संवेदनशीलता भी अलग अलग हो जाती है। जिस प्रकार मनुष्य के बाह्य सौविध्यों को दृष्टि में रखकर भारतवर्ष के लिये एक प्रकार के घर आवश्यक हैं और केमस्कट-का के लिये दूसरे प्रकार के, हालैण्ड के लिये एक प्रकार के पोशाक आवश्यक हैं और फिज़ी के लिये दूसरे प्रकार के, उसी प्रकार भिन्न भिन्न देशों की मानसिक सुख-शान्ति के लिये भी अलग अलग प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए। इस व्यवस्था के लिये बहुत कुछ जानने की आवश्यकता है। किसी देश का धर्म, आचार-परंपरा, वंश-वैशिष्ट्य, वर्ग-मनोविज्ञान, आदि आवश्यक हैं। भारतवर्ष में राम और सीता का नाम मात्र ही आदर्श के उद्बोधन के लिये पर्याप्त है, पर अन्य देशों में ये नाम नाम मात्र ही हैं। परन्तु इन सब भेदों के होते हुए भी ऊपरी सतह के नीचे मनुष्य सर्वत्र एक है। मनुष्य की सुख शान्ति की स्थायिता के लिये हमें जहां मनुष्य के ऊपरी भेद विभेदों और ऐतिहासिक विकासों को ध्यान में रखना आवश्यक है उसी प्रकार और शायद उससे भी अधिक यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि मनुष्य सर्वत्र एक है। अपने देश की भाषा और साहित्य-विषयक नीति स्थिर करते समय हमें अपने देश के विशाल इतिहास को याद रखना होगा। नाना कारणों से इस देश में और बाहर यह बारबार विज्ञापित किया जाता है कि इस महादेश में सैकड़ों भाषाएं प्रचलित हैं और इसीलिए इसमें अखण्डता या एकता की कल्पना नहीं की जा सकती। मैंने विदेशी भाषाओं के जानकारों और विदेश के नाना देशों में भ्रमण कर चुकनेवाले कई विद्वानों से सुना है कि तथाकथित एक राष्ट्र व स्वाधीन देशों में भी दर्जनों भाषाएं हैं और भारतवर्ष की भाषा-समस्या उनकी तुलना में नगण्य है। परन्तु अन्य देशों में यह अवस्था हो या नहीं, इससे हमारी समस्या का समाधान नहीं हो जाता। दूसरों की आंख में खराबी सिद्ध कर देने से हमारी आंख में दृष्टि-शक्ति नहीं आ जायगी। भाषागत विभेद इस देशमें सचमुच ही है पर हमारे इस देश ने हजारों वर्ष पहले से भाषा की समस्या हल कर ली थी। हिमालय से सेतुबन्ध तक, सारे भारतवर्ष के धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्ष पहले तक एक ही रही है। यह भाषा संस्कृत थी। भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ उत्तम है, जो कुछ रक्षणीय है वह इस भाषा के भाण्डार में संचित किया गया है। जितनी दूर तक इतिहास हमें ठेलकर पीछे

ले जा सकता है उतनी दूर तक इस भाषा के सिवा हमारा और कोई सहारा नहीं है। इस भाषा में साहित्य की रचना कम से कम छः हज़ार वर्षों से निरन्तर होती आ रही है। इसके लक्षाधिक ग्रन्थों के पठन-पाठन और चिन्तन में भारतवर्ष के हजारों पुश्त तक के करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन रात लगे रहे हैं और आज भी लगे हुए हैं। मैं नहीं जानता कि संसार के किसी देश में इतने काल तक, इतनी दूरी तक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्कों में विचरण करनेवाली कोई भाषा है या नहीं। शायद नहीं है।

संस्कृत के विषय में इधर कुछ ग़लत ढंग की बातें कही जाने लगी हैं। नामी विद्वानों तक ने बिना संकोच के इन बातों को दुहराना शुरू किया है। अभी हाल ही में मैं डाक्टर ताराचंद-जैसे प्रामाणिक विद्वान् के लेख में यह पढ़कर आश्चर्य-चकित रह गया कि "आज संस्कृत का सम्मान इसलिये है कि वह हिंदू सम्प्रदाय में देवबानी समझी जाती है। इस भाषा में इस खास सम्प्रदाय की पूज्य पुस्तकें हैं।" सत्य का इससे बढ़कर अपप्रयोग नहीं हो सकता। संस्कृत का आज इसलिये सम्मान नहीं है कि वह किसी खास धर्म-संप्रदाय की देवबानी है। संस्कृत वह भाषा है जिसमें भारतवर्ष की साधना का सर्वोत्तम—उसका धर्म और दर्शन, ज्योतिष और चिकित्सा, अध्यात्म और विज्ञान, राजनीति और व्यवहार, व्याकरण और शिक्षाशास्त्र, तर्क और भक्ति—प्रकट हुई है। इस भाषा के दर्शन और अध्यात्म ग्रन्थों ने सारे संसार को प्रभावित किया है, ज्योतिष और चिकित्सा ने ईरान और अरब के माध्यम से समूचे सभ्य जगत् को आलोक दिया है, कथा और आख्यायिकाओं ने आधुनिक जगत् को आन्दोलित किया है। विंटरनित्स ने लिखा है कि 'लिटरेचर (साहित्य) शब्द अपने व्यापक अर्थ में जो कुछ भी सूचित कर सकता है वह सब संस्कृत में वर्तमान है। धार्मिक और ऐहिकता-परक (सेक्यूलर) रचनाएं, महाकाव्य, लिरिक, नाटक, नीतिविषयक कविताएं, वर्णनात्मक अलंकृत और वैज्ञानिक गद्य सब कुछ इसमें भरा पड़ा है।' क्या सचमुच कालिदास की शकुन्तला और अश्वघोष के बुद्धचरित का सम्मान इसलिये है कि वह एक खास सम्प्रदाय की धर्मभाषा में लिखे गए हैं? क्या डायसन ने जब प्लेटो और कान्ट के साथ संसार के महामति दार्शनिकों में शंकर का नाम लिया था तो यही सोचकर कि शंकर ने एक 'खास सम्प्रदाय' की देवबानी में अपनी पोथी लिखी है? ब्रह्मगुप्त और आर्यभट के ज्योतिष ग्रंथों का अरबों ने इसलिये अरबी में अनुवाद किया था कि ये ग्रंथ किसी संप्रदाय की धर्मभाषा में लिखे गए थे? नहीं, संस्कृत का आज इस देश में इसलिये सम्मान नहीं है कि वह एक खास संप्रदाय की देवबानी है। यह बात ग़लत है। यह जल्दी में निर्णय करके कही हुई बात है। संस्कृत भारतीय मस्तिष्क के सर्वोत्तम को प्रकाशित करनेवाली अतुलनीय भाषा है। भारतवर्ष जब कभी गर्व से सिर ऊपर उठायगा तो वह इसलिये कि उसके पूर्वजों ने अपूर्व ज्ञान का भाण्डार इस भाषा में रख छोड़ा है। दुनिया की दूसरी कोई भी प्राचीन भाषा इतनी समृद्ध नहीं है। इस भाषा को ठीक ठीक समझे बिना और उसका आश्रय लिए बिना भारतवर्ष की आत्मा तृप्त नहीं हो सकती। संस्कृत के लिये प्रेम का होना साम्प्रदायिकता का लक्षण नहीं है। इस देश के अधिकांश मुसलमानों और ईसाईयों के पूर्वज भी संस्कृत के ज्ञानभाण्डार के संग्राहक रहे हैं। आज किसी कारणवश मुसलमान या ईसाई यदि इस सत्य को स्वीकार नहीं करते तो हमें क्षुब्ध होने की ज़रूरत नहीं। समय आएगा जब वे सचाई को मानेंगे और विशाल और महान् संस्कृत साहित्य के लिये उसी प्रकार गर्व अनुभव करेंगे जिस प्रकार इन पंक्तियों का लेखक कर रहा है। हमारी भाषा पर हमारे विचारों पर और हमारे साहित्य पर संस्कृत के उत्कृष्ट साहित्य का प्रभाव पड़ना कोई लज्जा की बात नहीं है, नहीं पड़ना ज़रूर लज्जा की बात है। देश का एक खीझा जनसमूह यदि उचित बात से नाराज़ होता है तो हमें धैर्य से काम लेना होगा। यह हो नहीं सकता कि जिस भाषा के साहित्य दर्शन और अध्यात्म से सातसमुद्र पार के लोग प्रभावित हो रहे हैं उसके प्रति अपने देश का ही एक बड़ा समुदाय उदासीन रहे। आज नहीं तो कल वे इस बात की सचाई स्वीकार करेंगे ही। तब तक हमें अपनी बात के औचित्य को सचाई के साथ सिद्ध करते रहना होगा।

पर संस्कृत साहित्य ही हमारे पूर्वजों का एकमात्र संचित ज्ञान-भाण्डार नहीं है। यद्यपि यह बहुत गौरवपूर्ण

है और अन्यान्य भाण्डारों की तुलना में बहुत विशाल है। सन् १८४० में एलफिंस्टन नामक यूरोपियन पंडित ने हिसाब लगाकर देखा था कि संस्कृत साहित्य में जितने ग्रंथ विद्यमान हैं उनकी संख्या ग्रीक और लैटिन में लिखे ग्रंथों की सम्मिलित संख्या से कहीं अधिक है। मगर उस समय तक संस्कृत के बहुत कम ग्रंथ पाए गए थे। इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है १८३० में फ्रेडरिख जैसे साहित्यान्वेषी को केवल साढ़े तीन सौ संस्कृत ग्रंथों का पता था और बाद में सन् १८५२ में वेबर ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में जिन ग्रंथों की चर्चा की उनकी संख्या ५०० के आसपास थी। बाद में वेबर की सगृहीत पुस्तकों की संख्या १६०० हो गई थी और सन् १९१६ में म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने ४० हज़ार ग्रंथों की चर्चा की। इनकी संख्या अब आधे लाख से कहीं अधिक हो गई है और फिर भी आज तिब्बत और नेपाल से तो कल केरल या मालाबार से नई नई पुस्तकें प्राप्त होती ही रहती हैं। इस विराट साहित्य के अतिरिक्त पाली, प्राकृत अपभ्रंश, फ़ारसी, आधुनिक भाषाओं और अंग्रेजी के ग्रंथ हैं जिनकी संख्या जितनी ही विशाल है उतनी ही सामग्री भी ठोस है। यह सब ग्रंथ इस देश के निवासियों की मनःस्थिति और बौद्धिक विकास के निदर्शक हैं। इन सबमें भारतीय मनीषा ने अपने को नाना भाव से अभिव्यक्त किया है। हमारी भाषा पर हमारे साहित्य पर और हमारी विचार-पद्धति पर निश्चय ही इस समूचे वाङ्मय का प्रभाव पड़ेगा। यह भी परम स्वाभाविक है कि जो समुदाय जिस विशेष शाखा के अध्ययन में अधिक आसक्त रहेगा उसकी भाषा पर और भावों पर उस विशेष शाखा का ज्यादा प्रभाव पड़ेगा। जो समुदाय संस्कृत की अधिक चर्चा करेगा उसपर संस्कृत का प्रभाव पड़ेगा, जो पालि-प्राकृत की चर्चा करेगा उसपर उनका असर होगा; जो फारसी के साहित्य का अध्ययन करेगा उसपर फारसी का असर पड़ेगा और जो अंग्रेजी का अध्ययन करेगा उसपर अंग्रेजी की छाप रहेगी। यह स्वाभाविक है। इससे चिन्तित होने की बात नहीं है। चिन्तित होने की बात तब उपस्थित होगी, जब प्रभाव इतना अधिक पड़ने लगे कि वे एक दूसरे की बोली ही न समझ सकें।

(४)

यह विचारणीय विषय है कि किस बात को दृष्टि में रखने से भाषा पर पड़ा हुआ असर इतना अधिक नहीं होगा कि एक ही भाषा बोलनेवाले एक दूसरे की बोली ही न समझें। यद्यपि अनुभव से यह सिद्ध है कि ऐसे मामलों में कोई ठंडे दिल से विचार नहीं करता और कोई किसीकी सलाह मानने को तैयार नहीं होता। अगर युक्ति और तर्क से यह सिद्ध भी हो जाय कि हिंदुस्तान का कोई जनसमुदाय अपनी भाषा पर विदेशी भाषा का प्रभाव न आने दे या यदि आने भी दे तो केवल भावों में, भाषा में नहीं; तो भी कोई सुनेगा नहीं। फिर भी यह बात विचारणीय अवश्य है क्योंकि इससे हम मनुष्य को उसके सच्चे रूप में पहचान सकेंगे। भाषा मनुष्य का सबसे बड़ा आकर्षण नहीं है, उससे बड़ा भी कोई आकर्षण है जिसके कारण मनुष्य भाषा को छोड़ देता है। देखा जाय वह कारण क्या हो सकता है?

एक ज़माना था जब भाषाविज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र की घनिष्ठ मैत्री में विश्वास किया जाता था। माना जाता था कि भाषा से नस्ल की पहचान होती है। परन्तु शीघ्र ही भ्रम टूट गया। देखा गया कि ये दोनों शास्त्र एक दूसरे के विरुद्ध गवाही देते हैं। भारतवर्ष भाषाविज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र के कलह का सबसे बड़ा अखाड़ा साबित हुआ है। वर्तमान हिन्दू समाज में एक-दो नहीं, बल्कि दर्जनों ऐसी जातियां हैं जो अपनी मूल भाषाएं भूल चुकी हैं और आर्यभाषा बोलती हैं। आर्य होने की प्रवृत्ति इतनी तीव्र है कि कई जातियों ने अपनी बहुमूल्य परंपराओं को नष्ट कर दिया है और कई अब भी कर रही हैं। कुछ जातियों की मूलभाषाओं का पता कठिनाई से लगता है। कुछ ऐसी हैं जिनमें परिवर्तन एक बार ही नहीं कई बार हुआ है। नाना भांति की खानाबदोश जातियों की वर्तमान भाषा आर्य जाति की ही हैं परन्तु सर्वत्र यह अनुमान पुष्ट हुआ है कि मूलतः उनकी भाषा द्रविड़श्रेणी की थी। मध्यप्रदेश की नहाल जाति की मूल भाषा मुण्डा श्रेणी की थी। कुछ दिन पूर्व तक वह द्रविड़ श्रेणी की भाषाओं के प्रभाव में रही क्योंकि द्रविड़ भाषा (तेलगु) बोलने

वाली उच्चतर जातियों से नहाल जाति प्रभावित रही, परन्तु आजकल वह तेज़ी से आर्य भाषा होने की ओर बढ़ रही है। आसाम की कई जातियों ने सौ वर्ष पहले गौड़ीय वैष्णव धर्म को अपनाया। उनकी भाषा तेज़ी से बदली है और अब तो उनका संबंध सीधे वेदों से कायम किया जाने लगा है! ब्राह्मण-प्रधान धर्म ने जातियों का कुछ इस प्रकार स्तरविभाग स्वीकार किया है कि निचलीश्रेणी की जाति हमेशा अवसर पाने पर ऊंचे स्तर में जाने का प्रयत्न करती है। इस देश में न जाने किस अनादिकाल से संस्कृत भाषा का प्राधान्य स्वीकार कर लिया गया है कि प्रत्येक नस्ल और फ़िर्के के लोग अपनी भाषा को संस्कृत-श्रेणी की भाषा से बदलते रहे हैं। ग्रियर्सन ने अपने विशाल सर्वे में एक भी ऐसा मामला नहीं देखा यहां आर्यभाषा (संस्कृत-श्रेणी की भाषा) बोलनेवाले किसी जन समुदाय ने अन्य भाषा से अपनी भाषा बदली हो। जहां तक कि आर्यभाषा की एक बोली को बोलनेवालों ने भी दूसरी बोली को स्वीकार नहीं किया है। सर्वे करने वालों को ऐसे भूभाग बराबर मिलते रहे हैं जहां दो बड़ी भाषाओं की सीमाएं मिलती हैं और दो बोलियों के बोलने वाले लोग एकही गांव में बसे मिले हैं पर उन्होंने अपनी बोली नहीं बदली है। माल्दा जिले (बंगाल) के एक गांव में तीन बोलियों के बोलने वाले थे परन्तु तीनों ही अपनी अपनी अलग बोली बोलते थे। आपसी व्यवहार के लिये इन लोगों ने एक सामान्य भाषा जरूर बना ली थी। यहां यह कह देना आवश्यक है कि इस मामले का केवल एक ही अपवाद ग्रियर्सन को मिला है। इस्लाम ने उर्दू को दूर दूर तक पहुँचाया है। बंगाल और उड़ीसा में भी ऐसे मुसलमान मिले हैं जो अपने प्रदेश की भाषा के बदले उर्दू (यद्यपि ग़लत ढंग की !) बोलते हैं ('लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इण्डिया', जि० १ भाग १, पृ० २९-३०)। सो मज़हब वह सबसे बड़ा हेतु है जो भाषा को बदलवा देता है।

भारतवर्ष में भाषा संबंधी प्रश्न पर विचार करते समय इन विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा। यहां इतिहास और भाषा-विज्ञान या नृतत्त्वशास्त्र की दुहाई देकर आप भाषा में परिवर्तन या सुधार की सलाह नहीं दे सकते। आप एक आसामी कोच को उसके विशुद्ध क्षत्रियत्व के दावे से नहीं हटा सकते चाहे भाषाशास्त्र और नृतत्त्वशास्त्र आपका जितना भी साहाय्य करें। इसी प्रकार आप एक मुसल्मान को अरबी-फ़ारसी के व्यवहार से नहीं रोक सकते, चाहे उसकी वंशावली दिखाकर आप यही क्यों न सिद्ध कर दें कि वह गायत्री मंत्र के द्रष्टा विश्वामित्र का ही गोत्रज है। मैंने इसी बार 'लोकयुद्ध' में पढ़ा है कि महात्मा गांधी ने जो मि० जिन्ना को यह लिख दिया कि अधिकांश मुसलमानों के पूर्वज हिंदू थे इस कथन से सभी उर्दू पत्र नाराज़ हुए हैं। यह तथ्य है। इसे हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भारतवर्ष में धर्म का आकर्षण सबसे जबर्दस्त है और जातिव्यवस्था ने इस देश में एक ऐसी हीनता भर दी है कि अधिकांश जनसमुदाय अपने प्राचीन संस्कारों और परम्पराओं को धो डालने में बिल्कुल नहीं हिचकते। हिंदू भी नहीं, मुसलमान भी नहीं।

यह स्पष्ट है कि किसी जाति की भाषा पर जब दूसरी भाषा का प्रभाव पड़ता है तो इसका सबसे बड़ा कारण जातिगत और धर्मगत हीनता का भाव होता है। अपनेको हीन समझने वाला जनसमुदाय उच्चतर समझी जाने वाली जाति की भाषा को स्वीकार कर लेता है। यह परिवर्तन शुरू शुरू में शब्द-भाण्डार में होता है और क्रमशः भाषा का सारा ढांचा ही बदल जाता है।

(५)

अंग्रेजों के आगमन के साथ नवशिक्षित हिंदुओं में इसी प्रकार अंग्रेजी का चलन शुरू हुआ था। बाप-बेटे तक पत्रव्यवहार अंग्रेजी में होता था परन्तु देशी और विदेशी पंडितों के प्रयत्न से जब भारतीय ज्ञान भाण्डार उद्घाटित हुआ, हजारों वर्ष पुरानी समृद्धिशाली सभ्यता का परिचय हुआ तो अवस्था फिरने लगी। आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज के जबर्दस्त आन्दोलनों ने हीनताग्रंथि को उखाड़ फेंकने का व्रत लिया और देखते देखते संस्कृत के साहित्य और दर्शन, कला और विज्ञान, ज्योतिष और चिकित्सा का प्रभाव बढ़ने लगा। भारतवर्ष में आत्मचेतना का यह जो उदय हुआ उसीने संस्कृतमयी भाषा का

प्रचलन किया संयोगवश वह आन्दोलन धार्मिक ढंग से चलाया गया और इस देश के मुसलमान उसे बराबर संदेह की दृष्टि से देखते रहे। जैसा कि पहले ही कहा गया है किसी अज्ञात काल से ही संस्कृत का प्राधान्य स्थापित हुआ है। उसे दोष कहिए या गुण, भारतीय जनता की अनादिकाल से चली आती हुई मनोवृत्ति के अनुकूल होने के कारण ही संस्कृत-बहुल भाषा इतनी तेजी से बढ़ गई। इस बात को केवल ऊपर ऊपर से देखने से बराबर ग़लत समझे जाने की संभावना है। यह बात सांप्रदायिक संकीर्णता की सूचक नहीं है, यह आत्माभिमान का—या सच कहिए तो आत्म-स्वभाव का निदर्शक है। यह प्रश्न इतिहास और भाषाशास्त्र की गवाहियों से सुलझने वाला नहीं है। हिंदुओं में जो संस्कृत के प्रति गहरी श्रद्धा है वह स्वाभाविक भी है और संस्कृत के महान् साहित्य को देखते हुए उचित भी है। भाषाशास्त्रीय सर्वे से एक दूसरी बात भी अत्यन्त स्पष्ट हुई है—अपनी अपनी बोली के प्रति अत्यधिक प्रेम भी इस देश के लोगों का सनातन स्वभाव है। बोलियों का जो आन्दोलन उठा है वह कोई नवीन आन्दोलन नहीं है। संस्कृत के प्रति श्रद्धा-भाव और अपनी अपनी बोलियों के प्रति अनुराग, दो बातें बहुत पुरानी हैं। इसीलिये मैंने ऊपर कहा है कि केंद्रीयभाषा को इन बोलियों के नज़दीक आना चाहिए। मेरे कहने का मतलब यह है कि केंद्रीय भाषा में दूर दूरकी बोलियों के काव्य, गान मुहावरे, रीति-रस्म आदि का पर्याप्त अध्ययन होना चाहिए। जब तक प्रत्येक बोली का बोलने वाला जनसमुदाय यह अनुभव नहीं करेगा कि केंद्रीय भाषा उसकी बोली का पर्याप्त सम्मान करती है और उसकी अच्छी बातों से अपने को सम्पन्न करती है तब तक केंद्रीय भाषा के प्रति वास्तविक प्रेम जाग्रत नहीं होगा। और जब तक वास्तविक और भीतरी प्रेम जाग्रत नहीं होता तब तक मनुष्य उसके संपूर्ण लाभ से वंचित रहेगा। लेकिन बोलियों के अध्ययन को प्रोत्साहित करने के प्रश्न में जो अनेक हेतु हैं उनमें से यह एक है। और भी कई कारण हैं, आगे हम उनकी चर्चा कर रहे हैं। यहां इतना स्मरण करा दूं कि ऊपर मैंने जो भाषा पर प्रभाव पड़ने का जातिगत और धर्मगत हीन भावना को कारण बताया है वह सबसे बड़ा कारण है, एकमात्र कारण नहीं। दो जातियां एक दूसरे को समझने के लिये भी बहुत-से शब्द स्वीकार करती हैं, परन्तु इस अवस्था में भाषा, परभाषा के शब्दों के भार से बोझिल नहीं हो उठती। (अपूर्ण)

अकेला चल*

अनु०—रघुवंशलाल गुप्त

अनसुनी करके तेरी बात, न दे जो कोई तेरा साथ
तो तुही कसकर अपनी कमर अकेला बढ़ चल आगे रे।
अरे ओ पथिक अभागे रे।

अकेला चल, अकेला चल, अकेला ही चल आगे रे॥
देखकर तुझे मिलन की बेर, सभी जो लें अपने मुख फेर
न दो बातें भी कोई करे, सभय हो तेरे आगे रे,
अरे ओ पथिक अभागे रे।

तो अकेला हो तू जी खोल सुरीले मन मुरली के बोल
अकेला गा—अकेला सुन, अरे ओ पथिक अभागे रे
अकेला ही चल आगे रे॥

जायं जो तुझे अकेला छोड़, न देखें मुड़ कर तेरी ओर,
बोझ ले सिर पर जब बढ़ चले गहन पथ में तू आगे रे
अरे ओ पथिक अभागे रे।
तो तुही पथ के कण्टक क्रूर, अकेला कर भय संशय दूर,
पैर के छालों से कर चूर—अरे ओ पथिक अभागे रे,
अकेला ही चल आगे रे।

और सुन तेरी करुण पुकार, अँधेरी पावस निशि में, द्वार
न खोलें ही, न दिखावें दीप, न कोई भी जो जागे रे
अरे ओ पथिक अभागे रे।
तो तुही वज्रानल में हाल जलाकर अपना उर-कंकाल
अकेला जलता रह चिरकाल अरे ओ पथिक अभागे रे
अकेला ही चल आगे रे
अकेला चल, अकेला चल, अकेला ही चल आगे रे।

* रवीन्द्रनाथ के 'एकला चल' गान का भावानुवाद

भैया-दूज

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

सावन का महीना मानो आज रात ही भर में बिल्कुल दिवालिया हो गया है। समूचे आकाश में फटे बादल का एक टुकड़ा भी नज़र नहीं आता।

अचरज तो यह है कि मेरा सबेरा आज यों मज़े में कट रहा है। मेरे बाग़ की मेंहदी की बाड़ी के किनारे शिरीष-वृक्ष के पत्ते सुबह की चमकोली धूप में झिलमिला रहे हैं—मैं उन्हींकी ओर ताकता बैठा हूं। सर्वनाश की जिस मंझधार में आ पहुँचा हूं उसकी दूर ही से कल्पना करके कितनी ही सर्दी की रातों में मेरा सर्वांग पसीने पसीने हो उठा है, गरमो के दिनों में हाथ-पैर ठंडे होकर बरफ़ हो गए हैं। किन्तु आज समस्त चिंता-फ़िकिर से कुछ इस तरह हाथ धोकर छुट्टी पा ली है कि वह जो सीताफल की डाल पर एक गिरगिट स्थिर होकर शिकार की ओर ध्यान लगाए है, उस बिल्कुल ही अपदार्थ वस्तु पर भी मेरी दृष्टि जा अटकी है।

सर्वस्व खोकर राह का भिखारी हो जाऊं, यह उतना कठिन नहीं था, किन्तु हमारे वंश की साधुता की जो ख्याति तीन पीढ़ियों से चली आ रही है, वह मेरे ही जीवन पर गिरकर चकनाचूर होने चले, इसी शर्म से मुझे रात-दिन चैन नहीं था; यहां तक कि बहुत बार आत्मघात तक का भी ख़याल मन में आया था। किन्तु आज जब सारी ओट ढह गई, काग़ज़-पत्रों के गुहा-गह्वर से बदनामी के काले अक्षर कृमि के समान किलबिलाते हुए अदालत से अख़बार तक बिखर गए, तो मेरा एक ज़बर्दस्त बोझा हलका हो गया। पुरखों के सुनाम को खींचते-ढोते फिरने की दुरूह-ज़िम्मेवारी से छुटकारा मिला। सबको मालूम हो गया कि मैं बेईमान हूं। छुट्टी मिली!

वकील लोग तो आपस में खींच-घसीटकर सब भेद खोल ही लेंगे, केवल सबसे अधिक कलंक की बात के अदालत में खुलने की संभावना नहीं है, क्योंकि स्वयं धर्म को छोड़ उसका और कोई फ़रियादी आज बाक़ी नहीं। इसीसे उसे ही प्रकाशित कर देने के लिये आज मैंने क़लम उठाई है।

मेरे पितामह उद्धव दत्त ने अपने मालिक के वंश का मुसीबत के दिनों में अपनी निजी संपत्ति देकर बचाया था। सो तब से हमारी ग़रीबी ने ही औरोंकी अमीरी से कहीं अधिक मस्तक उन्नत किया! मेरे पिता सनातन दत्त डीरोज़ियो के छात्र थे। शराब के संबंध में जैसा अद्भुत उनका नशा था, सत्य के संबंध में ततोधिक। हमारो मां ने किसी दिन नाई-ठाकुरों की प्रचलित कहानी हमें सुना दी तो यह जानकर पिताजी ने सांझ के बाद हमलोगों का घर के भीतर की तरफ़ फटकना ही बिल्कुल बंद कर दिया। बाहर पढ़ने के कमरे में ही मैं सोया करता। वहां दीवार भर को छापते हुए नक़्शे सत्य की घोषणा करते—कहानी के द्वीपान्तर पार के विपुल मैदान की खबर वहां न मिलती। सात-समुद्र तेरह-नदीवाली गाथा भी फांसी के तख़्ते से दीवार पर टांग रखी जाती। सचाई के संबंध में उनकी शुचिबाई प्रबल थी। हमारी जवाबदेहियों का कोई शुमार नहीं था। एक दिन किसी फेरीवाले ने दादा को कोई चीज़ बेंची; उसीके पुड़े की कोई डोरी लेकर मैं खेल कर रहा था। बाबूजी का हुकुम पाकर फेरीवाले को वह डोरी लौटा देने के लिये मुझे रास्ते की ओर दौड़ लगानी पड़ी थी।

हमलोग साधुता के जेलखाने में सचाई के लोहे की बेड़ियां झनझनाते हुए बड़े हुए—आदमी बने। 'आदमी' कहना कुछ अधिक कहना हो जायगा—हमें छोड़ और सभी आदमी थे; हमलोग तो थे केवल आदमियों के लिये एक जीती जागती नज़ीर। हमारा खेलना-कूदना मुश्किल था, मज़ाक बन्द, गल्प नीरस, वाक्य स्वल्प, हंसी संयत और व्यवहार बिल्कुल ही निर्दोष। इससे हमारी बाललीला में जो एक ज़बर्दस्त शून्यता

गढ़ उठी थी, उसे लोगों की प्रशंसा से भर दिया जाता था। हमारे स्कूल के मास्टरों से लेकर दूकान के मोदी तक आस-पास के सभी लोग स्वीकार करते थे कि दत्त-परिवार के लड़के सतयुग से राह भूलकर इस युग में आ पहुँचे हैं!

पत्थरों से बंधे हुए ठोस रास्ते में भी ज़रा-सी संधि पाते ही प्रकृति भीतर से अपनी प्राणशक्ति की हरी जय-पताका ऊंची-किया करती है। मेरे नवीन जीवन की सभी तिथियां एकादशी हो गई थीं, किन्तु उन्हींके भीतर उपवास की जाने-किस संधि से मैंने तनिक-सी सुधा का भी स्वाद पाया था।

जिन कुछेक घरों में हमारे आने-जाने की रोक-टोक नहीं थी, उन्हींमें से एक थे अखिलबाबू। वे ब्राह्म-समाज के आदमी थे, बाबूजी का उनपर विश्वास था। उनकी लड़की अनसूया मुझसे छः बरस छोटी थी। मैंने उसके शासनकर्त्ता की जगह अनायास ही अख्तियार कर ली थी।

उसके शिशुमुख की गाढ़ी काली आंखों के पलक मुझे याद आते हैं। उन पलकों की छाया में पृथ्वी के प्रकाश की सारी प्रखरता मानो उसकी आंखों के भीतर कोमल होकर आ बैठी थी। कैसे स्निग्ध भाव से वह मुंह की ओर ताका करती थी! पीठ पर उसकी वही बेनी भूला करती, वह भी मुझे याद आती है, और याद आते हैं उसके वही दोनों हाथ; मालूम नहीं क्यों उनमें एक बड़ी करुणा-सी थी। मानों राह चलते-चलते वह और किसी का हाथ थामना चाहती हो, उसकी वे बारी अंगुलियां जैसे संपूर्ण विश्वास के साथ किसीके हाथों की मुट्ठी में पकड़ाई दे जाने के लिये ही बाट जोह रही हों!

उस दिन ठीक इसी रूप में उसे देखा था ऐसा कहना तो ज्यादती होगी। किन्तु हमलोग पूरी तरह समझ लेने के पूर्व भी तो बहुत-कुछ समझ लिया करते हैं! हमारे अगोचर चित्त में बहुत-से चित्रों का अंकन हो जाया करता है—सहसा किसी दिन किसी एक तरफ़ से रोशनी पड़ते ही वे साफ़ दिखाई देने लगते हैं।

अनू के मन के दरवाज़े कोई कड़ा पहरा न था। वह चाहे जिस-तिस में विश्वास किया करती। पहले ही अपनी बूढ़ी दासी के निकट उसने विश्वतत्त्व के संबंध में जो सब शिक्षा प्राप्त की थी वह मेरे नक़शा-खचित पढ़ने के कमरे के ज्ञानभाण्डार के कूड़ा करकट में भी जगह पाने योग्य नहीं थी। फिर वह अपनी कल्पना के संयोग से जाने कितने-कुछ की सृष्टि किया करती, उसका भी कोई ठिकाना नहीं! इस जगह मुझे उसपर बराबर शासन-ही-शासन करना पड़ता। केवल कहते ही रहना पड़ता: अनू, यह सब झूठ बातें हैं, जानती हो! इनसे पाप लगता है!—सुनकर अनू की दोनों आंखों की श्यामल-पलक छाया पर जैसे भय की और भी एक छाया आ पड़ती। वह जब अपनी छोटी-सी बहन की रुलाई बन्द करने के लिये जाने क्या-क्या बेकार बातें कहने लगती, उसे भुलाकर दूध पिलाने के लिये जहां पंछी नहीं, वहीं पंछी होने का भान करके ऊंचे सुर से झूठमूठ की खबरें देने लगती, तब मैं उसी समय विषम गंभीर होकर उसे सावधान किया करता, कहता: उसे तुम जो झूठ-मूठ की बातें कह रही हो, सो परमेश्वर सब सुन रहे हैं; अभी इसी समय तुम्हें उनसे क्षमा मांगनी चाहिए!

इसी प्रकार मैंने उसपर जितना ही शासन किया, उसने इतना ही मेरे शासन को स्वीकार कर लिया। वह अपनेको जितना ही अधिक अपराधी समझती,—मैं उतना ही खुश होता। कड़े शासन के द्वारा मनुष्य का भला कर पाने का सुयोग मिलने पर हमें स्वयं जो अनेक शासित होकर भला बनना पड़ता है, सो उसकी जैसे एक क़ीमत वसूल हो जाती है। अनू भी मुझे अपने और पृथिवी के अधिकांश व्यक्तियों की तुलना में आश्चर्यजनक रूप से भला माना करती थी।

धीरे-धीरे उम्र बढ़ चली, स्कूल से कालिज में दाखिल हुआ। अखिलबाबू की स्त्री की भीतर ही भीतर साध थी कि मुझ-जैसे अच्छे लड़के के साथ अनू का ब्याह कर दें। मुझे भी विश्वास था कि किसी कन्या के पिता की आंखों को बरका सकनेवाला लड़का मैं नहीं हूं। लेकिन एक दिन सुनने में आया कि बी० एल०

पास किसी ताजे मुंसिफ़ के बेटे से अनू का संबंध पक्का हो गया है। हम ग़रीब थे सही, किंतु मैं तो समझता था कि ठीक इसी कारण हमारा दाम ज्यादा उतरता है। लेकिन लड़कियों के पिता के हिसाब-किताब का तरीक़ा न्यारा होता है।

विसर्जन की प्रतिमा डूब गई। वह एकबारगी ही जीवन की जाने-किस ओट में जा पड़ी। बचपन से ही जो मेरा सबसे अधिक अपना था, वही एक ही दिन के भीतर हज़ारों-लाखों अपरिचित आदमियों के समुद्र में विलीन हो गया। उस दिन जी को कैसा लगा था, जी ही जानता है। किन्तु क्या विसर्जन के बाद भी मैं पहचान सका था कि वह मेरी देवी की प्रतिमा थी? नहीं; उस दिन तो मेरा अभिमान ही आहत होकर जैसे और भी लहरियां तरंगित कर उठा था। अनू को तो सदा ही छोटी समझता आया था; उस दिन अपनी योग्यता की तुलना में उसे और भी छोटो माना। मेरी श्रेष्ठता की पूजा जो नहीं हुई, उपेक्षा हुई, इसी बात को मैंने उस रोज़ दुनिया में सबसे अधिक अकल्याणकर समझा।

ख़ैर, इतना तो समझ में आगया कि संसार में कोरे सच्चे बने रहने ही से कोई फ़ायदा नहीं। संकल्प किया कि भविष्य में इतना पैसा पैदा करूंगा कि एक दिन आखिर अखिलबाबू भी याद करके कहेंगे : सचमुच ही बड़ा धोखा हुआ!—खूब ज़ोर-शोर से एकदम काम का आदमी बन जाने का उपक्रम कर दिया। काम के आदमो होने का सबसे बड़ा सरंजाम अपने ऊपर अगाध विश्वास है, सो इस तरफ़ से मुझमें कभी कोई कमी नहीं रही। यह चीज़ संक्रामक होती है; जो स्वयं अपने पर विश्वास करता है, अधिकांश आदमी उसीपर विश्वास किया करते हैं। काम-काजी मस्तिष्क मुझमें स्वाभाविक और असाधारण है, यह बात सभी लोग स्वीकार करने लगे।

कामकाजी साहित्य और काग़ज़-पत्रों से मेरे शेल्फ़ और मेज़ भरने लगे। मकानों की मरम्मत, बिजली की रोशनी और-पंखों का कौशल, चीज़ों के भाव, बाज़ार-दर के चढ़ने-उतरने का गूढ़ तत्त्व, एक्स्चेञ्ज का रहस्य, प्लैन, एस्टिमेट आदि-आदि विद्याओं की महफ़िल जमा देने योग्य उस्तादी मैंने एक तरह से पूरी-पूरी अख्तियार कर ली थी। लेकिन हर वक्त काम की बात करके भी काम के मैदान में उतरता नहीं, इसी अवस्था में मेरे बहुत दिन बीत गए। मेरे भक्तवृन्द जब भी मुझसे किसी स्वदेशी कंपनी में शामिल होने का प्रस्ताव करते, मैं उन्हें समझा दिया करता कि आज जितने कारबार चल रहे हैं उनमें से किसी की भी कार्यवाही विशुद्ध नहीं है, सभी में ढेर गोलमाल है, और इसके सिवा ईमानदारी की रक्षा करके चलनेवाले को उन सबके पास तक भी फटकने की गुञ्जाइश नहीं। मेरे किसी मित्र के यह कहने पर कि ईमानदारी की बाग थोड़ी बहुत ढीली किए बिना रोज़गार चल ही नहीं सकता, उससे मेरा विच्छेद हो गया।

मौत के दिन तक सर्वांग-सुन्दर प्लैन, एस्टिमेट और प्रास्पेक्टस लिखकर मैं अपना यश अक्षुण्ण रख सकता था। लेकिन विधि-विपाक से प्लैन करना छोड़कर काम करना शुरू कर दिया। एक तो पिता के देहान्त के बाद मेरे ही कंधों पर दुनियादारी का सारा बोझ आ पड़ा, दूसरे, रोग के साथ उपद्रव की तरह और भी एक झंझट आजुटी। उसीका क़िस्सा सुनाता हूं।

मेरे साथ प्रसन्न नाम का एक लड़का पढ़ता था। वह जैसा ही बातूनी था, वैसा ही निन्दाशील। हम लोगों की पैतृक साधुता की ख्याति को लेकर उसे खोंचा देने का ख़ासा सुयोग मिला। बाबूजी मेरा नाम रख गए थे—सत्यधन। हमारी ग़रीबी और दारिद्रय को लक्ष्य करके प्रसन्न कहा करता : पिता धन देने के समय तो दे गए मिथ्याधन और नाम के समय दे गए सत्यधन। सो उसकी जगह अगर धन को सत्य ही देकर नाम को चाहे मिथ्या ही दे जाते कोई नुक़सान न होता।—इस प्रसन्न की जीभ से मैं बहुत डरता था।

बहुत दिन उसे नहीं देखा। इस बीच बर्मा, लुधियाना, श्रीरङ्गपत्तन आदि स्थानों में वह हर तरह-बेतरह के कामों में जुटा रहा। फिर एक दिन अचानक कलकत्ते आकर उसने मुझे पकड़ा। जिसके परिहास से सदा डरता आया था, उसकी श्रद्धा पाना क्या कम आराम की बात थी!

प्रसन्न बोला : भई, मैं इतनी बात कहे रखता हूं, तुम देख लेना, एक दिन अगर तुम द्वितीय मोती शील या दुर्गाचरण ला' न बन बैठो तो मैं बौबाज़ार के मोड़ से बागबाज़ार के मोड़ तक सरे-आम बराबर दांतों-तले तिनका दबाकर निकलने के लिये राज़ी हूं।

प्रसन्न के मुंह से यह बात कितनी बड़ी बात है, इसे जिन्होंने प्रसन्न के साथ एक दर्जे में नहीं पढ़ा, वे समझ ही न पाएंगे। इसके अतिरिक्त इस दुनिया की प्रसन्न ने खूब अच्छी तरह ही नस पहचानी है; उसकी बात का मूल्य है।

प्रसन्न ने कहा : कामकाज समझने वाले आदमी मैंने बहुत देखे हैं भैया! लेकिन वही लोग पड़ते हैं सबसे अधिक संकट में। अक्ल के ज़ोर वे क़िश्त और मात देना चाहते हैं; इस बात को भूल ही जाते हैं कि ऊपर धर्म भी है! लेकिन तुम में तो मणिकाञ्चन संयोग है; इधर धर्म में दृढ़ रहे हो और उधर कर्म में तुम्हारी बुद्धि संपूर्ण पक्की है।

वह वक्त भी ऐसा था कि सबलोग रोज़गार के पीछे पागल हो उठे थे। सबने ठहरा लिया था कि वाणिज्य छोड़ देश की उन्नति संभव ही नहीं। और यह भी सबने निश्चितरूप से समझ लिया था कि सिर्फ पूंजी-भर अगर पल्ले हो तो वकील, मुख्त्यार, डाक्टर, शिक्षक, छात्र और उनके बापदादे—सब रातों-रात सभी प्रकार का रोज़गार चलाने की दम रखते हैं।

मैंने प्रसन्न से कहा : मेरे पास पूंजी जो नहीं है!

वह बोला : अजब बात करते हो! तुम्हारी पैत्रिक संपत्ति की भला कोई कमी है?

तब अचानक मेरे मन में आया कि शायद इतने दिनों से प्रसन्न मेरे साथ "पैत्रिक संपत्ति" को लेकर खूब लंबा-सा मज़ाक ही करता आ रहा है। लेकिन वह बोला : मसखरी नहीं भैया! सचाई ही तो लक्ष्मी का सुनहला कमल है। आदमी के विश्वास पर ही कारबार चलता है, रुपये पर नहीं।

पिता के समय से ही हमारे घर पर मुहल्ले की कोई-कोई विधवाएं अपने रुपये जमा कर जातीं। वे ब्याज की आशा नहीं रखतीं; सिर्फ इसीलिये निश्चित रहतीं कि स्त्री-जाति का रुपया चाहे और सब जगह डूब जाए, किन्तु हमारे यहां उसपर आंच नहीं आ सकती। वही अमानती रुपया लेकर हमारी स्वदेशी एजेन्सी खुल गई। कपड़ा, कागज़, स्याही, बटन, साबुन—जो कुछ जितना मंगवाते, बिक्री हो जाता। खरीददार टिड्डीदल की तरह उमड़ने लगे। कहते हैं विद्या जितनी ही बढ़ती है उतना ही यह अनुभव होता है कि कुछ भी नहीं जाना। रुपये का भी यही हाल समझिए। जितनी ही बढ़ती होती है उतना ही ऐसा बोध होता है मानो रुपया है ही कहां! मेरे चित्त की ऐसी ही अवस्था में एक दिन प्रसन्न ने कहा—ठीक उसने नहीं कहा बल्कि मेरे मुंह से कहलवा लिया—कि फुटकर दूकानदारी के काम में जिन्दगी खपाना ज़िंदगी की फ़िज़ूलखर्ची है। जो रोज़गार सारी दुनिया में फैले वही तो दरअसल रोज़गार है। रुपया देश में ही खपता है तो कोल्हू के बैल की तरह आगे नहीं बढ़ पाता, वहीं घूम-घूमकर मरता है।

मेरी उक्त बात सुनकर प्रसन्न भक्ति से ऐसा गद्‌गद हो उठा मानो इस प्रकार नवीन और गभीर ज्ञान की वार्ता उसने जीवन में पहले कभी सुनी ही नहीं। तब मैंने उसे भारतवर्ष में अलसी के व्यवसाय का सात बरस का हिसाब समझाया। कहां किस परिमाण में अलसी जाती है, कहां क्या दर है, भाव आखिर चढ़ता है तो कितना और उतरता है तो कितना, खेत में उसका क्या मूल्य है, किसानों के घर ही से ख़रीदकर सीधे विलायत रवाना कर देने पर एक उछाल में कितना मुनाफ़ा होना चाहिए; कहीं लकीरें खींचकर, कहीं फ़ी सदी हिसाब समझाकर, कभी अनुलोम-प्रणाली से तो कभी प्रतिलोम-प्रणाली से, लाल और काली स्याही से, खूब साफ़-साफ़ हरफ़ों में, लंबे कागज़ के पांच-सात सफे खचाखच भरकर जब मैंने प्रसन्न के हाथों थमा दिए तब तो वह मेरे पावों की धूलि न ले तो और करे क्या! कहने लगा : मन ही मन समझता था कि मैं भी थोड़ा बहुत तो यह सब समझता ही हूं, लेकिन आज से, भैया, मैं तुम्हारा चेला हुआ!

किंतु थोड़ा-सा प्रतिवाद भी उसने किया, कहा : 'यो ध्रुवाणि परित्यज्य'—याद है न? कौन जाने, हिसाब में भूल भी तो हो सकती है।

सुनते ही मुझे ज़िद सवार हो गई। कागज़ पर कागज़ रंगकर, भूल नहीं है, इसके अकाट्य प्रमाण दे चला। जितने तरह के नुक़सान मुमकिन हो सकते थे, उन सबको क़तार से खड़े करके मैंने उसे दिखला दिया कि मुनाफे को किसी भी तरह बीस-पचीस फ़ी सदी से नीचे उतारा ही नहीं जा सकता। इस तरह दूकानदारी की पतली नहर बहकर जब अंत में कारोबार के समुद्र में जा डूबी, तब सब-कुछ कुछ इसी तरह प्रमाणित हुआ जैसे बिल्कुल मेरी ही ज़िद का परिणाम हो। ज़िम्मेवारी मेरी ही थी।

एक तो दत्तवंश की ईमानदारी, उस पर ब्याज का लाभ। अमानत के रुपये फूल उठे। स्त्रियां गहने बेंचकर रुपये जमा करने लगीं। काम में एक दफे घुस पड़ने के बाद फिर दिशा नहीं मिलती। तख़मीना जिस तरह ख़ासी लाल और काली सियाही की रेखाओं से सुस्पष्ट विभाजित था, काम के समय उन विभाजक रेखाओं का पता लगाना किसी के मान की बात नहीं थी। मेरे प्लैन में रसभङ्ग होने लगा, फलतः काम में मन को सुख नहीं मिलता। अंतरात्मा को साफ़ अनुभव होने लगा कि काम करने की क्षमता मुझमें नहीं है, लेकिन इसे कुबूल करने की भी क्षमता जो नहीं थी। स्वभावतः कामकाज प्रसन्न के हाथों जा पहुंचा। फिर भी समूचे कारबार का मैं ही हर्त्ता-कर्त्ता-विधाता हूं—इस बात को छोड़ जैसे प्रसन्न के मुंह में और कोई बात ही नहीं होती। प्रसन्न का आशय और मेरे दस्तख़त, उसकी दक्षता और मेरी पैतृक ख्याति—इन्हीं दोनोंसे मिलकर व्यवसाय चारों-पाँव चौकड़ी भरता हुआ किस दिशा की ओर पलायमान हुआ मैं कुछ ठहरा ही न सका। देखते-देखते ऐसी जगह जा पहुंचा, जहां थाह भी नहीं मिलती, कूल-किनारा भी नहीं दीखता। अब डांड़ छोड़कर अगर सच्चा भेद खोल दूं तो इससे ईमानदारी की रक्षा तो हो जाती लेकिन ईमानदारी की ख्याति नहीं बचती। अमानत के रुपयों का ब्याज पुराने लगा, लेकिन मुनाफे से नहीं। फलतः ब्याज के मनके जोड़-जोड़कर अमानत का परिमाण बढ़ा शुरू किया।

मेरा ब्याह हुए बहुत दिन हो गए। समझता था घर-गिरिस्ती छोड़ और किसी तरफ़ मेरी स्त्री का ख्याल नहीं है। अचानक लक्ष्य किया कि ऋषि अगस्त्य की तरह एक गण्डूष में ही समुद्र सोख लेने का लोभ उसे भी है। पता नहीं कब से यह हवा मेरे ही चित्त से चलकर हमारे समूचे परिवार में बहने लगी थी। घर के नौकर-नौकरानी तक हमारे कारबार में रुपये लड़ाते जा रहे थे। मेरी स्त्री ने भी मुझे पकड़ा कि वह भी कुछ गहना-पता बेचकर मेरे रोज़गार में रुपये लगाएगी। मैंने भर्त्सना की, उपदेश दिया, कहा : लोभ के समान रिपु दूसरा नहीं।—स्त्री का रुपया मैंने नहीं ही लिया।

और भी एक व्यक्ति के रुपये मैं नहीं ले पाया। अनू एक बच्चे की माता होकर विधवा हो गई थी। उसके स्वामी की ख्याति थी कि वह जितना ही धनी है उतना ही कृपण। कोई कहता, उसका डेढ़ लाख रुपया है, कोई कहता, इससे कहीं अधिक। लोगों में चर्चा थी कि कंजूसी में अनू अपने पति की सहधर्म्मिणी है। मैं भी सोचता, सो तो होगा ही। अनू को कोई अच्छी शिक्षा या संग तो मिला नहीं।

उन रुपयों को कहीं लगा देने के लिये उसने मेरे पास अनुरोध पहुंचाया था। मुझे लोभ हो आया, ज़रूरत भी ख़ूब थी, लेकिन मारे भय के उससे मिलने तक नहीं गया।

एक बार किसी बड़ी हुंडी की मियाद आ पहुंचने पर प्रसन्न ने मुझसे कहा : अखिलबाबू की लड़की के रुपये लिये बिना अब की नहीं चलेगा।

मैंने कहा : जैसी दशा है, इसमें सेंध लगाना भी मुझसे हो सकता है, लेकिन वह रुपया तो नहीं ले सकता।

प्रसन्न बोला : जब से तुम्हारा भरोसा मिट गया है तभी से कारबार नुकसान में चला आ रहा है। तक़दीर ठोकने से ही तक़दीर की ताक़त को बढ़ावा मिलता है।—मैं किसी तरह भी राज़ी न हुआ। दूसरे

दिन प्रसन्न आकर बोला : दक्षिण से एक विख्यात महाराष्ट्र ज्योतिषी आया है, कुण्डली लेकर उसके पास चलो।

सनातन दत्त के कुल में कुण्डली दिखाकर भाग्य की परीक्षा! दुर्बलता के दिनों में मानव प्रकृति के भीतर सुप्त पुराकाल का बर्बर बल पाकर उठ बैठता है। जो दृष्ट है वह जब भयंकर हो उठता है, तब जो अदृष्ट है, उसी को प्राणपण छाती से लगाने की इच्छा होती है। बुद्धि पर भरोसा करके शांति नहीं पा रहा था, इसी से निर्बुद्धिता की शरण ली। जन्म-मुहूर्त और सन्-तारीख लेकर गणना कराने चला। सुनने मिला, मैं सत्यानास की बिल्कुल अंतिम करार तक आ पहुंचा हूं। किंतु इस समय बृहस्पति अनुकूल हैं, किसी स्त्री के धन की सहायता से मेरा उद्धार करके अतुल ऐश्वर्य दिला देंगे।

इसमें प्रसन्न का हाथ हो सकता है, ऐसा संदेह मेरे मन में उपज सकता था, लेकिन संदेह करने की किसी भी तरह इच्छा नहीं हुई। घर लौटने पर मेरे हाथ में कोई एक किताब थमाकर प्रसन्न बोला : खोलो तो भला!—खोलते ही जो सफ़ा निकला उसपर अंग्रेजी में लिखा हुआ था : अद्‌भुत सफलता है।

उसी दिन अनू को देखने गया।

पति के साथ देहात लौट जाने के बाद से बारबार मलेरिया भुगतते-भुगतते अनू की हालत ऐसी हो गई है कि डाक्टरों को डर है, कहीं क्षय ने तो नहीं पकड़ लिया है। कोई अच्छी जगह जाने की बात चलाते ही वह कहती : मैं, आज नहीं तो कल मर ही जाऊंगी लेकिन अपने इस सुबोध का पैसा क्यों बरबाद करूं?—सो इसी तरह वह सुबोध और सुबोध के रुपयों का प्राण देकर पालन कर रही थी।

मैंने जाकर देखा, अनू के रोग ने उसे इस पृथिवी से जैसे न्यारा कर दिया है। मानो मैं उसे बहुत दूर से देख पा रहा हूं। उसकी देह संपूर्ण स्वच्छ हो गई हो और उसके भीतर से जैसे एक आभा-सी निकल रही हो। जो कुछ स्थूल है उसे क्षय करके उसके प्राण मृत्यु के बाहरी द्वार पर स्वर्गीय प्रकाश में आ खड़े हुए हैं। और उसकी दोनों करुण आंखों की वही घनी पलकें! आंखों के नीचे कालिमा झलक आने से ऐसा जान पड़ता है मानो उसकी दृष्टि पर आज जीवनान्तकालीन संध्या की छाया उतर आई हो। मेरा समग्र मन स्तब्ध हो गया। आज वह देवी जान पड़ी।

मुझे देखकर अनू के मुख पर एक शान्त प्रसन्नता खेल उठी। वह बोली : कल रात ही से जब मेरी बीमारी बढ़ रही थी तब से तुम्हारी ही बात सोच रही हूं। परसों भैया-दूज है, उस दिन तुम्हें आखिरी बार भैया-दूज का टीका लगा जाऊंगी।

रुपये की कोई बात मैंने नहीं कही।

सुबोध को बुलवाया उसकी उम्र सातेक बरस होगी, दोनों आखें ठीक मां की ही तरह हैं। जाने कैसी एक तरह की क्षणिकता का भाव जैसे उसके सभी-कुछ के साथ विजड़ित है, मानो पृथिवी उसे पूरे परिमाण में स्तन्य देना भूल गई हो। मैंने उसे गोद में खींचकर उसका माथा चूम लिया। वह चुपचाप मेरे मुंह की ओर ताकता रह गया।

प्रसन्न ने पूछा : क्या हुआ?

मैंने कहा : आज वक्त ही नहीं मिला

वह बोला : मियाद के अब सिर्फ़ नौ ही दिन बाक़ी हैं.

अनू का वह मुख—मृत्यु सरोवर का वह कमल—देखने के बाद से सत्यानास की मूर्ति मुझे उतनी भयंकरी नहीं जान पड़ रही थी।

कुछ दिनों से हिसाब-किताब देखना मैंने छोड़ ही दिया था। कूल-किनारा जो नहीं दिखाई देता,

इसी डर से आंखें मूंदे रहता। हताश भाव से बराबर दस्तखत-भर किए जाता, समझने की कोशिश ही न करता। भाई-दूज के दिन सबेरे ही हिसाब का एक चुंबक-खाता लेकर प्रसन्न ने ज़बर्दस्ती मुझे कारोबार की वर्त्तमान अवस्था सुस्पष्ट समझा दी। मैंने देखा, मूलधन का समूचा पेंदा बिल्कुल ही खत गया है। इस समय केवल कर्ज के रुपयों का पानी न सींचते चलने से नैया डूब कर ही रहेगी।

कौशलपूर्वक रुपयों की बात चलाने का उपाय सोचता हुआ मैं भाई-दूज के निमंत्रण के लिये चला। उस दिन बृहस्पतिवार था। हतबुद्धि की चोट से आज बृहस्पतिवार से भी डरता हूं। जो मनुष्य हतभाग्य होता है वह अपने भीतर बुद्धि छोड़ और कुछ को भी न मानने का बल नहीं सहेज पाता। सो जाने के समय मन बहुत बिगड़ गया था।

अनू का बुखार बढ़ गया है। देखा, वह बिछौने पर पड़ी है। नीचे फ़र्श पर सुबोध चुपचाप अंग्रेज़ी के सचित्र अखबार से चित्र काट-काटकर एक कापी में चिपका रहा था। अशुभ मुहूर्त्त बचाने के लिये मैं वक्त से बहुत पहले ही आ गया था। स्त्री को भी साथ लाने की बात थी, लेकिन उसके मन के किसी कोने में अनू के संबंध में कुछ ईर्ष्या-जैसी शायद संचित थी, इसीसे जाने के समय उसने कुछ बहाना कर लिया; मैंने भी ज़बर्दस्ती नहीं की।

अनू ने पूछा : भाभी नहीं आईं?

मैंने कहा : तबीयत अच्छी नहीं थी।

अनू ने तनिक-सी सांस छोड़ी ; कहा कुछ भी नहीं।

मेरे अंतर में एक दिन जो माधुर्य आविर्भूत हुआ था उसे आज अपने सुनहरे प्रकाश में गलाकर शरत् के आकाश ने इस रोगी के बिछौने पर बिखरा दिया। कितनी ही बातें आज जाग उठीं। कितने ही दिनों की वे अत्यंत छोटी-छोटी-सी बातें मेरे आसन्न सर्वनाश को कहीं पीछे छोड़कर आज सहसा कितनी बड़ी हो उठीं। कारबार का हिसाब मुझे भूल ही गया।

भैया दूज का-न्यौता खाया। मेरे मस्तक पर मृत्युतीर्थ के उस यात्री ने अपने ही हाथों मेरी दीर्घायु-कामना के अर्थ टीका लगाकर मेरे पावों की धूल ली।—मैंने उसके अनदेखे अपनी आंखें पोंछीं।

कमरे में आकर बैठने पर अनू ने एक टीन का सन्दूक़ मेरे सामने बुलवाकर रखा। कहा : सुबोध के लिये जो कुछ इतने दिन सहेज-सहेजकर रखा है, उसे आज तुम्हें सौंपती हूं और उसीके साथ सुबोध को भी तुम्हारे ही हाथों दिए जाती हूं। अब निश्चिन्त होकर मर सकूंगी।

मैंने कहा : अनू, दुहाई है, रुपये मैं नहीं ले सकूंगा। सुबोध की देख-भाल में कभी कोई त्रुटि नहीं होगी, लेकिन रुपये तुम और किसीके पास रखा जाना।

अनू बोली : इन रुपयों के लिये कितने ही तो हाथ पसारे बैठे हैं। तुम क्या उन्हींके हाथों सौंप जाने को कह रहे हो?

मैं चुप हो रहा। अनू ने कहा : एक दिन ओट से सुन पाई थी कि डाक्टर का मत है, सुबोध के शरीर के जैसे लक्षण हैं, उनसे उसके बहुत दिन जीने की आशा नहीं की जा सकती। जब से यह सुना है, तब से सिर्फ यही डर लगा रहता है कि मेरे मरने में देरी न हो जाय। लेकिन आज कम से कम यही आशा लिए हुए मरूंगी कि डाक्टरों की बात ग़लत भी तो हो सकती है। सैंतालीस हज़ार रुपया कम्पनी के हिसाब में जमा हो गए हैं—कुछ और भी इधर-उधर पड़े हैं। इन रुपयों से सुबोध का पथ्य और इलाज अच्छी तरह ही चल सकेगा। और अगर भगवान उसे जल्दी ही खींच लें तो यह रुपया उसीके नाम किसी अच्छे काम में लगा देना।

मैंने कहा : अनू, तुम मुझपर जितना विश्वास करती हो उतना मैं अपने पर नहीं करता।—सुनकर अनू थोड़ा-सा हंस दी। ऐसी बात सच होने पर भी मेरे मुंह से मिथ्या विनय के समान ही जान पड़ती है।

चलते समय अनू ने बाक्स खोलकर कंपनी का कागज़ और नोटों के कई एक पुलिंदे मुझे सहेज दिए। उसके वसीयतनामे में लिखा हुआ था, निःसन्तान अथवा नाबालिग अवस्था में सुबोध की मृत्यु होने पर मैं ही संपत्ति का उत्तराधिकारी हूंगा।

मैंने कहा : अनू, मेरे स्वार्थ के साथ तुमने अपनी संपत्ति इस तरह गूंथने का साहस कैसे किया?

वह बोली : मुझे मालूम है तुम्हारे स्वार्थ से मेरे लड़के के स्वार्थ में कोई अटकाव नहीं पड़ेगा।

मैंने कहा : आदमी पर इस हद तक विश्वास करना कामकाज की होशियारी में शामिल नहीं है।

वह बोली : मैं तुम्हें जानती हूं, धर्म को पहचानती हूं, कामकाज की होशियारी समझने की शक्ति मुझमें नहीं है।

बाक्स में गहने थे, उन्हें दिखाकर अनू ने कहा : सुबोध अगर बचा रहे और उसकी शादी हो तो ये गहने और मेरे असीस बहूरानी को देना। और यह पन्ने की कंठी भाभी को देकर कहना, मेरे सिर की सौगन्ध, इसे ज़रूर ग्रहण करें।

यह कहकर जब अनू ने भूमिष्ठ होकर मुझे प्रणाम किया तब उसकी दोनों आंखें आंसुओं से भर उठीं। चटपट उठकर दूसरी ओर मुंह फिराए हुए वह वहां से चल दी। वही मैंने उसका अंतिम प्रणाम पाया था। इसीके दो दिन बाद अचानक सांझ की वेला सांस रुक जाने से उसकी मृत्यु हो गई। मुझे खबर देने का भी समय न मिला।

सो उस दिन भैया-दूज का निमंत्रण पूरा करके टीन का संदूक हाथ में लिये जब मैं गाड़ी से अपने घर के दरवाजे पर उतरा, देखा, प्रसन्न बाट जोहे खड़ा है। उसने पूछा : भैया, समाचार सब अच्छे तो हैं?

मैं बोला : इन रुपयों को कोई हाथ भी नहीं लगा सकता।

प्रसन्न बोला : लेकिन...

मैंने कहा : मैं नहीं जानता—जो होना है हो, लेकिन यह रुपया मेरे रोज़गार में नहीं लग सकेगा।

प्रसन्न बोला : तब तुम्हारे क्रिया-कर्म में लगेगा।

अनू की मृत्यु के बाद सुबोध ने मेरे घर आकर मेरे पुत्र नित्यधन को अपने साथी के रूप में पाया।

जो लोग कहानी उपन्यास के अभ्यस्त पाठक हैं उनकी धारणा है कि आदमी के चित्त के सभी बड़े-बड़े परिवर्त्तन धीरे-धीरे ही घटा करते हैं। बात दर असल उल्टी है। फूस को आग पकड़ते शायद वक्त लगता है लेकिन बड़े-बड़े अग्निकांड पल भर में ही लेलिहान धधक उठते हैं। यदि मैं कहूं कि थोड़ी-सी अवधि में देखते देखते मेरे चित्त में सुबोध पर गहरा विद्वेष भड़क उठा तो सब लोग मुझसे इसकी लंबी-चौड़ी कैफ़ियत तलब करेंगे। सुबोध अनाथ है, बड़ा क्षीण-प्राण शिशु है, देखने में खूब ही प्यारा है—और इस सबके अतिरिक्त सुबोध की मां स्वयं अनू थी,—किन्तु यह सब होते हुए भी उसकी बातचीत, चलना-फिरना, खेलकूद ये सभी मानो मुझे दिन रात खोंचा-सा देने लगे।

वास्तव में समय बड़ा खराब गुज़र रहा था। उसका रुपया किसी तरह भी नहीं लूंगा, यही मेरा प्रण था, लेकिन हालत बिल्कुल ऐसी थी कि बिना लिये काम ही नहीं चल सकता था। अंत में एक दिन महा विपद में पड़कर कुछ लेना ही पड़ा। इससे मेरे मन का यंत्र कुछ ऐसा बिगड़ गया कि सुबोध को मुंह दिखाना भी मेरे लिये दुरूह हो उठा। पहले तो मैं उससे बचता रहा, पीछे उसपर विषम क्रोध प्रकाशित होने लगा।

क्रोध का सबसे प्रथम उपलक्ष्य हो उठा सुबोध का स्वभाव। मैं स्वयं व्यस्तवागीश—बे-फ़ुर्सत काम-काजी आदमी—,हर वक्त तड़भड़ी में रहना मेरा अभ्यास था। उधर सुबोध का जाने-कैसा अलस-सा भाव रहता; कुछ पूछने पर जैसे उसे सहसा कोई जवाब ही खोजे नहीं मिलता। मालूम होता, मानो जहां वह है वहां दर-असल है ही नहीं, मानो और कहीं है। रास्ते की ओर खिड़की के सीखचे पकड़कर खड़े-खड़े वह घंटे पर घंटे गुज़ार देता; क्या देखा या सोचा करता, वही जाने। मुझसे यह सहा नहीं जाता। सुबोध बहुत दिन

रुग्ण माता के निकट रहकर बड़ा हुआ था, समवयस्क खेल का साथी उसका कोई नहीं था, इसीसे अपने ही निराले मन को लेकर वह उसीके साथ खेलता आया है। इस प्रकार के बच्चों की सबसे बड़ी मुश्किल यह है कि जब इन्हें किसी तरह का शोक होता है, तब अच्छी तरत टुक रो सकें सो भी उन्हें नहीं आता और शोक को भुला सकें, यह भी नहीं जानते। इसी कारण सुबोध से तत्काल कोई जवाब भी नहीं मिलता और न कोई काम सौंपने पर उसकी उसे याद ही रहती। उसकी चोज-वस्तु बराबर ही खो जाती ; उसे अगर डांटो भी तो केवल मुंह की तरफ़ ताकता भर रह जाता—मानो इस तरह ताकते रहना ही उसकी रुलाई हो। मैं कहने लगा : मेरे लड़के के सामने इसकी नज़ीर बिल्कुल ही उपयुक्त नहीं है।—फिर भी कठिनाई उधर यह है कि सुबोध को देखते ही नित्य को वह खूब ही भा गया है। नित्य की प्रकृति बिल्कुल और ही तरह की होने के कारण ही शायद सुबोध की ओर उसका खिंचाव उतना अधिक बढ़ गया था।

दूसरे के स्वभाव का सुधार-संशोधन करना तो मेरा मौलिक कार्य रहा है। इस काम में मेरी पटुता भी जैसी थी, उत्साह भी वैसा ही। सुबोध का स्वभाव कर्म-पटु नहीं है, इसी कारण मैं उससे ज्यादा काम-काज कराने लगा। वह जितनी बार भूल करता, उतनी ही बार मैं उसीके द्वारा उसकी भूलों का सुधार कराया करता। उधर उसको और भी एक आदत थी जो उसकी मां की भी थी ; वह अपने और अपने आसपास के सभी कुछ की तरह-तरह से परिकल्पना किया करता।

खिड़की के सामने जो जमरूल का पेड़ लगा था उसका उसने जाने-क्या एक अजब-सा नाम दिया था। पत्नी से सुनने में आया कि वह वहां अकेला खड़ा-खड़ा पेड़ से बातें किया करता। बिछौने को मैदान और तकिये को गायों की क़तार कल्पित करके कमरे के भीतर ही गोपाल-बालक का अभिनय करना कितना मिथ्या है, यह बात उसीके मुंह से कुबूल कराने की मैंने बहुत चेष्टा की, लेकिन उसने कभी जवाब ही नहीं दिया। मैं उसपर जितना ही शासन करता मेरे निकट उसकी त्रुटियों की संख्या उतनी ही बढ़ती चलती। मुझे देखते ही वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता ; मेरी सीधी-सी बात भी उसकी समझ में न आ पाती।

और कुछ नहीं, बात यों है कि हृदय यदि नाराज़ होना शुरू करे और अपने को संभाल लेने योग्य कोई धक्का बाहर से उसे सचेत न कर दे तो नाराज़ी स्वयं ही अपने आपको बढ़ा चलती है—किसी नये कारण की ज़रूरत उसे नहीं होती। अगर किसी ऐसे व्यक्ति को मैं दो-चार दफ़ा मूर्ख कहूं जिसकी जवाब देने की हैसियत ही न हो, तो वही दो-चार बार का कहना पांचवी बार के कहने को सृष्टि करेगा ; किसी और उपकरण की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। सुबोध से सिर्फ बार-बार परेशान होना मेरा एक ऐसा अभ्यास-सा हो आया था कि उसे दूर करना मेरे वश की बात ही नहीं रह गयी थी।

इसी तरह पांच बरस कट गए। जब तक सुबोध की वयस बारह बरस हो, तब तक उसके कंपनी के कागज़ और गहना-गुरिया सब क्रमशः गल-गलकर मेरे बही-खाते के सफों पर सियाही से लिखे कुछेक हरफ़ों में परिणत हो गए। मैंने मन को यह कहकर बहलाया कि अनू तो अपने वसीयतनामे में रुपये मुझे ही दे गई है। बीच में सुबोध है सही, लेकिन वह तो छाया है, मानो है ही नहीं। जिस धन को एक दिन अवश्य ही पानेवाला हूं उसे सबसे पहले खर्च करना अधर्म नहीं हो सकता।

मुझे बचपन से ही वात की व्याधि थी। कुछ दिनों से वह बहुत बढ़ उठी थी। जो आदमी काम-काजी होता है उसे शांत बिठा रखने से वह अपने आसपास के सभी आदमियों को अशांत करके ही मानता है। सो इन कुछ दिनों के लिये मेरी स्त्री, लड़का, सुबोध, घर के नौकर-चाकर किसीको चैन नहीं था।

इधर जिन परिचित विधवाओं ने मेरे यहां रुपये जमा किए थे, उन्हें पिछले कुछ महीनों से ब्याज नहीं दिया जा रहा था। पहले मैंने ऐसा कभी नहीं होने दिया था। इसीलिये उन्होंने उद्विग्न होकर तक़ाज़ा करना शुरू कर दिया। मैं प्रसन्न को हिदायत करता, वह बराबर दिन टरकाता जाता। अंत में जिस दिन बिल्कुल निश्चितरूप से रुपये देने की बात थी उस दिन सुबह से ही दावादारों ने बाहर आसन जमाया। इधर प्रसन्न का पता नहीं।

मिश्र को बुलाकर कहा : सुबोध को पुकारो तो।

वह बोला : सुबोध सो रहा है।

मैं अत्यंत क्रुद्ध होकर बोला : सो रहा है? ग्यारह बज गए, अब तक सो रहा है!

सुबोध ऊंघता-ऊंघता आ खड़ा हुआ। मैंने कहा : प्रसन्न जहां मिले बुला लाओ।

हमेशा मेरी ज़रा-ज़रा-सी फ़रमाइशें पूरा करने के लिये दौड़ते-दौड़ते इन सब कामों में सुबोध पक्का हो गया था। किसे कहां खोजना होगा, सभी उसका जाना हुआ होता।

दुपहरिया के एक बज गए, दो बजे, तीन बज चुके—सुबोध नहीं लौटा। यहां जो लोग धरना देकर बैठे थे उनकी भाषा का उत्ताप और वेग दोनों बराबर बढ़ते जा रहे थे। किसी भी तरह सुबोध का दीर्घसूत्री ढंग मिटा न पाया। दिन ज्यों-ज्यों बीतते हैं, उसकी ढिलाई मानो उतनी ही बढ़ती जा रही है। आजकल तो वह अगर बैठ जाए तो फिर उठना नहीं चाहता, हिलते-डुलते उसे सात दिन लग जाते हैं। किसी-किसी दिन देखता हूं सांझ के पांच ही बजे वह बिस्तर पर ढुलक रहा है। सुबह उसे ज़बर्दस्ती उठाना पड़ता। चलने के समय मानो पैर से पैर जकड़कर चल रहा हो। मैं सुबोध को कहा करता : जनम-आलसी, आलसियों के महामहोपाध्याय!—वह लजाकर चुप हो जाता। एक दिन उससे मैंने पूछा : अच्छा कहो तो भला, प्रशान्त महासागर के बाद और कौन-सा महासागर है?—वह जब जवाब नहीं दे पाया तो मैंने कहा : उसके बाद हो तुम—आलस्य महासागर! यथासंभव सुबोध कभी मेरे पास रोता नहीं लेकिन उस दिन उसकी आंखों से झर-झर आंसू झरने लगे। वह मेरी डांट-बकझक-गाली सभी सह लेता, लेकिन उसका मज़ाक बनाना उसके मर्म में जा चुभता।

दिन ढल गया, रात हो आई। कमरे में किसीने रोशनी नहीं की। मैंने चिल्ला-चिल्ला कर पुकारा; किसीने उत्तर नहीं दिया। घर में सभी पर मुझे कोप हो आया। इसके बाद मुझे अचानक संदेह हुआ कि प्रसन्न ने सूद के रुपये सुबोध के हाथ दिए हैं और सुबोध उन्हींको लेकर चंपत हो गया है। इस घर में सुबोध आराम से नहीं रहता, यह बात तो मेरी जानी ही हुई है। बचपन ही से आराम नामक वस्तु को अन्याय ही गिनता आया हूं—खासकर बच्चों के मामले में। अतएव इस तरफ़ से मेरे मन में कोई परिताप नहीं था। किन्तु इसीलिये सुबोध रुपये दबाकर खिसक जाएगा यह खयाल ही करके, उसे अकृतज्ञ कहकर, मन ही मन फटकारने लगा। इसी उम्र में चोरी आरंभ कर दी, इसकी क्या गति होगी? मेरे पास रहकर मेरे ही घर में निवास करते हुए इसकी ऐसी शिक्षा हुई तो क्योंकर? सुबोध रुपये चुराकर ही गायब हुआ है इसमें मुझे रंचमात्र भी संदेह नहीं रहा। इच्छा हुई, अभी पीछे दौड़कर जहां मिले वहीं से उसे पकड़ लाऊं और सिर से पैर तक खूब कसकर उसकी पूजा करूं।

तभी अंधियारे कमरे में सुबोध ने प्रवेश किया। उस समय मेरे मन में इतना क्रोध संचित हो गया कि मुंह से बात भी नहीं निकली। सुबोध बोला : रुपये नहीं मिले!

मैंने उससे रुपये लाने के लिये तो कहा नहीं था तब वह क्यों कहता है—रुपये नहीं मिले! ज़रूर ही रुपये हड़प किए हैं—कहीं छुपा आया है। यही सब भले-भले बननेवाले छोकरे ही परले दरजे के शैतान हुआ करते हैं। मैंने खूब कष्ट से गला साफ़ करके कहा : रुपये निकाल दे!

वह भी उद्धत होकर बोल उठा : नहीं, नहीं दूंगा, तुम जो कर सकते हो, कर लो!

मैं अब क़तई अपनेको संभाल नहीं पाया। हाथ ही के पास लाठी थी, भर पूर ताक़त के साथ उसके सिर पर दे मारा। वह धड़ाम से गिर गया। तब मैं घबरा उठा, उसका नाम लेकर आवाज़ दी, कोई जवाब नहीं। टटोलकर देखा, जाज़िम भीग गई है। यह तो खून है! धीरे-धीरे रक्त बढ़ने लगा—जहां मैं था उसके आसपास सब ओर जगह रक्त से भीग गई। मेरी खुली खिड़की से बाहर की ओर संध्या तारा दिखाई पड़ रहा था—मैंने चटपट वहां से अपनी दृष्टि लौटा ली। मालूम नहीं क्यों मुझे ऐसा लगा मानो

वह संध्या तारा भैया-दूज का वही चन्दन का टीका है। सुबोध पर मेरा इतने दिन का अन्याय-विद्वेष सब कुछ पल भर में ही छिन्न हो गया। वह तो अनू के हृदय का वैभव है, मां की गोद से भ्रष्ट होकर मेरे हृदय में राह खोजता हुआ आ पहुंचा है। मैंने यह क्या किया......क्या किया! भगवान्, तुमने मेरी यह कैसी मति कर दी! मुझे रुपयों की भला ज़रूरत ही कौन-सी थी? अपना समूचा कारबार नष्ट करके यदि संसार में केवल इसी रुग्ण बच्चे के निकट मैं अपना धर्म रख पाता तो बच जाता।......

क्रमशः डर लगने लगा कि रुहों अभी कोई आ पहुंचे, कहीं पकड़ जाऊं। प्राणपण इच्छा हुई कि कोई आ न जाए—रोशनी न ले आए, यह अंधकार पलभर के लिये भी न सिरे, कल सूरज ही न निकले, विश्व संसार बिल्कुल मिथ्या होकर—इसी प्रकार निविड़ काला होकर—मुझे और इस बालक को सदा के लिये इसी तरह डुबा रखे कि तभी पावों की चाप सुनाई पड़ी। ऐसा जान पड़ा कि जैसे किसी न किसी अनिवार्य सूत्र से पुलिस को खबर लग ही गई है। कौन-सी झूठ-मूठ कैफ़ियत हाज़िर करूंगा, चटपट सोचने की कोशिश की लेकिन चित्त कुछ सोच ही न पाया।

भड़भड़ाकर दरवाज़ा खुल गया, कमरे में जाने-किसने प्रवेश किया। मैं सिर से पैर तक कांपकर जग उठा देखा, तब भी धूप ढली नहीं है। नींद लग गई थी; सुबोध के कमरे में प्रवेश करने के साथ ही टूटी है।

सुबोध हाटखोला, बड़ाबाजार बेलेघाटा आदि मुहल्लों में जहां-जहां प्रसन्न को पाने की उम्मीद थी वहां-वहां समूचा दिन उसे खोजता रहा। किसी भी तरह उसे जो ला नहीं पाया, उसी भय से—अपराध की छाया से—उसका मुख मलिन हो गया था। इतने दीर्घ काल बाद मैंने देखा, कैसा सुन्दर मुख है, कैसी करुणा से पूरित उसकी दोनों आंखें हैं!

मैंने कहा : आ बेटा सुबोध, मेरी गोद में आ जा।

वह मेरी बात समझ ही नहीं पाया, समझा, कदाचित् उसका परिहास कर रहा हूं। आंखें विस्तारित करके नादान की तरह पल भर मेरे मुंह की ओर ताकता रहा, फिर सहसा खड़े न रह पाकर मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

पलक मारते ही मेरी वातगत पंगुता जाने कहां विलीन हो गई। मैंने दौड़कर उसे गोद में उठाकर बिछौने पर डाला। सुराही में पानी था, मुंह तथा सिर पर पानी के छींटे मारने पर भी उसे किसी तरह भी होश न आया। डाक्टर को बुलवा भेजा। डाक्टर ने आकर जांच करके बहुत विस्मय प्रकाश किया। कहा : यह तो एक बारगी थकान की आखिरी हद पर आ पहुंचा है। आखिर ऐसा हुआ क्योंकर?

मैंने कहा : आज किसी वजह से उसे सारे दिन मेहनत करनी पड़ी है।

वे बोले : यह तो एक दिन का काम नहीं है। संभवतः बहुत दिनों से इसके क्षय चल रहा था, कभी किसीने ख्याल ही नहीं किया।

उत्तेजक औषध और पथ्य देकर डाक्टर उसे होश में लाकर चले गए। बोल गए : अगर बड़े जतन से बच जाय तो बच जाय लेकिन इसकी देह में प्राणशक्ति बिल्कुल चुक गई है। लगता है आखिरी के कुछ दिनों से यह बच्चा बिल्कुल मन के ज़ोर से ही चलता-फिरता रहा है। मैं अपना रोग भूल गया। सुबोध को अपने बिछौने पर सुलाकर रात-दिन उसकी सेवा में लग गया। डाक्टर की फ़ीस देने योग्य रुपया घर में नहीं था। स्त्री के गहने का बक्स खोला, वही पन्ने की कंठी उसे देकर कहा : इसे तुम रक्खो।—बाक़ी सब बंधक रखकर रुपये ले आया लेकिन रुपये से तो मनुष्य बचता नहीं। उसके प्राणों को इतने दिनों से कुचल-कुचल कर जो मैंने निःशेष कर दिया था। स्नेह के जिस अन्न से उसे दिन-पर-दिन वंचित ही रखता आया था, वही जब आज हृदय में परिपूर्ण भरकर मैंने उसके निकट रखा तब वह ग्रहण नहीं कर पाया। खाली हाथ वह अपनी मां के पास लौट गया।

[अनु० मो० वाजपेयी

रूसी उपन्यास

प्रकाशचन्द्र गुप्त

आधुनिक युरोपीय साहित्य पर रूसी उपन्यास का बहुत प्रभाव पड़ा है। तुर्गनेफ़, टाल्सटाय, डास्टौएफ्सकी, गोर्की और शौलोकोफ़ संसार के महान् साहित्यकारों में हैं। रूसी उपन्यास की अपनी कोई प्राचीन परम्परा नहीं। उन्नीसवीं सदी में रूसी उपन्यास फला और फूला और मानो मुरझाने भी लगा, किन्तु गोर्की ने उसे फिर से हरा-भरा किया और क्रान्ति के बाद सभी रूसी साहित्य नया बल पाकर पुष्ट हो रहा है।

उन्नीसवीं सदी, साहित्यमें उपन्यास की धात्री है। व्यावसायिक क्रान्ति के बाद हर देश में एक नए वर्ग का जन्म हुआ, जिसे हम बुद्धिजीवी कह सकते हैं। यह वर्ग पढ़े-लिखे त्रिशंकुओं का वर्ग था, जो स्वर्ग की कल्पना में लीन अधर में लटके थे और जिनके पैर यथार्थ की कठोर, पथरीली भूमि पर टिक न पाते थे। इस वर्ग ने उपन्यास को अपनाया और अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति का साधन बनाया। डिकिन्स, थेकरे, मैरैडिथ, हार्डी, बालज़ाक, मोपासाँ, विक्टर ह्यूगो युरोप के पहले महान उपन्यासकार हैं। यद्यपि कहानी एक प्राचीनतम साहित्यिक रूप है, उपन्यास के वेश में यह इसी युग में पनपा।

भारतीय साहित्य में भी हम देखते हैं कि सामन्ती समाज के ह्रास के बाद जीवन में एक ऐसी हलचल आ जाती है जिसका निरूपण महाकाव्य, या गद्य में उसका प्रतिरूप उपन्यास ही कर सकता है।

यद्यपि रूसी साहित्य की अपनी कोई पुरानी परम्परा न थी, एक अल्प-काल में ही उसने लम्बे-लम्बे डग लेकर विश्व-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। रूसी साहित्यकारों की रचना में एक अपना ही गुण है, जो कहीं अन्यत्र नहीं मिलता ; खुले-खुले, विशाल मैदान, बर्फ़ीली हवा के थपेड़े, एक विचित्र अन्तर्द्वन्द्व, बाह्य परिस्थिति की टक्कर और मानव का प्रतिरोध। रूसी उपन्यासों में एक विशाल कल्पना है जो हमें युरोप के संगीत में मिलती है, जैसे वागनर के ओपराज़ या बेठेवेन की रचनाओं में, किन्तु अन्यत्र नहीं। उनके देश में अब भी विराट प्रकृति से मनुष्य का संघर्ष जारी है। साइबेरिया के मैदानों और स्टेप के चरागाहों में रूसी कल्पना विहार करती है। रूस का विचारक वर्ग ज़ारशाही और सामन्तशाही के विरुद्ध प्राण-पण से लड़ रहा था और इस संघर्ष की अग्नि में रूसी उपन्यास तप कर चमका है।

पुश्किन आधुनिक रूसी साहित्य का जनक था। यद्यपि वह प्रधानतयः कवि था, उसके व्यक्तित्व और साहित्य का रूसी गद्य के विकास पर भी बहुत प्रभाव पड़ा। पुश्किन रूस का पहला साहित्यकार है जिसे युरोपीय ख्याति मिली।

रूसी उपन्यास के इतिहास में गोगल (१८०९-५२) नाम सबसे पहले आता है। गोगल का प्रसिद्ध उपन्यास "मृत आत्माएं" (डेड सोल्स) रूसी सामन्तवाद के ह्रास का लक्षण है। यह कथा भू-दासों (सर्फ्स) के क्रय-विक्रय से संबंधित है। इन दासों की अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता जैसे थी ही नहीं ; भेड़ों के समान वे बेचे और खरीदे जाते थे। रूस का महान राजनैतिक और सामाजिक आन्दलोन इन भू-दासों की मुक्ति से ही शुरू होता है। गोगल की कल्पना ने एक चित्र-विचित्रित जग की सृष्टि की, जहां असाधारण प्राणी अपनी जीवन-लीला खेलते हैं। डिकिन्स की तरह गोगल भी एक अजब दुनिया में रहता था, किन्तु उसे सामाजिक यथार्थ की भी खरी पहचान थी। यथार्थवाद का श्रीगणेश गोगल के साथ ही रूसी साहित्य में हुआ। किन्तु गोगलकी रचनाएं आधुनिकता से कोसों दूर हैं। उनमें महान कला के अणु-परमाणु अवश्य हैं किन्तु उसका स्वरूप अभी बन ही रहा है।

तुर्गनेफ़ (१८१८-८३) पहला रूसी उपन्यासकार है, जो निस्संदेह विश्व के महान कलाकारों में है। इसका गद्य अत्यन्त मधुर और परिष्कृत है, उसकी आत्मा में रूसी भूमि और उसके सौन्दर्य्य के लिये अनन्य

प्रेम है। किसी दबे-दबे और दूर से आते संगीत की ध्वनि उसके गद्य में मिलती है। तुर्गनेफ़ के साथ रूसी उपन्यास प्रौढ़ता पा चुका है।

नई राजनैतिक और सामाजिक हलचलों की प्रतिध्वनि तुर्गनेफ़ के उपन्यासों में गूंजती है। तुर्गनेफ़ आधुनिक बुद्धिजीवी है। ज़ार के कोप का वह भाजन बना और नज़रबंदी का दण्ड उसे मिला। गोगल की दुनिया हम बहुत पीछे छोड़ चुके हैं। "पिता और पुत्र" "कुमारी भूमि" आदि अमर उपन्यासों की तुर्गनेफ़ ने सृष्टि की। इन उपन्यासों की सामाजिक भूमि दबी-ढकी सी थी, किन्तु इमारत अवश्य ही इस नींव पर उठी थी। तुर्गनेफ़ अपने पक्ष का समर्थन दृढ़ता से, किन्तु बिना स्वर तीव्र किए करता था। अंग्रेज़ी उपन्यासकारों में हम गाल्ज़वर्दी में यही गुण देखते हैं। वास्तव में गाल्ज़वर्दी के ऊपर तुर्गनेफ़ की कला का गहरा प्रभाव पड़ा था।

तुर्गनेफ़ के अमर पात्रों में बेज़ारौफ़ प्रमुख है। बेज़ारौफ़ नाशवादी (निहिलिस्ट) है। वह अनीश्वरवादी, भौतिकवादी और अत्यन्त कठोर व्यक्ति है। बाद में रूस के तरुण क्रान्तिकारियों ने बेज़ारौफ़ को आदर्श मानकर उसी सांचे में अपने को ढालना शुरू किया।

तुर्गनेफ़ उच्च कोटि का शिल्पी था। उसने ज़ारशाही और सामन्तवाद से पीड़ित रूसी समाज के बन्धन काटने में निरन्तर मदद की। उसकी कला मनोरंजन का साधन ही नहीं, किन्तु पीड़ित मानव की मुक्ति का अस्त्र भी थी। साथ ही उसने रूसी उपन्यास को कला के उच्चतम शिखर पर भी पहुंचा दिया।

डोस्टौएफ्सकी (१८२१-१८८१) युरोपीय ख्याति का दूसरा रूसी उपन्यासकार है। वास्तव में जब हम रूसी उपन्यास के बारे में सोचते हैं, उसकी अंधड़ सी गति, अन्तर्जगत के धुंधले चित्र, उतावलापन आदि तो डोस्टौएफ्सकी का ही अधिकतर स्मरण करते हैं। डोस्टौएफ्सकी असाधारण प्रकृति का मनुष्य था मृगी रोग से पीड़ित था और उसकी कल्पना अर्द्ध-विक्षिप्त सी थी। तुर्गनेफ़ के संयम और चमकते शिल्प से हम बहुत दूर आ गए हैं। यह रचनाएं तो मानो खुले, वीरान स्टैप पर आंधी-का क्रन्दन हैं। डोस्टौएफ्सकी की तुलना में तुर्गनेफ़ कोई विजातीय अ-रूसी कलाकार है, जिसकी शिक्षा-दीक्षा फ़्रान्स में भले ही हुई हो, रूस में कदापि नहीं हुई।

सन् १८४५ में डोस्टौएफ्सकी ने "दीन जन" (पुअर फ़ोक) नाम का उपन्यास लिखा। इस उपन्यास ने लेखक को अनायास ही विख्यात बना दिया। आलोचकों ने कहा कि रूस में एक नए गोगल का जन्म हुआ है। किन्तु उसका अगला उपन्यास किसीको भी पसंद न आया, यद्यपि इसकी कला प्रौढ़तर थी और इसमें शक्ति भी अधिक थी। इस उपन्यास की कथा विक्षिप्त मन की अवस्था से संबंधित थी। यद्यपि डोस्टौएफ्सकी को इस समय कोई प्रोत्साहन नहीं मिल रहा था, वह निरन्तर लिखता ही रहा।

वह एक समाजवादी गोष्ठी का सदस्य भी बन गया। यह समाजवादी बड़े शान्त थे, किन्तु १८४८ की क्रान्ति के बाद वे सब पकड़े गए और अधिकांश को मृत्यु-दंड की आज्ञा मिली। २१ दिसम्बर १८४९ को वे फांसी के तख्ते तक भी लाए गए, किन्तु अन्त समय क्षमा कर दिए गए। डोस्टौएफ्सकी का दण्ड चार वर्ष के कठोर साइबेरिया-वास में परिणत हुआ और ओम्स्क के बंदीगृह में उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "मृत्यु-गृह" (दि हाउस आफ दि डेथ) लिखी।

डॉस्टौएफ्सकी की मानव-मन के अन्ध गह्वरों से विशेष घनिष्ठता थी। अपने उपन्यासों में वह किसी असाधारण चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना पसंद करता था, किसी हत्यारे अथवा पागल का, जैसे "अपराध और दण्ड" (क्राइम ऐण्ड पनिशमेन्ट) अथवा "मूर्ख" (दि इडियट) में। यह विश्लेषण किसी वैज्ञानिक अथवा चिकित्सक के अनुरूप होता था। युरोपीय कलाकारों में केवल मार्सेल प्रुस्त ने मन के इस अन्ध विवर में घुसने का दुस्साहस किया।

डास्टौएफ्सकी का सबसे बड़ा उपन्यास "कैरामै ज़ौफ़ बन्धु" (दि ब्रादर्स कैराम ज़ौफ़) है। यह उपन्यास मानो किसी विराट कल्पना की सृष्टि था और असमाप्त ही रह गया।

पुरानी पीढ़ी का अन्तिम महान् उपन्यासकार टाल्सटाय (१८२८—१९१०) था। वह न केवल कलाकार के रूप में, किन्तु एक महान् मनीषी के रूप में दुनिया के सामने आया। उसने उच्च कुल में जन्म लेकर रूसी किसान कीभांति जीवन बिताया। टाल्सटाय हमें अनायास ही महात्मा गान्धी का स्मरण दिलाता है। वह रूसो का शिष्य था और 'आदिम मानव' (नेचरल मैन में) बड़ा विश्वास रखता था।

उसकी पहली कहानी "बचपन" (चाइल्डहुड) १८५२ में, छपी और काफ़ी प्रसिद्ध हुई। इस कहानी में शिशु मन का बड़ा साफ़ और सच्चा चित्रण था। टालस्टाय अपनी कला से वास्तविकता का पूरा मायाजाल बुन देता है और मानो साक्षात् जीवन से हमारा परिचय कराता है। "बचपन" के बाद उसने "लड़कपन" (बायहुड) और "तरुणाई" (यूथ) लिखीं किन्तु इन कहानियों में "बचपन" की मार्मिकता न थी। सिबैस्टोपोल (१८५४) के युद्ध में टाल्सटाय ने भाग लिया और यहां युद्ध के संबंध में तीन स्केच लिखे जो युद्ध की कुरूपता के निर्मम वर्णन हैं।

"युद्ध और शान्ति" (वार ऐण्ड पीस) और "ऐना" रूसी उपन्यास के सर्वोच्च प्रयास हैं। "युद्ध और शान्ति" नैपोलियन के आक्रमण की कथा है। इस उपन्यास में टाल्सटाय ने एक विराट कैन्वैस लिया है और मानो किसी दानवी कल्पना से उस विशाल पट को जीवन से भर दिया है। इस उपन्यास में अनेक दोष हैं। यह एक कथा न होकर ढीली-ढाली अनेक कथाएं हैं। बीच-बीच में लेखक प्रगट होकर व्यक्ति की महानता का उपहास करता है और नैपोलियन को एक जुआरी प्रमाणित करता है। किन्तु अनेक दोषों के रहते हुए भी इस उपन्यास की महानता में सन्देह नहीं। किसी अमानुषी कल्पना का निर्मित यह असफल उपन्यास विश्व के श्रेष्ठतम साहित्यिक प्रयासों में अपनी गिनती रखता है।

'ऐना' अपेक्षाकृत सुगठित और शुद्ध शिल्प की दृष्टि से अधिक सफल कथा है। यह रूस के उच्च-मध्य परिवारों का अच्छा-खासा खाका है। टाल्सटाय को इस वर्ग का भीतरी ज्ञान था। अन्दर से खोखली किन्तु बाह्य आडम्बर से सज्जित यह इमारत मानो अब गिरी अब गिरी। किन्तु टाल्सटाय ने अपनी शिक्षा को कथा के प्राणों में छिपा कर रक्खा है और मंच पर आकर इस उपन्यास में प्रचार नहीं किया। यद्यपि "युद्ध और शान्ति" के सामने "ऐना" एक छोटे पट पर बना चित्र है, किन्तु अलग से देखने पर यह भी रूसी समाज की एक बृहद आलोचना है। इस उपन्यास में टाल्यटाय ने जीते—जागते अनेक प्राणियों की सृष्टि की, जो साहित्य में अजर-अमर रहेंगे।

इसके बाद टाल्सटाय ने और भी किताबें लिखीं, मुख्यतः "पुनर्जागरण" (रिज़रैक्शन) "आत्मापराध स्वीकार" (कन्फेशन) आदि। किन्तु वह कला के बंधन से उत्तरोत्तर मुक्त होता गया और अपनी नई कहानियों में पंचतंत्र अथवा बाइबिल के उपाख्यानों की तरह सीधा प्रचार करता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही रूसी उपन्यास फला-फूला। यह अर्द्ध-शताब्दी रूसी सामाजिक और राजनैतिक जीवन में विशेष हलचल का युग है। ज़ारशाही और सामन्तशाही के विरुद्ध रूसी जनसमाज का संघर्ष तीव्र होता गया और साहित्य में भी हमें इसकी निरन्तर अन्तर्ध्वनि मिलती है। जिन साहित्यकारों का ऊपर वर्णन आया है, वे लगभग सभी बुद्धिजीवी थे और सामन्तों के जीवन से कटकर अलग हो रहे थे। रूस के बूर्जुवा जागरण का यह युग है। भूदासों की मुक्ति से शुरू होकर यह उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक चलता है, किन्तु १८६२ (पोलैण्ड का विप्लव) से ही यह महारथी मानो पिछड़ने लगे और नई पीढ़ी का विश्वास उनपर से उठने लगा।

इस युग का अन्तिम साहित्यिक प्रतिनिधि चेखोफ़ [१८६०—१९०४] था। उन्नीसवीं सदी का अन्त सामाजिक और राजनैतिक निश्चलता और ह्रास का युग है। इस जड़ता का अन्त जापानी विजय (१९०४) के बाद हुआ और इसी काल में क्रान्ति के लक्षण भीषण रूप में प्रगट हुए। चेखाफ़ उपन्यासकार न था, उसने केवल कहानियां और नाटक लिखे। किन्तु उसके व्यक्तित्व और कला का सामयिक साहित्य पर

अनन्य प्रभाव पड़ा। चेखाफ़ रूस के प्रतिष्ठित लेखकों में आसानी से स्थान लेता है। चेखाफ़ की कला हमें तुर्गनेफ़ का स्मरण दिलाती है। वही शिल्प है और तुर्गनेफ़ के समान वह भी हृदय से कवि है। चेखाफ़ के स्केच विनोदजनक हैं, किन्तु सब मिलाकर उनका प्रभाव निराशामय है। वह जिस मानवता का चित्रण करता है, वह किसी अपार अन्धकार में डूबी है और उससे निकलने की कहीं कोई आशा नहीं दिखाई देती।

गोर्की रूस के दो युगों को जोड़ता है। ज़ार के रूस में जन्म (१८६९) लेकर उसने सन् १९१७ की महान क्रान्ति में भाग लिया और एक नए समाज के निर्माण में साथ दिया। ज़ारशाही का अन्तिम और सोवियत रूस का वह पहला महान लेखक है।

उसकी पहली कहानी १८६२ में और पहली पुस्तक १८९८ में छपी और इसके छपते ही गोर्की विख्यात हो गया। पहले वर्ष में ही इस पुस्तक की १००,००से अधिक प्रतियां बिकीं और रूस के बाहर उसका नाम पहुँच गया। यह कहानियां खानाबदोश जीवन की हैं। खुले मैदान, खुले आसमान, नदी, सड़कें इन कहानियों में हमें मिलती हैं : तेज़ हवा और जीवन के प्रति एक परम निश्चिन्तता का भाव। इन प्राथमिक कहानियों में सबसे अच्छी "छब्बीस पुरुष और एक लड़की" (ट्वेन्टीसिक्स मेन ऐण्ड ए गर्ल) थी। इस कहानी में कला पर अधिकार और कटु यथार्थ का सबल वर्णन था।

अपने उपन्यासों में गोर्की ने सामाजिक क्रान्ति को लक्ष्य बनाया। जीवन की कठोर वास्तविकता और उसे बदलने के साधन एक साथ इन उपन्यासों में मिलते हैं। इस टैक्नीक को आज हम समाजवादी यथार्थवाद कहते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण "माँ" (मदर) नाम का उपन्यास है। एक फैक्टरी के मज़दूरों में जाग्रति का हल्का स्पन्दन क्रमशः बढ़कर विराट आकार धारण करता है और समाज की जड़ें हिला देता है। अनेक सजीव पात्र इस उपन्याम में हमारे सामने आते हैं, जिनमें सबसे अधिक मोहक 'माँ' है।

१९१३—१५ के बीच गोर्की ने अपनी आत्म-कथा छापनी शुरू की। यह संस्मरण रूसी चित्रपट के अनेक महापुरुष और अनेक घटनाएँ पाठक के सामने लाते हैं। स्वयं गोर्की इन पुस्तकों में भी छिपा रह जाता है।

गोर्की निरा लेखक ही न था। उसने १९०५ और फिर १९१७ की क्रान्ति में सक्रिय भाग लिया। जिस निष्ठुर जीवन का वह अपनी कहानियों में वर्णन करता है, उसे केवल लेखनी के बल से ही नहीं, वरन् अपने संपूर्ण व्यक्तित्व से बदलने का उसने प्रयास किया और आखिर को उसकी आँखों ने ऐसा समाज देखा जहां मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अन्त हो चुका है। गोर्की की कला एक अल्प वर्ग के मनोरंजन का साधन ही न थी, वह मनुष्य के आगे बढ़ने का अस्त्र भी थी। इसीलिए नवयुग के लेखकों में, जो कला और संस्कृति को प्रगति का साधन मानते हैं, गोर्की का स्थान पहला है।

ऐन्द्रयेफ़, कूप्रिन आदि गोर्की के समकालीन साहित्यकार नग्न यथार्थ का चित्रण करते ही रह गए, और उनकी रचनाओं ने सामाजिक शक्तियों को आगे बढ़ने की कोई प्रेरणा नहीं दी। कूप्रिन के प्रसिद्ध उपन्यास "याया" से यह स्पष्ट हो जाता है। वेश्याओं के कुत्सित जीवन का इस उपन्यास में विस्तृत वर्णन है और इस जीवन के प्रति मन में वितृष्णा भी होती है, किन्तु इस सब कुरूपता पर मर्म आघात करने की उपन्यास में कोई दिशा नहीं मिलती।

क्रान्ति के बाद सोवियत रूस ने एक नए साहित्य का निर्माण किया। यह साहित्य समाज की निम्नतर पर्तों तक पहुंचा। जो विशाल जनसमुदाय आज तक कला-साहित्य में बहिष्कृत था, जिसने जन-साहित्य द्वारा किसी तरह अपनी कलाप्रियता अक्षुण्ण रक्खी थी, अब समस्त मानवी संस्कृति का उत्तराधिकारी बना। जिन समस्याओं का नित्य-प्रति नवीन समाज को सामना करना पड़ रहा था, उनका चित्रण हमें इस साहित्य में मिलता है। शौलोखाफ़ ने सामूहिक कृषि को अपने उपन्यास का विषय बताया। यह 'श्रमजीवी साहित्य', हर माने में जनता का साहित्य है।

क्रान्ति के बाद रूस में शिक्षा के साधनों का असाधारण प्रसार हुआ। स्कूल, लायब्रेरी, रेडियो, सिनेमा चतुर्दिक खुले। गोर्की शौलोखाफ़ आदि की पुस्तकें करोड़ों की संख्या में बिक चुकी हैं। शेक्सपियर, डिकिन्स, गरो आदि की सोवियत में निरन्तर मांग है। यही हाल अन्य रूसी और विदेशी साहित्य का है। साहित्य की इस अमिट भूख का सोवियत में आज कोई आदि-अन्त नहीं।

अपने बीस वर्ष के शान्तिपूर्ण जीवन में सोवियत ने पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा पूंजीवादी देशोंके साथ आने और उनसे आगे बढ़ने का उद्योग किया। इसीके फलस्वरूप आज सोवियत-संघ जर्मनी की औद्योगिक शक्ति का सामना कर सका है। इन बीस वर्षों में सोवियत बाह्य आक्रमण की आशंका से परेशान था और उसे अपनी बहुत सी मूल्यवान शक्ति सेनाओं को तैयार करने में खर्च करनी पड़ी। फिर भी इस अल्प काल में सोवियत ने एक जीवित और सशक्त साहित्य का निर्माण किया जिसपर गर्व करना अस्वाभाविक नहीं। सोवियत के जिन उपन्यास-लेखकों ने अन्तरराष्ट्रीय ख्याति पाई है, उनमें शौलोखाफ़, एलैक्सी टालस्टाय, इलिया ऐरनबुर्ग आदि प्रमुख हैं। सोवियत में रूसी के अलावा अन्य भाषाओं के भी अनेक छोटे-बड़े लेखक तेज़ी से बढ़ रहे हैं।

शौलोखाफ़ [जन्म १९०५] डॉन कज्ज़ाकों के बारे में तीन बृहद कथाएं लिखी हैं ; "डान शान्तिपूर्वक बहती है" (क्वायेट फ्लोज़ द डान) "कुमारी भूमि पर कृषि " (विरजिन स्वायल अपटर्न्ड) "डान समुद्र में विश्राम करती है" (The Don Flows Home to the Sea)। इस उपन्यास साहित्य से हमें सोवियत जीवन का पूरा ज्ञान हो जाता है। डॉन नदी के तट पर बसे आदिम जीवन बिताते गांव ; खेती, चरागाह, और लड़ाई छिड़ने पर सैनिकों की मांग। इन कज्ज़ाक गांवोंने और कोई जीवन जाना ही न था। वे अपनी खेती करते, भेड़ चराते और घोड़े पालते थे। और जब-जब ज़ार की मांग होती, सेना के लिये घुड़सवार और पैदल सिपाही देते। उनके जीवन में सादगी थी विनोद था, घृणा, क्रोध, प्रेम थे, किन्तु उनका जीवन भाग्य का खिलवाड़ था। इस प्रकार के एक गांव में शौलोखाफ़ ने ग्रिगर नाम के एक कज्ज़ाक का जीवन दिखाया है। सन् १९१४ में महासमर शुरू होने पर यह जीवन छिन्न-भिन्न हो गया। संसार भर में, क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो रहे थे और डॉन के गावों पर भी इनका भारी प्रभाव पड़ा। भाई के विरुद्ध भाई और पिता के विरुद्ध पुत्र हो गए। कज्ज़ाक गांव का सामन्ती बाना पलक मारते बदल गया। जहां छोटे-छोटे जुदा खेतों की जुताई आदिम काल से चली आ रही थी, वहां सामूहिक कृषि के ट्रैक्टर चलने लगे।

शौलोखाफ़ के तीन उपन्यासों में इन घटनाओं का दिग्दर्शन है। उसने रूसी जीवन के उस अंश का चित्रण किया, जिससे वह खूब परिचित था। कज्ज़ाक जीवन के संघर्ष, दुःख-सुख, हंसी-विनोद, सभी इस महाकथा में शामिल हैं। उसके चरित्र साधारण व्यक्ति हैं, जिनसे हम जीवन में प्रतिदिन मिलते रहते हैं, किन्तु वे ही इन पृष्ठों में आकर्षक और रोचक बन जाते हैं।

शौलोखाफ़ को डान की इस भूमि से गहरा प्रेम है। यहां के खेतों, धरती, नदी, पेड़, बनों का वह तल्लीनता से वर्णन करता है। एक पूरा राष्ट्र और पूरा देश इस कथा में बोल उठे हैं।

सोवियत लेखक इस तरह अपना सामाजिक कर्तव्य पूरा कर रहे थे और श्रेष्ठ साहित्य रच रहे थे। अनेक नामों में से तिकानौफ़, सिमौनौफ़, ऐरमबुर्ग, वासिली ग्रौसमैन आदि के नाम हम चुन सकते हैं। इनकी ख्याति सोवियत संघ के बाहर भी आ चुकी है।

जर्मनी के आक्रमण के बाद यह कलाकार अपने देश की रक्षा में लगे हैं। वे सेना के मोर्चों पर जाकर सब हाल देखते हैं और रेपोर्ताज़, स्केच, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि लिखकर जनता का उत्साह बढ़ाते हैं। इन्हीं सब कारणों से रूस की आत्मा अविजित है।

फ्रांस में किस प्रकार राजनैतिक चालों से देश शत्रु के सिपुर्द कर दिया गया था, इसका पूरा हवाला ऐरमबुर्ग के उपन्यास "पैरिस के पतन" (दि फाल आफ़ पेरिस) में मिलेगा। "पैरिस का पतन" एक बृहद्

रेपोर्ताज़ है। अनेक राजनैतिक दलों, व्यक्तियों और चालों का दिग्दर्शन यह उपन्यास कराता है। पेड़ अन्दर-ही-अन्दर खोखला हो चुका था। जिनपर इसकी देख-रेख का भार था, वे इसकी जड़ें खोद रहे थे। एक अजब हलचल और भीड़-भाड़ इस उपन्यास में हमें मिलती है। फ्रांस का संपूर्ण दीमक खाया जीवन इस उपन्यास को पढ़ते-पढ़ते हमारी आंखों के सामने गुज़रता है।

वासिली ग्रौसमैन ने अपने उपन्यास "अमर जन" (दि पिपुल इम्मोरटल) में दिखाया कि जनता की आत्मा अविजित है और वह हार नहीं सकती।

टिकानौफ़ ने लैनिनग्राद की रक्षा से संबंधित अनेक स्केच और कहानियां लिखी हैं, जो अलग से संगृहीत भी हैं।

पिछले वर्षों में अनेक फ़ासिस्ट-विरोधी उपन्यास निकले हैं। इनमें 'पैरिस का पतन" लीन-यू-तांग का "पेकिंग का एक पल" (माउन्ट इन पेकिंग) और "आंधी में पत्ती" (लीफ़ इन दि स्टार्म) और स्टाइनबेक का "चांद अस्त हो गया" (दि मून इज़ डाउन) प्रसिद्ध हैं। किन्तु वांदा वासिल्यूस्का का उपन्यास "इन्द्रधनुष" (दि रेनबो) इन सभी से अधिक मर्म-स्पर्शी और हृदय-विदारक है। सोवियत ग्राम में जमे एक जर्मन दल का यह प्रभावशाली और सच्चा वर्णन है। छोटी-छोटी घटनाएं एक-के-बाद एक जुड़कर रोमांचकारी बन जाती हैं। किसी संक्रामक रोग के समान मारक शत्रु, भूखे बच्चे, दारुण साहस, मृत्यु की ठंडी छाया, अन्त में मुक्ति। समस्त सोवियत का शत्रु को मिटा देने का प्रण और अन्त में विजय इस उपन्यास में वर्णित हैं। उच्चतम कला का फल यह सोवियत उपन्यास है। घने, काले बादलों में 'इन्द्रधनुष' के समान ही यह चमक भी उठा है।

इस प्रकार नई पीढ़ी के सोवियत कलाकार अपने देश की रक्षा और उन्नति में प्रयत्नशील हैं। उनकी कला मानव की मुक्ति और आगे बढ़ने का साधन बनी है।

अपने लगभग एक सौ वर्ष के जीवन में रूसी उपन्यास अनेक उतार-चढ़ाव देख चुका है किन्तु उसकी परम्परा यथार्थवादी और प्रगतिशील रही है। प्रतिगामी शक्तियों का अस्त्र रूसी उपन्यास न बना। उसके इस एक शताब्दी के जीवन में अनेक परिवर्त्तन आए : गोगल का प्रतीकवाद और व्यंग ; तुर्गनेफ़ की शालीनता ; डास्टौएफ्सकी की उन्मत्त कल्पना ; टाल्सटाय का विराट जीवन-दर्शन ; गोर्की का उद्दाम व्यक्तित्व और क्रान्तिकारी प्रयास ; शौलोखौफ़ का डॉन-ग्रामों का यथार्थवादी चित्रण ; सामाजिक शक्तियों का साथ और देश के संकट में शस्त्र-संचालन। अपनी इस महान् विरासत को यत्नपूर्वक सम्हाल कर आज सोवियत के कलाकार आगे बढ़ रहे हैं।

पुस्तक-परिचय

[कागज़-नियंत्रण के सरकारी आदेश ने हमें बाध्य किया है कि हम पुस्तकों की आलोचना संक्षेप में करें। यह अत्यन्त सन्तोष की बात है कि कागज़ के देशव्यापी अभाव ने हमारे साहित्यिकों और प्रकाशकों को निरुत्साह नहीं किया है और पुस्तकें बराबर निकलती जा रही हैं। कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तकें इस संकटकाल में प्रकाशित हुई हैं। श्री राहुलजी का नया ग्रंथ 'दर्शन-दिग्दर्शन' और श्री सम्पूर्णानंदजी का 'चिद्विलास' बहुत गंभीर और विचारोत्तेजक कृतियां हैं। अगले अंक में इन पुस्तकों का परिचय कुछ विस्तृत-रूप में देने का विचार है। यहां प्राप्त पुस्तकों में से कुछ चुनी हुई पुस्तकों की चर्चा की जा रही है।

—सं० वि० भा० प०]

वैदिक कहानियाँ—लेखक, पं० बलदेव उपाध्याय एम्. ए, साहित्याचार्य ; प्रोफेसर, संस्कृत-पाली विभाग, काशी विश्वविद्यालय ; प्रकाशक : शारदामंदिर, बनारस।

उपाध्यायजी वैदिक साहित्य के प्रामाणिक विद्वान् हैं। उन्होंने संहिता, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों से इन ग्यारह कहानियों का संग्रह किया है। घटनाक्रम सब मूल ग्रंथों का ही है, केवल उन्हें परिष्कृत रूप में सजाकर आधुनिक पाठकों के लिये उपभोग्य बनाने का कार्य लेखक ने किया है। वैदिक कहानियों में एक अपना सौन्दर्य है। उनके वातावरण और रस को मूल रूप में सुरक्षित रखने में विद्वान् लेखक को अच्छी सफलता मिली है। भूमिका में मूल ग्रंथों का उल्लेख करके लेखक ने इन कहानियों की उपयोगिता और भी बढ़ा दी है। वेदकालीन संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिये ये कहानियां बहुत उपयोगी हैं। हिंदी में अपने ढंग का यह प्रथम और उत्तम प्रयास है।

—ह० द्वि०

चारुमित्रा—लेखक, डा० रामकुमार वर्मा ; प्रकाशक : साधना-सदन, प्रयाग ; पृष्ठ संख्या : २२० ; वर्त्तमान मूल्य : २) ; १९४२।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी के सुपरिचित एकांकी-नाटककार डा० वर्मा के चार परवर्ती एकांकी नाटकों का संकलन है। एकांकी नाटक की कहानी हमारे साहित्य के इतिहास में मिलती है किंतु इस रचना-शैली ने हाल में पश्चिम से नई प्रेरणा पाई है। विलायत में "डिनर" के पूर्व की लंबी घड़ियों को भरने के ख्याल से एकांकी नाटक जनमा, किंतु आज पूरब और पच्छिम सर्वत्र उसने अपना स्वतंत्र स्थान बना लिया है। प्रस्तुत संग्रह के सभी नाटक वर्मा जी की उत्तरोत्तर विकासशील प्रौढ़ता और प्रतिभा के परिचायक हैं। कदाचित् थोड़े-से प्रयत्न से वे और भी एकमुखी और सहज हो सकते थे। पश्चिम का एकांकी नाटक आज यथार्थ से मुंह मोड़ता नज़र आ रहा है। 'फैंटेसी' के लिये गुंजाइश बढ़ती जा रही है। "उत्सर्ग" और "अंधकार" में इसकी सूचना मिलती है। हिंदी का एकांकी नाटक आज रंगमंच को लुप्त होने से बचाए हुए है : प्रस्तुत संग्रह हमें और भी आशान्वित करता है। भूमिका श्री रामनाथ लाल 'सुमन' ने लिखी है। नाटक स्वयं धुंधले नहीं, पर्याप्त सुस्पष्ट हैं ; किंतु भूमिका में विचार और विश्लेषण को रूपक के आवरण से बुरी तरह अवगुंठित किया गया है। न जाने ऐसी पुस्तक के लिये ऐसी भूमिका क्यों आवश्यक समझी गई।

—मौ० बाजपेयी

विश्व-संघ की ओर—लेखक, श्री सुन्दरलाल और श्री भगवानदास केला ; प्रकाशक : भारतीय ग्रंथमाला, दारागंज, प्रयाग ; मूल्य २॥) ; पृ० सं० ३१० ; १९४४।

यह पुस्तक मनुष्य के सामाजिक और राजनैतिक विकास का सिंहावलोकन करती हुई क्रमशः मनुष्य के उस स्वप्न की ओर इंगित करती है जिसे वह युगों से साध के साथ देखता आया है और भविष्य में जिसको वह साकार देखना चाहता है। उसकी आज तक की प्रगति, पथ के रोड़े और महीयान गंतव्यस्थल का स्वरूप आदि विषय बड़ी सरल भाषा तथा शैली में निरूपित हुए हैं। मानव के मंगल की कामना करनेवाला प्रत्येक मनुष्य यही चाहेगा कि यह सुंदर कल्पना सार्थक हो। शंका रह जाती है कि असत् की पंकिल और स्वार्थ-क्लिष्ट जीवनप्रणाली से मनुष्य की अधोमुखी प्रकृति को सत् की ओर प्रेरित कैसे किया जाय ? हम आशा करते हैं कि यशस्वी लेखक इस प्राथमिक रूपरेखा के बाद अपने किसी गंभीर और सुचिंतित ग्रंथ में इस बुनियादी प्रश्न पर भी प्रकाश डालेंगे।

—मो० वाजपेयी

जन-प्रकाशन गृह, राजभवन, सैण्डहर्स्ट रोड, बम्बई ४ के प्रकाशन

इन पुस्तकों में अधिकांश अनुवाद ही हैं। मार्क्सवाद और रूस संबंधी ये अनुवादित पुस्तकें रूस के लब्धप्रतिष्ठ और विचारशील लेखकों की लिखी हुई हैं जिनसे हम मार्क्सवाद के मौलिक सिद्धान्तों तथा आज के रूस की भीतरी समस्याओं से अवगत हो सकते हैं। स्तालिन लिखित 'लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त' 'द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद' तथा 'जातियों का प्रश्न और मार्क्सवाद' विशेष महत्वपूर्ण हैं। लेनिन एक महान् नेता ही नहीं बल्कि एक बहुत बड़ा विचारक भी था। मार्क्स और एंगेल्स की मृत्यु के बाद सेकंड इन्टरनेशनल के अवसरवादियों तथा मार्क्सवाद को रूढ़ रूप में ग्रहण करनेवाले तथाकथित क्रान्तिकारियों का लेनिन ने केवल प्रत्याख्यान ही नहीं किया बल्कि उसने नयी परिस्थितियों का विश्लेषण और विशिष्ट बातों की व्याख्या करके मार्क्सवाद का विकास भी किया। दूसरी पुस्तक मार्क्सवाद के दार्शनिक आधार का स्पष्टीकरण करती है। स्तालिन के द्वारा इन दोनों पुस्तकों के प्रणयन इनकी प्रामाणिक व्याख्या के लिये यथेष्ट माना जाना चाहिए। तीसरी पुस्तक का महत्त्व आज की परिस्थिति में हम भारतवासियों के लिये बहुत अधिक है। इन पुस्तकों के अलावे 'सोवियत भूमि की स्वतंत्र जातियाँ', 'समाजवादी रूस को स्त्रियाँ', और 'लाल सेना', जैसा कि इन पुस्तकों के नाम से ही प्रकट हो जाता है, सोवियत रूस की भीतरी व्यवस्था का परिचय देती हैं। फ़ासिज्म आज की दुनियां के लिये अपरिचित नहीं रह गया है। फिर भी इसके तथ्यों और उद्देश्यों से कम ही लोग सुपरिचित हैं। उनलोगों के लिये रजनी पामदत्त की लिखी हुई पुस्तक 'फ़ासिज्म क्या है ?' अत्यंत ही उपयोगी सिद्ध होगी। ये सभी पुस्तकें संग्रहणीय हैं। जन-प्रकाशन-गृहने रूस और मार्क्सवाद संबंधी पुस्तकों के प्रकाशन के साथ ही एक पार्टी विशेष की नीति को दृष्टि में रखते हुए देश की समस्याओं पर भी कुछ किताबें प्रकाशित की हैं। हिन्दु-मुस्लिम समस्या आज उलझनदार और पेचीदी हो गई है। देशके श्रेष्ठ मस्तिष्क इसका हल निकालने में संलग्न हैं। 'मुस्लिम लीग और आज़ादी,' 'पंजाब में लीग-यूनियनिस्ट झगड़े का रहस्य' इत्यादि पुस्तकें इस समस्या के कुछ पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं, यद्यपि इनके लेखक दलगत संस्कार से ऊपर नहीं उठ सके हैं। इस विषय पर विचार करने के लिये एक वैज्ञानिक और पक्षपात-रहित दृष्टि का रखना अपेक्षित है।

—रामपूजन तिवारी